# स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में प्रयोगधर्मिता के विविध आयाम

# (SWATANTRYOTTAR HINDI NATAKOM MEIN PRAYOGDHARMITA KE VIVIDH AAYAM)

*Thesis submitted to*

**COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY**

*for the degree of*

**DOCTOR OF PHILOSOPHY**

*by*

**SREEJA.A.S.**

*Under the guidance of*

**Prof. (Dr.) R. SASIDHARAN**

Supervising Teacher

**DEPARTMENT OF HINDI**

**COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY**

**November 2014**

**COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY**

**DEPARTMENT OF HINDI**

Dr. R.Sasidharan Ph:0484-2575954

Professor 29/11/2014

# CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"Swatantryottar Hindi Natakom Mein Prayogdharmita Ke Vividh Aayam"** is a bonafide record of research work carried out by **Smt. Sreeja A.S.** under my guidance for Ph.D degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university.

**(Prof.)Dr.R. Sasidharan**

Supervising Teacher

# DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled **"Swatantryottar Hindi Natakom Mein Prayogdharmita Ke Vividh Aayam"**is the outcome of the original work done by me and the work did not form part of any dissertation submitted for the award of any degree, diploma, associate ship or any other title or recognition from any University/Institution.

**Sreeja A.S.**

Research scholar

Dept. of Hindi

Cochin University of Science and Technology

Cochin-682022

Place: Cochin-22

Date :29/11/2014

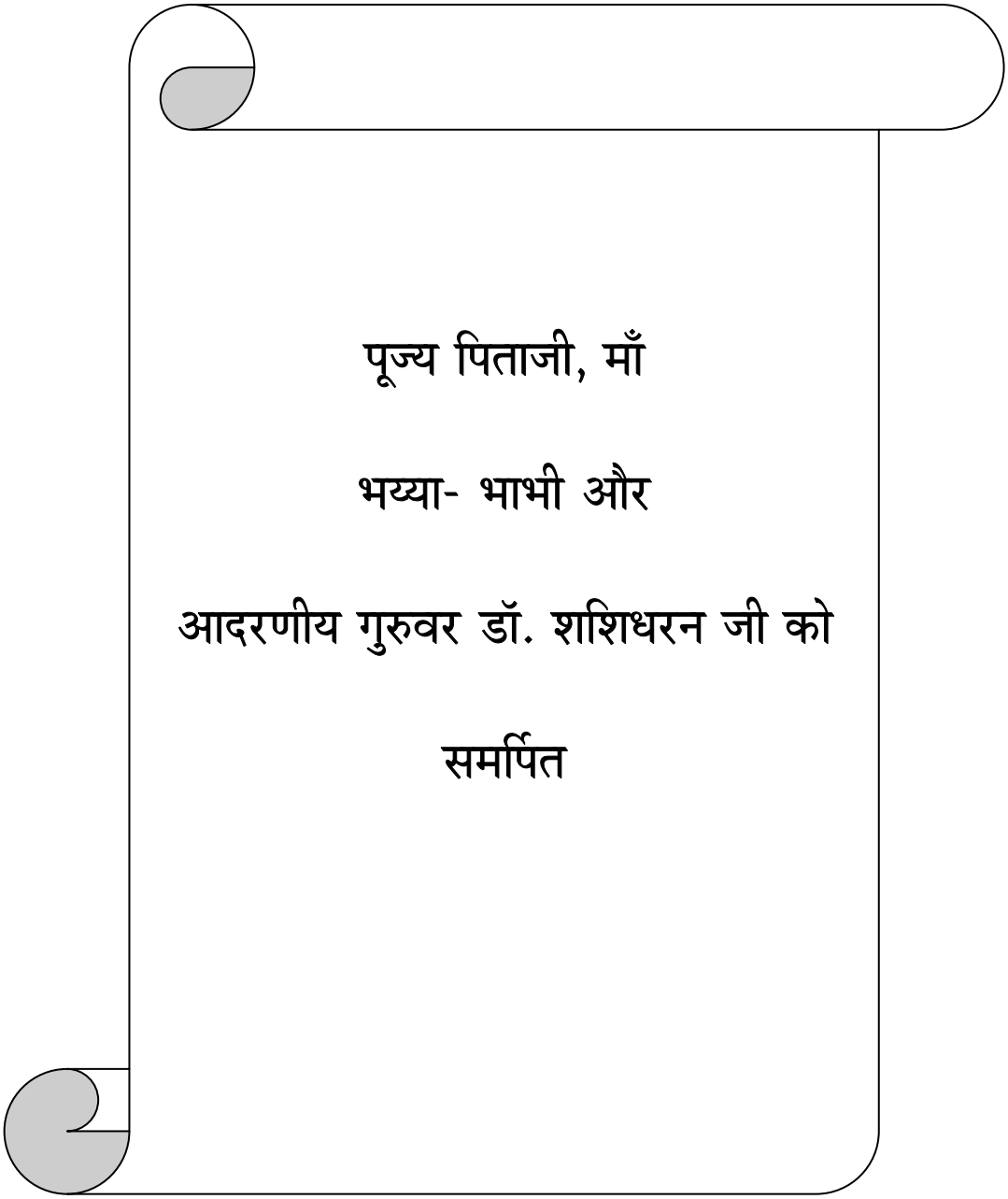

पूज्य पिताजी, माँ

भय्या- भाभी और

आदरणीय गुरुवर डॉ. शशिधरन जी को

समर्पित

# पूर्वरंग

प्रयोग सृजनात्मक कला या साहित्य का मौलिक धर्म है। प्रत्येक कला-सर्जना के जन्म के साथ ही प्रयोग की प्रवृत्ति भी जन्म लेती है। जब भी कलाकार कुछ नया सृजन करता है वह उसका प्रयोग है। हर युग की चेतना और हर युग का दर्शन अपनी अभिव्यक्ति के लिए नए-नए आयामों की खोज करता ही है। अतः जब-जब नयी चेतना का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब साहित्य में प्रयोग की आवश्यकता होती ही है। सच तो यह है कि प्रयोग किसी काल विशेष के रचनाकारों की बपौती नहीं है बल्कि वह तो हर काल में हुआ करता है। नवीन बोधों और नवीन संदर्भों के जुड़ने से साहित्य में जो भी नयी धारा प्रवाहित होती है अथवा जो भी नये मोड़ परिलक्षित होते हैं, उनका मूलाधार प्रयोग ही होता है। साहित्य की रुकी हुई धारा को आगे बढ़ाने में सार्थक प्रयोग सहायक सिद्ध होते हैं। अतएव प्रयोगधर्मिता न केवल रचनाकार की क्षमता और प्रतिभा का प्रमाण है, बल्कि वह किसी भी साहित्यिक विधा का नितांत अनिवार्य आयाम भी है। नाटक के संदर्भ में तो प्रयोगधर्मिता और भी अधिक विचारणीय तथा प्रासंगिक है क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में दृश्यत्व प्राप्ति की उपलब्धि से नाटक में प्रयोग की नयी-नयी संभावनाएँ सदैव मौजूद रहती हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो पूर्ण कलात्मक प्रौढ़ता के साथ हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास स्वातंत्र्योत्तर युग में ही हो सका था। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने दर्शकों को रंगमंचीयता की ओर उन्मुख करने के लिए अनूठे एवं आकर्षक प्रयोग कर प्रत्येक रचना में नवीनता की सृष्टि की। इन नाट्यप्रयोगों के द्वारा स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक और रंगमंच की उपलब्धियों पर विस्तृत और व्यवस्थित ढ़ग से अध्ययन करने का एक छोटा सा प्रयास मैं ने अपने शोध-प्रबंध **'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता के विविध आयाम'** शीर्षक के माध्यम से किया है। नाटक और रंगमंच के संदर्भ में स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की प्रयोगात्मक उपलब्धियों का यह अध्ययन हमारी रंगपरंपरा के साथ-साथ रंगमंच की नयी प्रवृत्तियों और संभावनाओं को भी उजागर कर सकेगा-यही मेरा विश्वास है।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस शोध प्रबंध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है।

| | | |
|---|---|---|
| **पहला अध्याय** | : | **नाटक और प्रयोगधर्मिता** |
| **दूसरा अध्याय** | : | **रंगपरंपरा और हिंदी नाट्य प्रयोग** |
| **तीसरा अध्याय** | : | **स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य नाटकों और मिथकीय नाटकों में प्रयोगधर्मिता** |
| **चौथा अध्याय** | : | **अस्तित्ववादी तथा असंगत नाट्यशैली के हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता** |
| **पाँचवाँ अध्याय** | : | **लोकनाट्य से प्रेरित नाटकों और अधुनातन नाट्य प्रवृत्तियों में प्रयोग** |

**उपसंहार।**

प्रथम अध्याय में प्रयोग शब्द के अर्थ एवं स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए साहित्य में प्रयोग, प्रयोग और प्रयोगधर्मिता, प्रयोग की अनिवार्य आवश्यकता, प्रयोग बनाम परंपरा , लेखक की मौलिकता और प्रयोग आदि कई विषयों पर चर्चा करते हुए नाटक में प्रयोगधर्मिता के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अध्याय में हिन्दी नाट्य के लिए प्रयोग की आधारभूमि प्रदान करनेवाली मंचीय परंपराओं को दो मुख्य शीर्षकों के अंतर्गत समेटा गया है- 1.भारतीय नाट्यपरंपरा 2.पाश्चात्य नाट्य परंपरा। इन परंपराओं का अध्ययन करते हुए स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक और रंगमंच का कथ्यगत, शिल्पगत और रंगमंचीय प्रयोग के आधार पर विचार-विश्लेषण किया गया है।

तीसरे अध्याय में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य नाटकों और मिथकीय नाटकों की प्रयोगधर्मिता का विश्लेषण चार-चार नाटकों के आधार पर किया है। काव्य नाटक के अंतर्गत उसकी परिभाषा एवं स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य नाटक में प्रयोग की चर्चा की है। इसी अध्याय में मिथकीय नाटकों का भी अध्ययन प्रयोग के संदर्भ में किया गया है।

चौथे अध्याय में चार अस्तित्ववादी नाटक तथा चार असंगत नाटकों को प्रयोग की दृष्टि से विश्लेषित किया गया है। इसके अंतर्गत अस्तित्ववाद का उद्‌भव और विकास, हिन्दी नाटक और अस्तित्ववाद आदि की चर्चा करते हुए चार नाटकों का विश्लेषण कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय धरातल पर प्रस्तुत किया है। असंगत नाटक के संदर्भ में अस्तित्ववाद से असंगत तक की यात्रा, असंगत नाटक : व्याख्या और विशेषता आदि की चर्चा करते हुए हिन्दी के असंगत नाटकों की प्रयोगधर्मिता पर प्रकाश डाला गया है।

पाँचवें अध्याय में लोक शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या, लोक नाट्य की परिभाषा, लोकनाट्य उद्‌भव और विकास, लोकनाट्य के विभिन्न रूप, लोक नाटक तथा शास्त्रीय नाटक : अंतर आदि पर विचार करते हुए लोक नाट्य शैली से प्रेरित हिन्दी नाटकों की प्रयोगधर्मिता का आकलन कथ्य, नाट्य शिल्प और रंगशिल्प के स्तर पर किया है। इसी अध्याय में अधुनातन नाट्य प्रवृत्तियों जैसे कहानी, उपन्यास, कविता का मंचावतार, एकल नाट्य, नुक्कड नाटक आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

अंत में इस शोधकार्य से निकले निष्कर्ष को 'उपसंहार' के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यह सच है कि प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से नाटक की वस्तु तथा उसके शिल्प को अलगा कर नहीं देखा जा सकता, बल्कि कथ्यगत प्रयोग शिल्पगत प्रयोगों से जुड़कर ही निष्पन्न होते हैं। शोध की अपनी सीमा होती है। अतः मैंने इस शोध प्रबन्ध में अध्ययन की सुविधा को ध्यान में रखकर प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से अलग-अलग धाराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले चार-चार उल्लेखनीय नाटकों का ही कथ्यगत, नाट्यशिल्पगत तथा रंगशिल्पगत अभिनव प्रयोगों की दृष्टि से अध्ययन किया है।

यह शोध कार्य कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय के तथा हिन्दी विभाग के पूर्व अध्यक्ष मेरे प्रिय गुरुवर प्रोफेसर डॉ.आर शशिधरन के मार्ग दर्शन में संपन्न हुआ है। उनके बहुमूल्य सुझावों तथा प्रेरणावर्द्धक निर्देशन से ही यह अध्ययन पूर्ण हो पाया है। उनके स्नेहपूर्ण निर्देशन तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के लिए मैं शाब्दिक कृतज्ञता व्यक्त करके मुक्त होना नहीं चाहती। मेरी प्रार्थना यही है कि उनका आशीर्वाद हमेशा मेरे साथ रहे।

डॉक्टरल कम्मिटि के विषय विशेषज्ञ हिन्दी विभाग एवं मानवी संकाय की पूर्व अध्यक्षा और मेरी प्रिय अध्यापिका डॉ.शमीम अलियार के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनके आशीर्वाद और प्रोत्साहन की वजह से यह शोध कार्य संपन्न हुआ है।

कोच्चिन विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के पूर्व अध्यक्ष तथा संप्रति मानवी संकाय के अध्यक्ष के रूप में कार्यरत प्रो.डॉ. मोहनन जी के प्रति भी मैं विशेष आभारीहूँ जिन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया और सही मार्ग दिखाया।

हिन्दी विभाग की अध्यक्षा डॉ देवकी जी, मेरी प्रिय अध्यापिकाएँ -डॉ वनजा जी, डॉ अजिताजी, और सभी गुरुजनों के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने कदम-कदम पर मेरा साथ दिया और अपने परामर्शों से मुझे उपकृत किया।

हिन्दी विभाग के पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री अषरफजी, पूर्व अध्यक्ष श्रीमती दीपिकाजी और श्री पद्‌मकुमार जी तथा पुस्तकालय के सहयोगी के रूप में वर्षों से कार्यरत श्री बालकृष्णन जी तथा विश्वविद्यालय के सेन्ट्रल लाईब्रेरी के कर्मचारियों के प्रति

भी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ । हिन्दी विभाग के कार्यालय के सभी कर्मचारियों के प्रति भी आभारी हूँ ।

मुप्पत्तडम सरकारी उच्च माध्यमिक स्कूल, आलुवा जहाँ मैं अध्यापिका के रूप में काम कर रही हूँ वहाँ के अध्यापकों और अनध्यापकों के प्रति तहे दिल से शुक्रगुज़ार हूँ जिनके सहयोग, प्यार और प्रोत्साहन की वजह से मैं यह कार्य कर पायी हूँ।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली; जवहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली; दिल्ली विश्वविद्यालय, केन्द्रीय साहित्य अकादमी, दिल्ली, केरल विश्वविद्यालय-तिरुवनंतपुरम, केरल हिन्दी प्रचारसभा-तिरुवनंतपुरं, एरणाकुलम और तिरुवनंतपुरम के पब्लिक लाइब्रेरी आदि संस्थाओं के पुस्तकालय कर्मचारियों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने शोध संबंधी सामग्री देकर मेरी मदद की।

वैसे तो मित्रों के बीच औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है। फिर भी इस शोध कार्य के दौरान मेरे सभी मित्रों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरी सहायता की है। हिन्दी विभाग के पूर्व शोध छात्र- टीना, अनिता, प्रीता, प्रीती, षीना, श्रीकला, टीना टोमी, मेरली पुन्नूस, सीमा चन्द्रन, राजन, राजगोपाल,श्रीजाजी, विजी, दीप्ति,सुजिता, रम्या, प्रदीप, गिरीष, दीपक, संजीव तथा अभी शोध कर रहे मेरे दोस्त- लक्ष्मिप्रिया, प्रदीप, लेखा, गिरीष, अनीष, मनीष, महेष, तनूजा, सन्ध्या आदि सभी के प्रति मैं अपना प्यार प्रकट करती हूँ।

केरल विश्वविद्यालय और कालिकट विश्वविद्यालय के पूर्व शोध छात्र-धन्या, षिम्ना, जोतिष, डॉ.आनंद सबके प्रति मैं शुक्रगुज़ार हूँ जिन्होंने शोध संबंधी कई सामग्रियाँ देकर मेरी मदद की।

मैं अपने परिवारवालों -मेरे माता-पिता, एवं भैया-भाभी के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके प्यार, सहयोग, प्रार्थना एवं प्रेरणा की वजह से यह शोध कार्य संपन्न हुआ है।

सर्वोपरि मैं ईश्वर के प्रति नतमस्तक हूँ जिनकी कृपा से यह शोध कार्य पूरा हुआ है।

एकबार फिर सबके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ । इसमें आई खामियों के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और अंत में मैं उन सभी विद्वज्जन के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ जिनके महान ग्रंथों से मैंने प्रेरणा ली है और जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मेरे शोध कार्य को आगे बढ़ाने में मददगार सिद्ध हुए हैं।

सविनय

**श्रीजा.ए.एस**

# अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पूर्वरंग i-iv

अध्याय 1 - नाटक और प्रयोगधर्मिता 1-55

1.0 प्रस्तावना, 1.1 प्रयोग : अर्थ एवं स्वरूप, 1.2 साहित्य में प्रयोग, 1.3 प्रयोग और प्रयोगधर्मिता, 1.4 प्रयोग : एक अनिवार्य आवश्यकता, 1.5 प्रयोग बनाम परंपरा, 1.6 लेखक की मौलिकता बनाम प्रयोग, 1.7 नाटक में प्रयोगधर्मिता के विभिन्न आयाम, 1.8 निष्कर्ष।

अध्याय 2 रंगपरंपरा और हिन्दी नाट्य प्रयोग 57-145

2.0 प्रस्तावना, 2.1 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य प्रयोग की पृष्ठभूमि, 2.2 पाश्चात्य नाट्य परंपरा में प्रयोग, 2.2.1 यूनानी रंगमंच, 2.2.2 रोमन रंगमंच, 2.2.3 मध्ययुगीन रंगमंच, 2.2.4 पुनर्जागरणकालीन रंगमंच, 2.2.5 ऐलिजाबेथन रंगमंच, 2.2.6 फ्रांस की नाट्यकला, 2.2.7 रेस्टोरेशन रंगमंच, 2.2.8 अठारहवीं शताब्दी का रंगमंच, 2.2.9 उन्नीसवीं शताब्दी का रंगमंच, 2.2.10 बीसवीं शताब्दी का रंगमंच, 2.3 भारतीय नाट्य परंपरा में प्रयोग, 2.3.1 संस्कृत रंगमंच और प्रयोग, 2.3.2 प्राकृत - अपभ्रंश तथा ब्रज भाषा की नाट्य परंपरा, 2.3.3 प्रादेशिक भाषाओं की नाट्य परंपरा में प्रयोग, 2.3.3.1 लोक नाट्य परंपरा , 2.3.3.2 हिंदीतर नाट्य परंपरा 2.3.3.3 अव्यावसायिक एवं व्यावसायिक रंगमंच 2.3.3.4 हिंदी नाट्यपरंपरा 2.4 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता के विविध आयाम, 2.4.1 कथ्यगत प्रयोग, 2.4.2 शिल्पगत प्रयोग, 2.4.3 रंगमंचीय प्रयोग, 2.5 निष्कर्ष।

अध्याय 3 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य नाटकों और मिथकीय नाटकों में प्रयोगधर्मिता 147-204

3.0 प्रस्तावना, 3.1 काव्य नाटक : परिभाषा एवं स्वरूप, 3.2 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य नाटकों में प्रयोग, 3.3 धर्मवीर भारती : अंधायुग, 3.4 डॉ.विनय : एक प्रश्नमृत्यु, 3.5 प्रभातकुमार भट्टाचार्य :काठ महल, 3.6 दिविक रमेश : खण्ड-खण्ड अग्नि, 3.7 मिथकीय नाटकों की पृष्ठभूमि, 3.8 मिथकः स्वरूप एवं विश्लेषण, 3.9 मिथक और

नाटक का अंतः संबध, 3.10 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी के मिथकीय नाटकों में प्रयोग, 3.11 जगदीशचंद्र माथुर : पहला राजा, 3.12 शंकरशेष : एक और द्रोणाचार्य, 3.13 दयाप्रकाश सिन्हा : कथा एक कंस की, 3.14 सुरेंद्रवर्मा : सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, 3.15 निष्कर्ष।

**अध्याय 4 अस्तित्ववादी तथा असंगत नाट्य शैली के हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता** **205-254**

4.0 प्रस्तावना, 4.1 अस्तित्ववाद : स्वरूप और विकास, 4.2 अस्तित्ववाद और हिंदी नाट्य प्रयोग, 4.3 मोहन राकेश : आधे अधूरे, 4.4. मोहन राकेश : लहरों के राजहंस, 4.5 सुरेंद्रवर्मा : द्रौपदी, 4.6 हमीदुल्ला : समय संदर्भ, 4.7 अस्तित्ववाद से एब्सर्ड तक, 4.8 असंगत : अर्थ और स्वरूप, 4.9 असंगत नाटक : व्याख्या और विशेषताएँ, 4.10 हिन्दी के असंगत नाटक : उद्‌भव और विकास, 4.11 हिन्दी के असंगत नाटकों में प्रयोग, 4.12 विपिनकुमार अग्रवाल : लोटन, 4.13 मुद्राराक्षस : तेंदुआ, 4.14 लक्ष्मीकांत वर्मा : रोशनी एक नदी है, 4.15 सत्यव्रत सिन्हा : अमृतपुत्र, 4.16 निष्कर्ष।

**अध्याय 5 लोकनाट्य से प्रेरित नाटकों और अधुनातन नाट्य प्रवृत्तियों में प्रयोग** **255-313**

5.0 प्रस्तावना, 5.1 लोक शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या, 5.2 लोक साहित्य के भेद, 5.3 लोकनाट्य का महत्व, 5.4 लोक नाट्य की परिभाषा, 5.5 लोकनाट्य : उत्भव और विकास, 5.6 भारत के प्रसिद्ध लोकनाट्य, 5.7 लोकनाट्य की विशेषताएँ, 5.8 लोकनाटक तथा शास्त्रीय नाटक : अंतर, 5.9 हबीब तनवीर : चरनदास चोर, 5.10 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी, 5.11 मणि मधुकर : दुलारी बाई, 5.12 भीष्म साहनी : हानूश, 5.13 अद्यतन नाट्य प्रयोग, 5.13.1 कहानी का रंगमंच, 5.13.2 उपन्यास का रंगमंच, 5.13.3 कविता का रंगमंच, 5.14 एकल नाट्य, 5.15 नुक्कड़ नाटक, 5.16 निष्कर्ष।

**उपसंहार** **315-319**

**संदर्भ ग्रंथ-सूची** **321-330**

अध्याय एक

# नाटक और प्रयोगधर्मिता

## 1.0 प्रस्तावना

मनुष्य-जीवन और उसके परिवेश में हो रहे द्रुतगामी परिवर्तनों के साथ ही साहित्यिक विधाओं में भी आमूलाग्र बदलाव की स्थितियाँ आती गई हैं। किंतु साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में नाटक मानव के भावों, अनुभूतियों एवं जीवन-अवस्थाओं की अनुकृति होने के साथ-साथ प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी है। इसलिए परिवर्तित मानवजीवन और उसकी विचारधाराओं को पकड़ना, उसे इंगित करना नाटक की मूल चिंता तथा मूल सरोकार होता है। युग परिवर्तन के साथ नाटक का उद्देश्य, साध्य तथा अभिव्यक्ति के वे माध्यम जो नाटक को चाक्षुष, श्रव्य या पठनीय बनाते हैं , जो उसे रूपाकार देते हैं, जो मानव मन के भीतर उसके उतरने के लिए सेतु का काम करते हैं, वे सभी बदलते रहते हैं। नाटक के सारे तत्व यानी कथावस्तु, पात्र, भाषा-शैली और संवाद, दृश्य विधान तथा मंच-व्यवस्था, शैली और शिल्प सबको इसी के अनुरूप बदलना पड़ता है। यह त्वरित बदलाव, इनकी संप्रेषणीयता का प्रश्न, इन परिवर्तनों को विशिष्ट सृजन-पद्धति द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करने की समस्याएँ या लेखक तथा निर्देशक की सबसे अलग दिखने की चाह आदि नाट्य-रचना में प्रयोगधर्मिता को जन्म देते हैं। लेकिन नाटक और प्रयोगधर्मिता पर विचार करने से पहले 'प्रयोग' शब्द के अर्थ और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

## 1.1 प्रयोगः अर्थ एवं स्वरूप

प्रयोगधर्मिता के मूल में 'प्रयोग' शब्द है। किसी नवीन कार्य के प्रारंभ को अर्थात् जब किसी न किए हुए कार्य को प्रथम बार व्यवहार में लाया जाता है तो उसे प्रयोग शब्द से अभिहित किया जाता है । वस्तुतः यह इतना व्यापक शब्द है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से इसका संबंध है। धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान, कला एवं साहित्य जैसे कई क्षेत्रों में प्रयोग का विश्लेषण विविध स्तरों पर किया जाता है । इसलिए प्रयोग जैसे बहुप्रचलित शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों को देखने के पश्चात् ही यह निश्चित किया जा सकता है कि प्रयोग का स्पष्ट स्वरूप क्या है।

'प्रयोग' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ परस्पर जोड़ना, मिलाना या संबंध स्थापित करना है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'योग' शब्द में 'प्र' उपसर्ग जोड़ने से हुई है। योग शब्द 'युज्' धातु में 'घञ्' उणादि तद्धित प्रत्यय लगाने से 'उ''ओ' में तथा 'ज''ग' में

परिवर्तित होने के कारण व्युत्पन्न हुआ है।[1] संस्कृत में इस 'प्रयोग' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं । प्रयोग शब्द अपनी अर्थ-व्याप्ति में 'उदाहरण' शब्द का पर्याय है । संस्कृत वाङ्मय में इसका प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। व्याकरण के अनुसार सिद्ध हुए रूपों को वहाँ प्रयोग कहा गया है जो सूत्रों के नियमों व लक्षणों के उदाहरण हैं। साध्य दशा में इसी 'प्रयोग' का नाम 'प्रक्रिया' है।[2]यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि रूप या उदाहरण पहले से ही सिद्ध होता है, परंतु जब उसे सैद्धांतिक प्रक्रिया (साध्यावस्था) से समझने का प्रयत्न किया जाता है तभी उसका रूप सिद्ध रूप प्रयोग कहलाता है। वास्तव में प्रयोग शब्द को अपनी सैद्धांतिक प्रक्रिया से अलग नहीं किया जा सकता और चूँकि उसके सिद्धांत को किसी प्रकिया से समझने का प्रयत्न किया जाता है इसलिए प्रयोग शब्द अपने स्थूल अर्थ में प्रयत्न भी कहलाता है।

वैदिक साहित्य में भी 'प्रयोग' शब्द का उल्लेख मिलता है। प्रयोग याजुष संहिताओं में एक ऋषि का नाम है। यह अनुष्ठान, योजन, प्रयोजन, हेतु, कारण, तांत्रिक उपचार विधि, नियम, कार्य, क्रिया तथा नाटक में अभिनय आदि के अर्थ में भी आया है।[3] महाकवि कालिदास ने 'प्रयोग' का व्यवहार इसप्रकार किया है : 'तदत्रभवानिमं मां च शास्त्रे प्रयोगे च विमृशतु'।[4]

यहाँ प्रयोग का अभिप्राय किसी सिद्धांत के कार्य रूप में प्रदर्शन से है। मनु ने 'मनुस्मृति' में "प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च"[5] श्लोक के द्वारा वृद्धि के लिए ऋणदान के अर्थ में प्रयोग शब्द का उपयोग किय है। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[6] में भी प्रयोग का इसी अर्थ में व्यवहार हुआ है। 'पंचदशी' में "प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वञ्चान्यवारकम्"[7]आदि स्थानों पर प्रयोग का अर्थ 'निदर्शन' लिया है ।

---

[1]स्यार-राजा-राधाकांतदेव-बाहादुरेण विरचितः 'शब्दकल्पद्रुमः' - तृतीय भाग- प्र + युज् + भावकर्म्मादो यथायथं घञ् ,तृतीय.सं. 1961, पृ. 289

[2]भट्टोजिदीक्षित- सिद्धांत कौमुदी- सूत्र 11219 की व्याख्या- ह्रस्ववर्णस्य प्रयोगे(परिनिष्ठित सिद्ध रूपे) संवृतम्। प्रक्रियादशायां (साधनिकावस्थायाँ) तु विवृतमेव।

[3]सूर्यकांत-वैदिक कोश, पृ.319

[4]कालिदास की कृतियाँ(संपूर्ण)-मालविकाग्निमित्रं, प्रथम अंक, पृ. 198

[5]मनुस्मृति - टीकाकार - डॉ.रामचन्द्र वर्मा शास्त्री - दशम अध्याय, श्लोक 112, प्र.सं.2000, पृ.

[6]डॉ शाम शास्त्री (सं) - अर्थशास्त्र-कौटिल्य, 'प्रतिबन्धः प्रयोगो व्यवहारो वस्तार-कोशक्षय',प्र.सं.1924

[7]पंचदशी-छठा अध्याय, श्लोक 43

ज्ञानमंडल द्वारा प्रकाशित 'बृहत् हिंदी कोश' में प्रयोग शब्द के निम्नलिखित अर्थ दिये गये हैं —"किसी काम में लाना या लाया जाना, व्यवहार; इस्तेमाल; अनुष्ठान; (अस्त्रशस्त्र) चलाना या छोड़ना, ज्ञान को अमल में लाना या बरतना, अमल, प्रक्रिया शास्त्र का उलटा; नाटक का खेला जाना, अभिनय; मारण-मोहन आदि तांत्रिक आभिचार; वह ग्रंथ जिसमें यज्ञ संबंधी क्रियाओं की विधि बतायी गयी हो, पद्धति; व्याकरण में क्रियापद में होनेवाला वह विकार जो कर्ता के लिंग, वचन के अनुसार होने पर कर्तरि प्रयोग, कर्म के लिंग, वचन के अनुसार होने पर कर्मणि प्रयोग तथा दोनों से स्वतंत्र (सर्वथा पुल्लिंग एक वचन के अनुसार) होने पर भावे प्रयोग कहलाता है; योजना; साधन; पाठ; आरंभ; परिणाम; संबंध, भूत-प्रेत आदि के उच्चाटन के लिए किया जानेवाला मंत्रोच्चारण; सूद पर रुपया देना; उदाहरण, दृष्टांत; साम दाम आदि का अवलंबन; (एक्स्पेरिमेंट) किसी सिद्धांत की सत्यता प्रमाणित करने या किसी अज्ञात बात का पता लगाने, जाँच करने आदि की दृष्टि से की गयी प्रक्रिया या कार्य।"[1] वेब्स्टर्स शब्द कोश में 'प्रयोग' (Experiment) के अर्थों पर प्रकाश डालते हुए लिखा गया है-

(क) "एक प्रयास या एक विशेष निरीक्षण जो किसी संदिग्ध विषय को मान्य या अमान्य सिद्ध करने के लिए किया जाए।

(ख) एक कार्य या प्रयत्न जो किसी अज्ञात सिद्धांत, प्रभाव या परीक्षण की मौलिक उद्भावना या आविष्कार के लिए

(ग) किसी ज्ञात सत्य, क्रियात्मक परीक्षण या प्रमाण को उदाहरणादि द्वारा सम्मुख रखना।"[2]

[(1) A test or trial; a tentative procedure or policy adopted in uncretainty as to whether it will answer the desired purpose or bring about the desired result. (2) An act or operation carried out under conditions determined by an experimentor in orderto discover some unknown principle or effect. (3) The process or practise to test, establish or illustrate some suggested or known truth]

'प्रयोग' का लोकप्रचलित सामान्य अर्थ इस्तेमाल या व्यवहार है। इसके क्रियापरक अर्थ चार विभिन्न छायाओं वाले हैं। "प्रथमतः प्रयोग का अर्थ किसी तथ्य या काम को सिद्ध-प्रमाणित करने की क्रिया है। द्वितीयतः प्रयोग का अर्थ किसी काम या बात की

---

[1]कालिका प्रसाद (सं) - बृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् परिवर्धित संस्करण- 1992, पृ. 742

[2]Webster's third new international dictionary- (Volume 1)-p.800

सफलता-विफलता को जानने के लिए संशय से की जानेवाली क्रिया है । तृतीयतः प्रयोग का अर्थ कोई नयी बात ढूँढ़ निकालने के लिए की जानेवाली परीक्षणात्मक क्रिया है। चतुर्थतः इसप्रकार व्यवस्थित ढ़ंग से काम करने की विधि या क्रिया प्रयोग है।"[1][1) The action of trying anything or putting it to proof, a test, trial, (2) A tentative procedure, a method, system of things or course of action adopted in uncertainty whether it will answer the purpose. (3) An action or operation undertaken in order to discover something unknown, to test a hypothesis or establish or illustrate some known truth. (4) The process or practice of conducting such operation.]

प्रयोग का रंगमंचीय अर्थ रूपकादि का अभिनय, नृत्य, बाजीगरी, जादू, इन्द्रजाल आदि का प्रदर्शन है। 'मालविकाग्निमित्रं' की "देव! प्रयोगप्रधानं नाम नाट्यशास्त्रम्"[2] 'रत्नावली' की "नाटिका न प्रयोगतो दृष्टा"[3]'शाकुंतलम्' की "आपरितोषाद् विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्"[4] तथा 'रघुवंश' के "स प्रयोगनिपुणः प्रयोक्तृभिः सञ्जघर्ष सः मित्रसन्निधौ"[5] पंक्तियों से अभिनयपरक अर्थ स्पष्ट होते हैं ।

वैज्ञानिक पारिभाषिक कोश में प्रयोग की विवेचना इसतरह मिलती है – "साहित्यिक क्षेत्र में, साहित्यिक परंपराओं का निर्वाह किंतु गतिरोध उत्पन्न करनेवाली रूढ़ियों का परित्याग करते हुए नए-नए प्रयोगों द्वारा साहित्य- सर्जना करना ।"[6]'प्रयोग' के साहित्यिक अर्थ 'सम्प्रयोग'(experiment) और 'प्रचलन' (usage) हैं। यद्यपि अग्रेज़ी में 'सम्प्रयोग' और 'प्रचलन' की अर्थवत्ता साहित्यिक सीमा के बाहर तक व्याप्त है , फिर भी यहाँ इसके साहित्यिक अर्थ ही अभीष्ट हैं। साहित्यिक संदर्भ में 'सम्प्रयोग' का अर्थ व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह द्वारा परंपरा से भिन्न नये विषय, नये चरित्र, नये मूल्य, नये शिल्प, नयी भाषा आदि के लिए किया जानेवाला अभ्यास या व्यवहार है। नंददुलारे वाजपेयी ने भी लिखा है –" प्रयोग शब्द से प्रायः नये अभ्यास, नवीन प्रयास या नयी निर्माण चेष्टा का अर्थ लिया जाता है।"[7]

---

[1]The oxford English Dictionary (volume 3) - Reprinted 1969, page No.431

[2]कालिदास की कृतियाँ (संपूर्ण) - मालविकाग्निमित्रं, प्रथमांक - पृ. 200

[3]श्रीहर्ष - रत्नावली

[4]कालिदास - अभिज्ञान शाकुंतलम् - प्रथम अंक - द्वितीय श्लोक

[5]कालिदास की कृतियाँ (संपूर्ण) - रघुवंश - एकोनविंशः सर्ग (19 -सर्ग) - श्लोक - 36, पृ.12

[6]डॉ.बदरीनाथकपूर (सं)- वैज्ञानिक पारिभाषिक कोश -प्र. सं. 1965, पृ.145

[7]नंददुलारे वाजपेयी - आधुनिक साहित्य, प्र. सं. संवत् 2031, पृ. 69

इसप्रकार निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रयोग' शब्द का व्यवहार प्राचीन काल से धर्मग्रंथों तथा काव्य नाटकादि साहित्य में प्रचुरता से हुआ है। प्रयोग के अर्थों की इतनी व्यापकता, शब्द के सुदीर्घ इतिहास में उसके अनेक उत्थान-पतन एवं अर्थ संबंधी संकुचन-विकास की कहानी दर्शाती है। वस्तुतः प्रयोग का उद्देश्य है- सत्य का परीक्षण करना तथा उसके द्वारा प्राप्त सत्य के नए आयामों का अन्वेषण।

आधुनिक युग में सामान्य रूप से जिस प्रयोग शब्द का व्यवहार किया जाता है, वह अंग्रेज़ी के 'एक्सपेरिमेंट' का रूपांतरण है। यह experiment शब्द लेटिन धातु Expeririसे बना है जिसका अर्थ है 'To try thoroughly'।[1] यह शब्द विज्ञान की अन्वेषण कार्य-विधि से लिया गया है। विज्ञान के संदर्भ में इसका अर्थ है किसी सिद्धांत का परीक्षण, अज्ञात वस्तु की खोज अथवा प्रयत्न-परीक्षण द्वारा किसी वस्तु की खोज। दूसरे शब्दों में किसी तथ्य की खोज के लिए किया गया परीक्षण प्रयोग कहलाता है। विज्ञान का वैशिष्ट्य ही इस बात में है कि वह प्रयोग के माध्यम से निष्कर्ष तक पहुँचता है; और निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए उसके प्रयोग मूर्त उपकरणों पर आधारित होते हैं। विज्ञान में परीक्षण की प्रक्रिया से गुज़रते हुए प्रयोगकर्ता किसी भी वस्तु को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके व्यवहार का अध्ययन करता है, उसकी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान अर्जित करता है, उसकी सीमा और संभावनाओं को आँकता है। इन समस्त परिस्थितियों के अध्ययन के अनंतर वह कुछ निष्कर्ष निकालता है और उन निष्कर्षों के द्वारा सत्य के नये आयामों का साक्षात्कार करके उन्हें स्थापित करता है । वस्तुतः आधुनिक मानव की जिज्ञासा वैज्ञानिक और विवेकपूर्ण है। इसलिए आज ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोग के महत्व को स्वीकार कर लिया गया है। वैज्ञानिक दृष्टिवाला व्यक्ति किसी भी परंपरा को बिना उसकी प्रासंगिकता समझे स्वीकार नहीं करता। वह प्रयोग की संभावना को अन्य किसी भी वस्तु की अपेक्षा महत्वपूर्ण मानता है। प्रयोग को स्पष्ट करते हुए डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा लिखते हैं –"प्रयोग का उद्देश्य है, मान्य सत्य का परीक्षण और फिर परीक्षण द्वारा सत्य के नये आयामों का अन्वेषण। ********** प्रयोग, परीक्षण एवं विभिन्न तथ्यों के अन्वेषण करने की विधि है। इन्हीं परीक्षणों के आधार पर वह किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है। ये निष्कर्ष ही उपलब्धियों के रूप में कार्य करते हैं। प्रयोग इन्हीं कारणों से किसी भी सत्य को अंतिम सत्य नहीं मानता। साथ ही वह प्रत्येक सत्य को परिस्थितियों की सापेक्षता में

---

[1] Chamber's Twentieth Century Dictionary - p.374

देखने का प्रयास करता है। परीक्षण प्रयोग की जिज्ञासा है, अन्वेषण उपलब्धि है। प्रयोग स्वयं सत्य के नये आयामों को जानने का माध्यम है। प्रयोग की मूल प्रवृत्ति परंपरागत स्थापनाओं से आगे बढ़कर नयी दिशाओं की स्थापना है। साथ ही प्रयोग यथार्थ को जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखने का साधन है।"[1]

स्पष्ट है कि प्रयोग किसी भी निर्धारित सत्य को अंतिम सत्य नहीं मानता। प्रयोग की विचारधारा परिवर्तनशीलता की विचारधारा है जो विचारों की सत्यता को जांचने के लिए प्रयोग को एक आवश्यक साधन मानता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रयोग का दृष्टिकोण तमाम मूल्यों को, समाज के व्यवहार और आचरण को, पुराने रीति-रिवाज़ों को, विचारों को बिना उसकी समसामयिकता जाँचे वहन नहीं करता। अर्थात् परिस्थिति एवं परिवेश से बिलकुल तटस्थ रहकर सफल प्रयोग नहीं किया जा सकता। देश और काल में सत्य परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिए प्रयोग उनका वैज्ञानिक परीक्षण करके परंपरा के जीवित तत्वों को ग्रहण करते हुए विकासमान सत्य को ढूँढ़ निकालता है। वास्तव में नवीनतम विचारों, तथ्यों, सत्यों एवं मर्यादाओं के प्रति प्रयोग हमेशा आस्थावान रहता है। अर्थात् प्रयोग सदैव प्रगतिशील होता है । इसके द्वारा प्रयोगकर्त्ता अपने आप को समृद्ध कर सकता है। और आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार प्रयोग प्रगति का एक सशक्त माध्यम भी है।

प्रयोग की प्रकृति में यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तु की मान्य प्रकृति का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुनः अनुभव किया जा सकता है और निर्धारित तथ्यों का पुनर्परीक्षण करने के साथ इसके द्वारा नयी उपलब्धियाँ भी प्राप्त की जा सकती हैं । प्रयोग में प्रयोगकर्त्ता की उपलब्धियों का सही या गलत होना इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि वे महत्वपूर्ण हैं, क्योकि उन्हीं प्रयोगों के द्वारा अपूर्व, अज्ञात क्षितिज की परतें खुलती हैं और कालांतर में यही सत्य के निकट पहुँचने का साधन बन जाता है। जैसे-जैसे मनुष्य परीक्षण करता जाता है तदनुसार उसमें नये-नये प्रयोग करने की जिज्ञासा प्रबल होती जाती है। उसकी प्रत्येक उपलब्धि किसी अन्य नयी उपलब्धि को प्राप्त करने के लिए उसे प्रेरित करती है, और इसप्रकार प्रयोग - अन्वेषण का यह चक्र सतत घूमता रहता है। सच तो यह है कि प्रयोग की प्रक्रिया से गुज़रते हुए हम नवीन दृष्टिकोण से देखते हैं, किसी नये

---

[1]धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान संपादक)-हिन्दी साहित्य कोश -लक्ष्मीकांत वर्मा : प्रयोग, प्र.सं.-संवत्2015, पृ. 483-484

साधन का उपयोग करते हैं तथा किसी ऐसी शैली को भी व्यवहार में लाते हैं जिसका कभी प्रयोग न हुआ हो और जो इसी कारण प्रायः नवीन-सी प्रतीत होती है। इसप्रकार प्रयोग की प्रवृत्ति नयी दिशाओं के द्वार खोलती है। लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रयोग की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए लिखा है-

"(1) प्रयोग किसी निर्धारित सत्य को अंतिम सत्य नहीं मानता। सत्य का वैज्ञानिक परिशोधन और परीक्षण किया जा सकता है, इसलिए सत्य का जीवंत तत्व देश, काल और यथार्थ के साथ विकसित होता है। इस विकास को जानने की प्रक्रिया प्रयोग है। (2) किसी भी वस्तु का व्यवहार (behaviour) उसकी प्रकृति (Nature) निर्धारित करती है, किन्तु प्रकृति परिस्थितियों द्वारा शासित होती है। इस बदलती परिस्थिति की जागरूकता ही ज्ञान और दृष्टि, दोनों का अभिवर्धन करती है। प्रयोग इन परिस्थितियों की स्वीकृति के साथ उनकी सीमाओं और संभावनाओं को जानने की प्रवृत्ति है। (3) सीमाओं द्वारा हमें एक स्थापित मर्यादा संस्कार रूप में मिलती है। संभावनाओं द्वारा हमें एक नयी मर्यादा मिलती है। स्थापित मर्यादा के जीवंत तत्वों को स्वीकार करना और नयी मर्यादा की संभावना को विकसित करना प्रयोग का धर्म है। पुरानी मर्यादाएँ हमें संस्कार देती हैं, नयी मर्यादाएँ विकास की ओर प्रेषित करती हैं। इसलिए प्रयोग पुरानी मर्यादा के उस अंश को स्वीकार करता है जो नयी मर्यादा के विकास में योग देती है। नयी के प्रति आस्थावान होना प्रयोग की प्रकृति है। (4) प्रयोग चमत्कार को कोई स्थान नहीं देता, क्योंकि चमत्कार विवेक को नष्ट करके अंधविश्वास को प्रश्रय देता है। ********** चमत्कार (miracle) आधुनिकता और विवेक, दोनों को अस्वीकार करके ही स्थापित होता है। प्रयोग की वैज्ञानिक प्रक्रिया इसलिए चमत्कार का विरोध ही नहीं करती, वरन् उसका खंडन करती है । (5) क्षण-प्रतिक्षण की अनुभूति का महत्व प्रयोग को गतिशीलता प्रदान करता है। किसी भी वस्तुस्थिति की मूल प्रकृति सापेक्ष सत्य और सापेक्ष यथार्थ का संवरण करती है। परंपरा केवल अंश सत्य को ही निर्धारित करती है। पूर्ण सत्य (whole truth) की ओर जिज्ञासु बौद्धिक जागरूकता इस बात केलिए प्रेरणा देती है कि आंशिक सत्य से पूर्ण सत्य की ओर उन्मुख होकर हम उसके नये आयामों को जानने की चेष्टा करें। यह चेष्टा ही प्रयोग की गति है। प्रयोग अपने में पूर्ण नहीं होता। वह मात्र एक प्रक्रिया है, जिससे किसी भी वस्तु का या किसी भी सत्य का व्यावहारिक और वैज्ञानिक अर्थ एवं संदर्भ जाना जा सकता है। प्रत्येक जीवन-वस्तु या परिस्थिति की गतिशीलता सदैव अपने व्यवहार और अपनी प्रकृति द्वारा सत्य और यथार्थ के प्रति नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। प्रयोग इन दृष्टिकोणों को व्यर्थ नहीं मानता, वरन् उसके माध्यम से नये

स्तरों का अन्वेषण करने का प्रयास करता है। इसलिए सत्य अन्वेषण है, प्रयोग केवल एक माध्यम मात्र ही रह जाता है।"[1]

प्रयोग शब्द की इतनी सारी विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए अब प्रयोग शब्द का मर्म भली-भाँति जाना जा सकता है और इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

1) प्रयोग शब्द की सीमा विस्तृत है जिसके मूल में अन्वेषण की प्रवृत्ति है।
2) परीक्षण के द्वारा नवीनता की खोज का माध्यम प्रयोग है।
3) पूर्वोपलब्ध तथ्यों की पुष्टि करना प्रयोग का लक्ष्य है।
4) प्रयोग आविष्कार को जन्म देते हैं और आवश्यकता प्रयोग की कल्पना को।
5) प्रयोग किसी मान्य वस्तु को वैसा का वैसा स्वीकार नहीं करता।
6) अनुपलब्ध तथ्यों की गवेषणा प्रयोग है।
7) प्रयोग के द्वारा नयी खोज संभव है, नये तथ्य सामने आ सकते हैं।
8) प्रयोग बने बनाये नियम या रूढ़ि पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाता है।
9) प्रयोग और परीक्षण आपस में संबद्ध हैं। प्रयोग की जिज्ञासा परीक्षण को जन्म देती है।
10) प्रयोग किसी निर्धारित सत्य को अंतिम सत्य नहीं मानता है। सत्य का वैज्ञानिक परिशोधन और परीक्षण किया जाता है।
11) नवीनता तथा मौलिकता की संभावना प्रयोग शब्द में सदैव जुड़ी हुई है। प्रयोग की प्रवृत्ति नये के प्रति आस्थावान होना है।
12) प्रयोग में चमत्कार के लिए कोई स्थान नहीं होता। क्योंकि चमत्कार अंध विश्वास को जन्म देता है, विवेक को नहीं और प्रयोग का विकास विवेक के बिना नहीं होता।
13) प्रयोग अपने आप में पूर्ण नहीं है, वह सत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया है।
14) प्रयोग सतत परिवर्तित है और यह विचारों की सत्यता को जांचने का एक साधन मात्र है।
15) प्रयोग में एक युक्तियुक्त प्रणाली का आश्रय लिया जाता है, जिसमें तत्संबंधी प्रश्न और उसके समाधान की संभावना बनी रहती है।

---

[1]धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान संपादक)-हिन्दी साहित्य कोश - लक्ष्मीकांत वर्मा : प्रयोग, प्र.सं. संवत् 2015, पृ. 484-485

इसप्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रयोग स्थापित मान्यताओं को, जो समय और परिस्थिति के अनुसार अपनी सापेक्षता खो बैठती है, विवेकपूर्ण रीति से अस्वीकार करता है तथा सत्यानुसंधान कर उसकी नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए नवीनतम विचारों और मर्यादाओं को जन्म देकर उनके अपने संदर्भों में उन्हें विकसित होने का अवसर प्रदान करता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रयोग सतत विकासमान प्रक्रिया है हो जीवन के विविध क्षेत्रों से अपना संबंध स्वतः स्थापित करता है। किंतु विभिन्न क्षेत्रो में प्रयोग का विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है, केवल साहित्य क्षेत्रीय प्रयोग के स्वरूप एवं विश्लेषण, परंपरा से संबंध, तथा प्रयोग की आवश्यकता को अध्ययन का विषय बनाना अपेक्षित है।

## 1.2 साहित्य में प्रयोग

औद्योगिक सभ्यता और मशीनी संस्कृति में पल्लवित आधुनिक समाज अपने पूर्ववर्ती समाज से सर्वथा भिन्न है । पुराने सामाजिक परिवर्तनों के दौर में कुछ मानव-मूल्य सदा स्थिर रहते थे। लेकिन आज मानवीय संबंध और मानवीय मूल्य पूर्ण रूप से अस्त-व्यस्त हैं । दो महायुद्ध, देश की आज़ादी, इसका विभाजन, सांप्रदायिक दंगे, बेरोज़गारी, औद्योगीकरण और शहरी ज़िन्दगी के मशीनीपन से पैदा हुई जटिलताओं और परिस्थितियों का गहरा प्रभाव मानव समाज पर पड़ा है। सच तो यह है कि युग और परिस्थिति के अनुसार इनसान के सामूहिक बरताव और जीवन के प्रति दृष्टिकोण पूर्णतः बदल जाते हैं। इसके परिणाम स्वरूप कला और साहित्य में अंतर्निहित भाव, उसकी शैली और अभिव्यक्ति के ढंग भी बदल जाते हैं और इसी बदलाव की प्रक्रिया में प्रयोगों की शुरुआत होती है।

साहित्य में प्रयोग शब्द की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। मूलतः यह शब्द विज्ञान जगत् का है और वहीं से यह साहित्य के क्षेत्र में गृहीत हुआ है। विज्ञान ने अपनी प्रयोगशीलता द्वारा अनेक नये सिद्धांतों और तथ्यों को प्राप्त करके प्रयोग की सार्थकता सिद्ध कर दी है। विज्ञान की ही तरह साहित्य में भी प्रयोग के द्वारा परिवर्तनशील परिवेश में मानवीय सत्यों का अनुसंधान करके नयी धारणाओं का निर्माण किया जाता है। इस संदर्भ में विज्ञान के प्रयोग और साहित्यिक प्रयोग के अंतर को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। वैज्ञानिक प्रयोग सत्य को आधार मानकर चलते हैं और उनमें कल्पना या भावना के लिए कोई स्थान नहीं

है। इसके विपरीत साहित्य में युगीन सत्य के साथ-साथ कल्पना, भावना और मानवीय संवेदना का समावेश होता है। साहित्य में सत्य का उद्‌भव मनुष्य की राग-वृत्ति से होता है जबकि विज्ञान में सत्य का उद्‌भव तर्कवृत्ति से होता है । इसी बात पर प्रकाश डालते हुए अमृतराय ने लिखा है —"विज्ञान का सत्य तर्क का सत्य होता है, काव्य- कला का सत्य राग का सत्य । इसीलिए विज्ञान का एक सफल प्रयोग अपने पूर्ववर्ती प्रयोग को काटता है। इसी नाते आइंस्टाइन की भौतिकी जिस अर्थ में न्यूटन की भौतिकी को अमान्य करके उसका स्थान ग्रहण कर लेती है उस अर्थ में न्यूटन का स्थान अन्वेषण के इतिहास में ही सिमटकर रह जाता है। काव्य-कला की स्थिति भिन्न ही नहीं इसके विपरीत है। यहाँ एक से दूसरा अमान्य नहीं ठहरता, दोनों अधिक संपन्न होते हैं। इसीलिए यहाँ शेक्सपियर से कालिदास या टालस्टाय से होमर और वाल्मीकि झूठे नहीं पड़ते, सब मिलकर राग-सत्य में नये कुछ आयाम जोड़ते हैं और इसप्रकार उसकी एक सुंदरता, सत्यतर, पूर्णतर अवतारणा की ओर बढ़ते हैं। इसीलिए तो जो श्रेष्ठ साहित्य, कला है, जिसमें प्राणों का स्पंदन है, मर्म को छूनेवाला राग-तत्व है, वह कम ही बासी या पुराना पड़ता है।"[1] वस्तुतः साहित्यकार भावना के धरातल पर समाज से जुड़ता है और इस संबंध के द्वारा वह समाज का यथार्थ चित्र साहित्य में प्रस्तुत करता है। इसप्रकार साहित्य में प्रयोग केवल शिल्प सज्जा की नवीनता नहीं है, बल्कि वह तो मानवीय अस्तित्व को नयी अर्थवत्ता देने का साधन भी है।

प्रगतिवादी आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने प्रयोग का शाब्दिक अर्थ "कोई प्रयत्न, किसी सिद्धांत को प्रमाणित करने के लिए किया गया तजुर्बा, अज्ञात वस्तु का अनुसंधान करने या तजुर्बे के ज़रिए खोजने की क्रिया"[2]से लगाया है। वे यह मानते हैं कि प्रयोग साहित्य या कला की कोई विशिष्ट शैली या प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि व्यापक अर्थ में प्रयोग साहित्यकार या कलाकार की सृजनात्मक चेष्टा का सहज धर्म है जिसका पालन उसे अनिवार्यतः करना पड़ता है। प्रयोग हमारे ही काल की आवश्यकता हो ऐसी बात नहीं है। इतिहास इस बात का गवाह है कि प्रयोग हर काल की आवश्यकता रही है और हर काल में प्रयोग होते भी रहे हैं। हर युग का समर्थ रचनाकार कुछ नया देने के लिए, अपने को

---

[1]अमृतराय- सहचिंतन, प्र. सं.1967, पृ. 54

[2]शिवदानसिंह चौहान- आलोचना के मान, प्र. सं.1958, पृ.80

वर्तमान से जोड़ने के लिए परंपरागत रूढ़ मान्यताओं को तोड़कर नवीन भाव सत्य की स्थापना करता है और इसके लिए वह कोई न कोई नया प्रयोग अपनाता है। कविता के संदर्भ में प्रयोग की चर्चा करते हुए भगीरथ मिश्र जी ने लिखा है –"साहित्य में कोई भी प्रवृत्ति एकदम नवीन नहीं होती, वरन् युगीन परिस्थितियों के अनुसार जब प्रचलित काव्य प्रवृत्तियों में ताज़गी नहीं रह जाती, तब जीवन और जगत की स्थिति से प्रेरित होकर कवि उसमें ताज़गी लाने का प्रयत्न करता है। यह ताज़गी वैचारिक नव्यता के रूप में हो सकती है अथवा अभिव्यंजना-पद्धति या शैली की नव्यता के रूप में।"[1]प्रत्येक युग की रचना में नवीन प्रयोगों के कारण ही नव्यता आती रही है, किंतु उसका लक्ष्य जीवन और संस्कृति का सौंदर्य चित्रित करना तथा उसके सत्य का उद्‌घाटन करना रहा है, प्रयोग मात्र नहीं। अर्थात् प्रयोग साधन है, साध्यनहीं। इसप्रकार स्पष्टतः कहा जा सकता है कि कला या साहित्य में जहाँ भी मानवीय योजना तथा नवनिर्माण की भावना कार्य करती है, वही प्रयोग का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है, चाहे वह काव्य का क्षेत्र हो या नाटक का, संगीत का क्षेत्र हो या विज्ञान का।

प्रयोग सृजनात्मक कला या साहित्य का मौलिक धर्म है और प्रत्येक कला-सर्जना के जन्म के साथ ही प्रयोग की प्रवृत्ति भी जन्म लेती है। अर्थात् जब भी कलाकार कुछ नया सृजन करता है वह उसका प्रयोग है। यद्यपि रूढ़ियों का खंडन-मंडन और नवीन सृजन हर युग का कलाकार करता रहा है लेकिन प्रयोग की अवधारणा का विकास आधुनिक युग में ही और वह भी पाश्चात्य कला क्षेत्र में ही आरंभ में हुआ। काव्य के संदर्भ में 'प्रयोग' शब्द की विवेचना करते हु ए टी.एस.इलियट ने लिखा है - "प्रयोग शब्द को उन कवियों की कृति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है जो प्रौढ़ावस्था में परिणत होते और विकास प्राप्त करते हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों प्रौढ़ होता जाता है, वह नई विषयवस्तु की ओर मुड़ता है या पुरानी विषयवस्तु को ही नये शिल्प के माध्यम से उपस्थित करता है क्योंकि हमारे आदिम 'स्व' और युगीन 'स्व' दोनों विश्व में रहते हैं और उसी विश्व में भिन्न व्यक्ति भी होते हैं। ये परिवर्तन लयात्मक या बिंबगत या रूपगत किसी भी तरह के परिवर्तन के मार्ग से उपस्थित हो सकते हैं। सच्चा प्रयोक्ता केवल

---

[1]डॉ. रामकुमार खंडेलवाल-हिन्दी काव्य और प्रयोगवाद-भगीरथ मिश्र – प्रस्तावना, द्वितीय संस्करण :1984, पृ.11

अशांत जिज्ञासा की भावना से, अथवा नवीनता की इच्छा से, अथवा आश्चर्य एंव चमत्कार से अभिभूत करने की कामना से वशीभूत होकर प्रयोग नहीं करता, अपितु अपने वश में न रहनेवाली तथा प्रतिक्षण विकसनशील भावनाओं को वास्तविक रूप प्रदान करने के लिए विवश होकर प्रयोग करता है।"[1][The word 'experimentation' may be applied, and honourably applied, to the work of many poets who develope and change in maturity. As a man grows older, he may turn to new subject-matter, or he may treat the same material in a different way; as we age we both live in different world, and become different men in the same world. The changes may be expressed by a change of rhythm, of imagery, of form: the true experimenter is not impelled by restless curiosity, or by desire for novelty, or the wish to surprise and astonish, but by the compulsion to find in every new poem as in his earliest, the right form for feeling over the development of which he has, as a poet, no control.]कहने का तात्पर्य यह है कि प्रयोग का मूल निश्चित रूप से अनुभूति को नई अभिव्यक्ति देने के प्रयास में है। नए विचार और नए रागात्मक संबंधों की पूर्णतः अभिव्यक्ति नए माध्यमों द्वारा ही संभव है। इसलिए परंपरागत माध्यम जब अपनी सार्थकता खो बैठते हैं तो अपने वक्तव्य को प्रभावशाली बनाने के लिए नये लेखकों को प्रयोग द्वारा नयी राह निकालनी पड़ती है।

हिन्दी साहित्य के संदर्भ में इस शब्द का प्रयोग प्रचलित करने का श्रेय कवि अज्ञेय को ही दिया जाता है। 'तारसप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने स्वयं और अपने साथियों को साहित्य के क्षेत्र के नवीन प्रयोगकर्त्ता कहकर संबोधित किया था। वैसे तो उनसे पूर्व नाटक के क्षेत्र में भुवनेश्वर जी ने अपने नाटक 'कारवाँ' में सजग प्रयोग किया था, किंतु उस समय उनका नया स्वर किसी को सुनाई नहीं दिया और उनका प्रयोग एकाकी रह गया। अज्ञेय और उनके साथियों ने प्रयोग को अन्वेषण विधि के अर्थ में लेते हुए उसे काव्य सत्य तक पहुँचने के लिए अनिवार्य माध्यम बताया। अज्ञेय ने लिखा है- "प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है। वह साधन है । और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य

[1] John Hayward (Ed.)- Selected prose- T.S. Eliot-Experimentation, First Published by Penguine books 1953, p. 81

को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है - वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है।"[1]

इसप्रकार प्रयोग की ओर अत्यंत रुझान देखकर ही आलोचकों ने तारसप्तक के काव्य को 'प्रयोगवाद' की संज्ञा से अभिहित किया था। यद्यपि वाद के रूप में प्रयोग की स्वीकृति में बहुत लोगों को आपत्ति हो सकती है फिर भी निस्संदेह कहा जा सकता है कि प्रयोग ने साहित्यिक सृजन-कर्म और चिंतन को एक नयी संभावनापूर्ण दिशा दी जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग में प्रयोग एक विकासमान प्रक्रिया या कलाकार की सृजनात्मक चेष्टा का मौलिक धर्म बनकर प्रतिष्ठा पाने लगा है । प्रयोग के संदर्भ में कृति का विश्लेषण आधुनिक विचार दृष्टि की देन है जो सृजन के प्रत्येक रूप - कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध, नाटक और नाट्यशैली पर लागू होती है।

साहित्य के संदर्भ में 'प्रयोग' शब्द का अर्थ व्यापक और संकुचित, दोनों अर्थों में लिया जा सकता है। व्यापक अर्थ में विचार, अनुभूति और भाव की अभिनवता, गहनता तथा परंपरा के ग्राह्य तत्वों की स्वीकृति के साथ अभिव्यंजना की नयी शैली को प्रयोग कहा जा सकता है। इसप्रकार व्यापक अर्थ में प्रयोग साहित्य की आत्मा से संबंध रखता है। साहित्य में अंतर्निहित प्रयोग की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए डॉ.ए. अरविंदाक्षन ने लिखा है –"प्रयोगपरकता ही सृजनात्मकता है। रचना जब अपने को सिद्ध करना चाहती है तो उसकी प्रयोगपरकता मुख्य हो जाती है। प्रयोग रचना का बाह्य तत्व नहीं है। वह अलंकारनुमा प्रदर्शनपरक तत्व भी नहीं है। वह रचना का आभ्यंतर तत्व है। अपने आंतरिक विन्यास में जो रचना निरंतर प्रयोगशील है, वह अपनी प्रासंगिकता व्यक्त करती रहती है।"[2] वस्तुतः इस आंतरिक प्रयोग के कारण ही एक ही विधा की रचनाएँ एक दूसरे से भिन्न दिखती हैं और अपना अलग अस्तित्व स्थापित करती हैं। उदाहरण के लिए भारतेंदु के नाटक 'अंधेर नगरी' को कई आलोचकों ने 'प्रहसन' नाम दिया है। यद्यपि यह नाटक बाहरी तौर पर प्रहसन की औपचारिक लक्षणों की पूर्ति तो करता है,

---

[1]सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय - हिन्दी साहित्य - एक आधुनिक परिदृश्य, प्रथम संस्करण -1967, पृ.199

[2]विभूति मिश्र(सं) - सम्मेलन पत्रिका (शोध त्रैमासिक) - डॉ.ए. अरविंदाक्षन-समकालीन साहित्यः विधागत प्रयोग (लेख), अधिवेशन अंक 3 सन् 2005, पृ.134

किंतु आंतरिक तौर पर यह नाटक अपने छोटे कलेवर में भी असीम संभावनाओं को लिए हुए हैं। वास्तव में हर प्रयोगधर्मी रचनाकार अपने वर्तमान के दूरगामी प्रभावों को रचना में सन्निविष्ट करने का प्रयास करते हैं। इसी तरह भारतेंदु ने भी अपने नाटक 'अंधेर नगरी' के आंतरिक विन्यास में अपनी संवेदनात्मक दूरदर्शिता का परिचय दिया है, चाहे वह कथ्य के रूप में हो, पात्र के रूप में हो या उनके द्वारा परिकल्पित कालबोध के रूप में, यह नाटक हर सीमा का अतिक्रमण करता है और नई संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करता है।

संकुचित अर्थ में प्रयोग का संबंध केवल साहित्य के बाह्य रूप से होता है। इस सदर्भ में 'प्रयोग' का अर्थ मात्र रचना के रूप-शिल्प में निरुद्देश्य और अनावश्यक अभिनवता प्रयुक्त करनेवाले प्रयासों के लिए नियत होता है। वस्तुतः जब रचनाकार के मन में उसके अपने अनुभव सत्य को नवीन कथ्य बनाकर समष्टि तक पहुँचाने की आकुलता उपजती है तो वह अनुभव करता है कि उसकी पूर्व वर्ती लेखन परंपरा उसकी अनुभूति को सही अभिव्यक्ति दे सकने में असमर्थ है। उस समय साहित्यकार अभिव्यक्ति के नये माध्यमों, नयी भाषा, नये शिल्प आदि की खोज करता है। इसतरह साहित्य के आंतरिक और बाह्य दोनों पक्षों पर नये प्रयोग किये जाते हैं। पर ऐसी रचनाओं की कमी नहीं है जो केवल बाह्य प्रयोगों को ही प्रथमतः लक्षित करती हैं और यही कारण है कि अभिव्यंजना की नवीन पद्धतियों के रूपाकार मात्र को ही प्रयोग मान लिया जाता है। 'तारसप्तक' में प्रयोग की चर्चा करते हुए अज्ञेयजी ने लिखा है –"जो व्यक्ति का अनुभूत है उसे समष्टि तक कैसे उसकी संपूर्णता में पहुँचाया जाए यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं कि वह अनुभूत कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अधःया अंतः या बहिर्मुखी है।"[1] स्पष्ट है कि यहाँ अज्ञेय का ध्यान केवल अभिव्यंजना पर केंद्रित है। यह अभिव्यंजना संबंधी प्रयोग ही यदि साहित्यकार का लक्ष्य बन जाए तो उससे किसी प्रकार की महान सत्योपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए बाद में अज्ञेय ने भी अनुभूत सत्य की महत्ता पर बल देते हुए 'दूसरा सप्तक' में लिखा है "केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त

[1]अज्ञेय (सं) - तारसप्तक, आठवाँ संस्करण : 2003, पृ. 222

हो।"[1] वास्तव में अभिव्यंजना विषयक प्रयोगों को तभी सफल माना जाएगा जब कथ्य या अनुभूत सत्य में ऐसी कोई नवीनता मिल जाए जिसके संप्रेषण के लिए साहित्यकार को नयी पद्धति अपनाने की ज़रूरत पड़ी है । जिन प्रयोगों के पीछे ये तत्व नहीं होते, वे कोरे फैशन या भोंडे अनुकरण मात्र होते हैं। ऐसे अनर्गल प्रयोगों का उदाहरण देते हुए अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध उपन्यासकार फिलिप टॉयनबी ने लिखा है –"यूरोप के बहुत से स्थानों पर ऐसी पुस्तकें, जिनके वाक्य सीधे नहीं, बल्कि ऊपर से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रंगों में छपाई हुई हो, साहसपूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकृत की जाती हैं, चाहे उनका वस्तु तत्व बहु प्रयुक्त और अनुकृत ही क्यों न हो।"[2][ A bookwhich is printed upside down or in a particular print can still be aclaimed in some part of Europe as bold and interesting experiment even if its matter is the most backneyed imitation.] टॉयनबी द्वारा संकेतित 'प्रयोग' यथार्थ में प्रयोग नहीं है, क्योंकि ये प्रयोग निरुद्देश्य होते हैं। इन्हें विकृत प्रयोग या 'प्रयोग केलिए प्रयोग' ही कहा जा सकता है।

प्रयोग की इस संकुचित धारणा का विरोध करते हुए शिवदानसिंह चौहान ने लिखा है –"साहित्य में प्रयोग के अर्थ को एक खास दृष्टिकोण, एक खास किस्म की कुंठा, एक खास किस्म के प्रभाव और एक खास किस्म के अंदाज़ तक ही संकुचित कर देने से 'प्रयोग' को लुंज और लंगड़ा बना देना है, जबकि आधुनिक युग के संपूर्ण अंतर्बाह्य सत्य को सबल अभिव्यक्ति देने की समस्या इतनी बड़ी है कि आधुनिक कवि और कलाकार को अपने प्रयोगों से संपूर्ण जीवन के विस्तार को नापने की छूट ही नहीं, उसमें सामर्थ्य भी होनी चाहिए ।"[3]स्पष्ट है कि साहित्य के विकास के मूल में प्रयोग ही प्राण रूप में प्रतिष्ठित है। किंतु प्रयोग के अर्थ को यदि संकुचित करके देखने का प्रयास करेंगे तो उसके द्वारा न तो जीवन का विस्तार नापा जा सकता है और न ही वह प्राणवान रचना ही पैदा हो सकती है जो आधुनिक युग की मांग है। वस्तुतः किसी भी प्रयोगधर्मी रचना की कसौटी युगीन प्रासंगिकता ही होती है । वह अपने समय के निकष पर परखा जाता

---

[1]अज्ञेय (सं) - दूसरा सप्तक, द्वितीय. सं. 1970, पृ. 8

[2]Lehmann John (Ed.) - London Magazine - Philip Toynbee –Experiment and the future of the Noval, May 1956

[3]शिवदानसिंह चौहान- आलोचना के मान, प्र. सं.1958, पृ. 80

है। यद्यपि यह निरंतर घटित है तथापि इसका सुरक्षित नीड़ समसामयिकता ही है। इससे निकल कर प्रयोग इतिहास के आकाश में उड़ान भरने और परंपरा बनने लग जाता है। किंतु कोई भी प्रयोग चाहे वह कितना ही नयापन लिए हुए हो, तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि उसके पीछे सृजनशील संवेदनात्मक रचना-मानस काम न कर रहा हो। वास्तव में प्रत्येक रचना तभी सार्थक होती है जब वह अपने भीतर व्यापक धरातल पर मानवीय स्थितियों एवं मानवीय आकांक्षाओं का समावेश करती है। इसलिए कहा जा सकता है कि प्रत्येक सार्थक रचना अपने आप में एक सफल प्रयोग है।

प्रयोग साहित्य में सदैव होते आए हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। वैदिक साहित्य से लेकर आज तक साहित्य अपने प्रगति-पथ पर प्रयोगों का ही निर्माण कर रहा है। किंतु अभी तक साहित्यिक प्रयोगशीलता की कोई निश्चित परिभाषा किसी ने नहीं की है। कह सकते हैं कि जब साहित्य में एकरूपता, पुनरावृत्ति और रूढ़ ग्रस्त मान्यताएँ अपना वर्चस्व स्थापित करती हैं तब साहित्य का विकास अवरुद्ध हो उठता है और उसी समय प्रयोग एकरूपता, पुनरावृत्ति और रूढ़िग्रस्तता के चंगुल से साहित्य को मुक्त कर प्रगति प्रदान करता है। इसप्रकार प्रयोग साहित्यिक अभिरुचि और विकास का मुख्य अंग है। प्रयोग के द्वारा विभिन्न तथ्यों को खोजा जा सकता है और इसकी प्रेरणा से ही जाने-अनजाने साहित्य में रचनात्मक और आलोचनात्मक मोड़ आते हैं। इसतरह प्रयोग के माध्यम से साहित्य में पुनर्जागरण होता है। यह तो सर्वविदित है कि किसी भी युग के किसी भी साहित्य में यदि भावगत या शैलीगत प्रयोग न हो तो साहित्य की नवीनता और मौलिकता के अभाव में वह निर्जीव हो जाता है। साहित्य में होनेवाले नवीन प्रयोग ही एक युग के साहित्य को दूसरे युग के साहित्य से भिन्न बनाते हैं। यदि साहित्यकार के मन में नये-नये प्रयोगों द्वारा साहित्य को नित्य नवीन बनाने की आकांक्षा ही नष्ट हो जाए तो साहित्यिक धारा का विकास रुक जाएगा और नये साहित्यकारों की ज़रूरत ही नहीं पडेगी। वस्तुतः साहित्य में जो भी मोड़ आये हैं और भविष्य में जो भी आएँगे वे सब के सब प्रयोग हैं और प्रयोग ही कहलाएँगे क्योंकि साहित्य का विकास चाहे जो हो, भूत और वर्तमान के प्रयोगों की कथा है और भावी प्रयोगों से ही उसके भविष्य की गाथा तैयार होगी। साहित्य में कोई भी मोड़ तब उपस्थित होता है जब वह परंपरा प्राप्त साहित्यिक धारा को तोड़कर अभिव्यंजना के नए माध्यमों की खोज करता है। इसलिए प्रयोग विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है और मानवीय चेतना के नवीन स्तरों को विकसित

करने का अप्रतिम माध्यम भी। जहाँ प्रयोग नहीं है, लीक छोड़कर चलने की परंपरा नहीं है, वहाँ निष्क्रियता का प्रादुर्भाव होता है, भोंडापन और खोखलापन अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है।

प्रसिद्ध आलोचक लक्ष्मीकांत वर्मा ने प्रयोग को प्रतिभा संपन्न कलाकार की सहज प्रकृति के रूप में देखा है। उनके अनुसार प्रयोग एक ऐसी प्रबुद्ध चेतना के विकास का परिचायक है जिसके आधार पर नये मूल्यों, नये आयामों और नई प्रवृत्तियों का विकास होता है । प्रयोग ऐ सी व्यक्त प्रक्रिया का नाम है जिससे कला के भावपक्ष और कलापक्ष मुक्त एवं बंधनहीन हो जाते हैं। प्रयोग में आत्मसात करने का गुण है, विवेक रखते हुए भिन्नता को स्वीकार करने की क्षमता है, नये अनुभव क्षेत्रों को उद्घाटित करने की शक्ति है। लक्ष्मीकांत वर्मा का मत है –"प्रयोग प्रगति की दृष्टि से परिचालित होता है । प्रयोग विचारों की क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है, वह पूर्वाग्रहों से अधिक अनुभूति और रचनात्मक अनुभवों में विश्वास रखता है। प्रयोग केवल शिल्पमात्र या चमत्कार की अनुभूति ही नहीं है। इसमें युग का ध्येय लक्षित होता है।"[1] इस संदर्भ में नयेपन और प्रयोग से जुड़ा हुआ एक सवाल उठाया जा सकता है कि क्या अन्य भाषा साहित्यों में हो चुके प्रयोग किसी दूसरे भाषा-साहित्य में नये होंगे। वस्तुतः प्रत्येक समाज में सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिवर्तन एक ही समय में घटित हों , यह ज़रूरी नहीं है। इतिहास के लंबे दौर में यही देखा गया है कि अलग-अलग समाज में अलग समय में परिवर्तन की प्रक्रिया घटित हो ती है । इसलिए हर समाज के साहित्य को अलग-अलग समय में प्रयोग की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है। जो प्रयोग पश्चिमी साहित्य में सौ साल पहले हुए वह हिन्दी साहित्य में सौ-साल बाद हुए क्योंकि दोनों के सामाजिक परिवर्तन के समय में अंतर है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जो प्रयोग पश्चिम की रचनाओं में पहले हो चुके हैं, वह अब भारतीय साहित्य में नहीं होने चाहिए या उनका होना अब पश्चिम की नकल है। यही ठीक है कि पश्चिम की रचना में हुए प्रयोगों का एक अनुभव हमारे सामने है जिसका फायदा हमें उठाना है और अपनी भाषा में अब उन प्रयोगों का समावेश करना नकल नहीं होगा क्योंकि हमें अपनी रचनाओं में प्रयोग की आवश्यकता तभी होगी जब समाज में परिवर्तन होगा । न उससे पहले और न बाद में। क्योंकि साहित्य में प्रयोग की स्थिति सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है।

---

[1]लक्ष्मीकांत वर्मा - नयी कविता के प्रतिमान, प्र. सं. संवत् 2014, पृ.186

वास्तव में किसी भी उन्नत साहित्य के प्रयोगों से प्रभावित होना और अनुकरण करना दो भिन्न बातें हैं। उदाहरण के लिए कथा के बीच किसी प्रकल्पित लेखक को रखने का प्रयोग पश्चिम के कई लेखकों में मिलता है। पर इनसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए बंगाली नाटककार बादल सरकार ने अपने नाटक 'बाकी इतिहास' में इस प्रविधि का अत्यंत मौलिक उपयोग किया है - नाटक के दो पात्रों के द्वारा लिखित कथाओं और उन दो पात्रों की प्रकल्पित जीवन-स्थिति का चित्रण करते हुए समकालीन देशकाल में मानवीय नियति के जिन पहलुओं को उजागर किया है, वे समकालिक संदर्भों का अतिक्रमण करते हुए इतिहास के प्रति मनुष्य के दायित्व को परिभाषित करने का प्रयत्न करता है। यहाँ अज्ञेय का वक्तव्य उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रयोग के इस मुद्दे पर भली भाँति विचार करते हुए लिखा है —"किसी प्रयोग का एक भाषा में पहले किया जा चुकना, दूसरी भाषा केलिए उसके मूल्य का अंतिम निर्णय नहीं कर देता। दूसरी भाषा जब तक स्वतंत्र रूप से विकास के उस बिंदु तक न पहुँचे जहाँ पर वह प्रयोग के लिए सार्थक हो सके, तब तक उस प्रयोग की उपयोगिता या अनुपयोगिता पर वह भाषा कोई अंतिम निर्णय नहीं कर सकती। यों दूसरों के प्रयोग से हम लाभ उठा सकते हैं, और हिन्दी ने भी उठाया है। रैम्बो या मैलार्मे के शब्द संकेतों के प्रयोग फ्रांसीसी भाषा में फिर कभी नहीं होंगें, ना ही फ्रांसीसी कवि फिर वैलेरी के साथ ध्वनियों का आध्यात्मिक अर्थ खोजेगा। किंतु हिन्दी अगर प्रतीकों और ध्वनियों का अन्वेषण करती है तो वह न पिष्टपेषण है, न समय नष्ट करना, क्योंकि फ्रांसीसी ने अपने साहित्य में जिस सत्य को पा लिया, उसी सत्य को आत्मसात करने के लिए हिन्दी के या किसी भी दूसरी भाषा के पास कोई छोटा रास्ता नहीं है। हवें सुविधा है तो इतनी, कि दूसरों का एक अनुभव हमारे सामने है जिसके सहारे हम स्वयं अपने अनुभव की परीक्षा कर सके।"[1] अन्य स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करते हुए मज़मून बाँधना अनुकरण नहीं है, बल्कि वह तो रचना-कर्म का एक कौशल है। एक विशेष देशकाल में या एक विशेष आंदोलन में विशेष प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन आवश्यक है। पर विशेष महत्व प्रयोग द्वारा अपना पदचिह्न बना सकनेवाले रचनाकार का ही होता है।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि गंभीर रचनाओं को निरंतर प्रयोगशील होते रहना चाहिए। किंतु प्रयोग की सफलता के लिए उनका निश्छल होना आवश्यक है। निरी प्रयोगशीलता किसी भी रचना को सार्थक साहित्य नहीं बना सकती। वस्तुतः फैशनपरस्ती

---

[1] अज्ञेय (सं) - आधुनिक हिन्दी साहित्य, प्र.सं. 1942, पृ. 41

तथा चालाकी से विहीन और साहित्यिक संदर्भ में सतत् पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि को लेकर आगे बढ़नेवाला साहित्यिक प्रयोग ही सार्थक है। यहाँ ध्यान देनेवाली बात यह है कि कोई कृति केवल इसलिए महत्वपूर्ण नहीं बन जाती कि उसमें स्थूल कोटि का प्रयोग है, बल्कि कृति का महत्व उसमें निबद्ध मानव सत्य एवं अनुभूति की तीव्रता, गहनता, विस्तार, नवीनता, तीक्ष्णता, स्पष्टता आदि से निर्धारित होता है। दूसरी तरफ प्रयोग रचना में उक्त गुणों की प्रतिष्ठा का साधन होते हैं। संक्षेप में, प्रयोग प्रगति का वह साधन है जो हर सार्थक रचना में आभ्यंतर तत्व के रूप में वर्तमान है और जिसके द्वारा साहित्यकार रूढ़ मान्यताओं और परंपरागत संप्रेषण पद्धतियों को तोड़कर नयी भावभूमि और अभिव्यक्ति के नये माध्यमों की खोज करता है।

## 1.3 प्रयोग और प्रयोगधर्मिता

प्रयोग एक क्रिया है और वह विकास का मुख्य अंग है। ज्ञान, जिज्ञासा और इच्छा की पूर्ति के लिए 'प्रयोग' जन्म लेता है। स्वस्थ परंपरा, अतीत के दौर से गुज़रकर कुछ परिवर्तन के साथ नये प्रयोगों का मार्ग प्रशस्त करती है। सच तो यह है कि परिवर्तन सृष्टि का नियम है। परिवर्तन की प्रक्रिया में हर अगला क्षण अपने में नवीनता लिए आगे बढ़ता है। मानवीय क्रियाएँ भी इसी नियम से संचालित होती हैं। प्राकृतिक परिवर्तन के संदर्भ में हर एक क्षण को नवीन रूप से संवेद्य बनाने की प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव में प्रारंभ से ही रही है। अतएव सभ्यता और संस्कृति ही नहीं, युग-युग से प्रवहमान मानवीय साहित्य साधना भी परिवर्तन और प्रयोग का एक ज्वलंत दृष्टांत बनकर हमारे सम्मुख अवतरित हुई है। प्रयोग का आधार ही दृष्टि की नवीनता है जिससे हम प्राचीन वस्तुओं को नये-नये रूपों में प्रस्तुत करने में सक्षम हो जाते हैं । प्रयोग रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करते हुए प्राचीन परंपराओं से नवीन वस्तु का अनुसंधान करके लाता है तथा यह स्वच्छंदता पूर्वक अपने को नये-नये रूपों में अभिव्यक्त करता है। इसप्रकार किसी भी क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों के समावेश को हम प्रयोग कहते हैं और प्रयोग की इस प्रवृत्ति को प्रयोगधर्मिता।

साहित्य के क्षेत्र में, नये की खोज के लिए या अपने कथ्य को अधिक प्रभावी बनाने के लिए प्रयोग किए जाते हैं और प्रयोग की यह प्रक्रिया हर युग में चलती रहती है। वस्तुतः साहित्य सृजन के संदर्भ में अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर किए गये नव प्रयोगों की प्रवृत्ति ही प्रयोगधर्मिता है। दूसरे शब्दों में, नवसृजन के धर्म को ही प्रयोगधर्मिता कहते हैं। प्रयोगधर्मी रचनाकार आधुनिकता का समर्थन करते हुए नये भाव-बोध को अधिक से अधिक अन्वेषण की ओर अग्रसर करता है। अन्वेषण मानव-स्वभाव का सहज गुण है। इस गुण के साथ ही मानव-प्रकृति की अभिरुचि और उसका सौंदर्यबोध दोनों का

गहरा संबंध है। अभिरुचियों में परिवर्तन होना, उसका विकास होना और नये के प्रति चिंतित होना स्वतः यह सिद्ध करता है कि जो सर्वमान्य अथवा प्रचलित है, वह जड़ीभूत है, उसमें कहीं न कहीं जीर्णता है, अथवा संप्रेषणीयता की कमी है। इस प्रेषणीयता का तथा नयी अभिरुचि और नये सौंदर्यबोध के साथ अधिक से अधिक नये आयामों का अन्वेषण ही प्रयोगधर्मिता है, जो उसको अधिक नया बनाये रखती है।

साहित्य में नये प्रयोग के नाम से कभी-कभी 'प्रयोगधर्मिता' का सदुपयोग और दुरुपयोग, दोनों होते हैं। साहित्य में पाठकों और दर्शकों को चौंकाने के लिए भी प्रयोग किए जाते हैं। ऐसे प्रयोग न तो साहित्योपयोगी होते हैं और न दीर्घजीवी हो पाते हैं। वस्तुतः प्रयोग न तो भाषा-शैली का चमत्कार है और न ही परंपरागत मान्यताओं का जानबूझकर किया गया विरोध। नकली चमक-दमक या कोई अभूतपूर्व उद्‌भावना भी प्रयोग नहीं है। वास्तविक प्रयोग युग और स्थितियों के नवीन दबावों से उत्पन्न नई अनुभूतियों में है। ऐसे प्रयोग में नये अनुभवों की चमक होती है और देश काल के बदलते हुए परिवेश की पकड़ होती है। यह प्रयोग किसी भी रचना के लिए महत्वपूर्ण है और अनिवार्य भी है। वास्तव में सवाल परंपरा और प्रयोग का नहीं बल्कि जागरूकता और ईमानदारी का है कि रचनाकार अनेक अनछुए स्तरों को, अपने युग के संघर्ष को अपने कृतित्व में कहाँ तक प्रस्तुत कर सका है। यही नहीं, यह भी महत्वपूर्ण है कि वह अपने समय के जटिल यथार्थ और गहरे अंतर्विरोध का उद्‌घाटन करते हुए अपनी सजगता और रचनात्मक ईमानदारी को कहाँ तक निभा पाया है। इन सवालों की पूर्ति में रचनाकार की प्रयोगधर्मिता सार्थक होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि हर जागरूक रचनाकार अपनी अनुभूति को व्यापक आयाम देना चाहता है और इस प्रक्रिया में वह प्रयोगधर्मिता की ओर उन्मुख होता है।

### 1.4 प्रयोगः एक अनिवार्य आवश्यकता

प्रारंभ काल से ही मनुष्य अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिए प्रयत्नशील रहा है। 'प्रयत्न' शब्द 'सोद्देश्य क्रिया' का पर्याय है। अर्थात् किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना मनुष्य का स्वभाव रहा है। 'उद्देश्य' अर्थात् अभाव की स्वीकृति जिससे प्रेरित होकर मनुष्य नवीनतम वस्तुओं को प्राप्त करने में संलग्न रहता है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। इस कथन के अनुसार मनुष्य अपनी

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नए उपकरण जुटाने का प्रयत्न करता है और इसकेलिए वह प्रयोगवृत्ति का आश्रय लेता है। इसतरह जीवन की आवश्यकताएँ मनुष्य को प्रयोग के लिए प्रेरणा देती हैं। फलतः मनुष्य प्रयोग में प्रवृत्त होता आया है और आज भी है। कहा जा सकता है कि मनुष्यता की इस उन्नत यात्रा का बीज प्रयोग है और फल है अधुनातन ज्ञान-विज्ञान आदि। विज्ञान में प्रयोग द्वारा मान्य सत्य का परीक्षण किया जाता है और पुनः परीक्षण द्वारा सत्य के नये आयामों का अन्वेषण करता है। प्रयोग द्वारा परंपरागत मान्यताओं का अतिक्रमण करके नयी दिशाओं का उद्‌घाटन किया जाता है, स्थापित आदर्शों का खंडन, संशोधन या परिवर्तन होता है, अधूरे सत्यों को पूरा किया जाता है और अज्ञात नियमों का साक्षात्कार किया जाता है। इसप्रकार विज्ञान का संपूर्ण विकास - क्रम प्रयोगाश्रित है। विज्ञान ही नहीं, आदिम युग से लेकर आज तक, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के विकास की यात्रा के मूल, प्रयोग और परीक्षण ही है। प्रारंभ से ही हर दिशा में ज्ञान प्राप्त करने की लालसा मनुष्य में विद्यमान है, फिर वह चाहे आत्मगत हो या बाह्यगत। शरीर से लेकर आत्मा तक और प्रकृति से लेकर पुरुष तक को जाननेकी जिज्ञासा मनुष्य में बड़ी सहज है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी प्रयोग आवश्यक है। निश्चय ही प्रयोग जीवन की मांग भी है और पहचान भी।

स्पष्ट है कि जीवन की नई संभावनाओं के उद्‌घाटन के लिए अथवा नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए प्रयोग युग-युग से होते आए हैं। जब भी सामाजिक दृष्टिकोण विभिन्न कारणों से संकुचित होता जाता है तब समाज के सार्थक दृष्टिकोण को व्यापक बनाने के लिए प्रयोग किए जाते हैं । समाज का कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, चाहे वह रीतिरिवाज़ों का सवाल हो या साहित्यिक परंपराओं का, जब पुरानी रीतियाँ इस हद तक संकुचित हो जाती हैं, जिससे जीवन प्रवाह अवरुद्ध हो उठता है तब संकुचित होती जा रही उन रीतियों को तोड़ना, मोड़ना पड़ता है। कई बार उन्हें बदलना भी पड़ता है और उन पुरानी रीतियों के स्थान पर जाँच-पड़ताल करके, प्रयोग करके नयी रीतियों को प्रतिस्थापित भी किया जाता है। इसप्रकार प्रयोग युग केलिए अनिवार्य बन जाता है। डॉ. शंकरदेव अवतरे के अनुसार "जब युग युग-संधि के बीच से गुज़रता होता है और जीवन-मूल्यों में परिवर्तन तीव्रगामी हो जाता है तब प्रयोगी गत्वरता की अपेक्षा होती है।"[1]

---

[1]डॉ. शंकरदेव अवतरे-हिन्दी साहित्य में काव्य रूपों का प्रयो ग, प्र. सं. 1962, पृ. 11

प्रयोग का महत्व जीवन की गतिशीलता के साथ जुडा हुआ है । मनुष्य ने अपना विकास जीवन के हर क्षेत्र में प्रयोग के माध्यम से ही किया है । इतना ही नहीं, जब-जब जीवन के किसी भी क्षेत्र में रूढ़ियाँ पैर तोडकर डेरा जमा लेती हैं तब-तब नवीन प्रयोगात्मक चेतना उसे ध्वस्त करने में सहायक सिद्ध होती है। इसीप्रकार साहित्य में भी प्रयोग का महत्व निर्विवाद है। साहित्य की अवधारणा मनुष्य की जीवनधारा से सदैव संबद्ध रही है। और इसी कारण जब साहित्यकार जीवन से अनुभूति तत्व ग्रहण कर उसे, अपने युग और अपनी प्रतिभा के आश्रय से कोई नया रूप देकर, उस रूप को पूर्ववर्ती रचनाओं से अलगाना चाहते हैं तो प्रयोग अनिवार्य हो उठते हैं। केवल पुरानी भाव-प्रणाली के आधार पर जो नकल होगी वह युग की मांग को समाधान नहीं दे सकती। आदिकाल के चारण काव्य या रीतिकाल के श्रृंगार काव्य के अनुकरण पर रचा गया साहित्य स्थूल, रूढ़ और जड़ होगा। इससे न तो मनुष्य की जिज्ञासा शांत होती है और न ही ज्ञान की प्राप्ति। तब साहित्य को इन दोषों से मुक्त करने के लिए प्रयोगों की परंपरा का जन्म होता है। हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों को देखने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता तथा सख्त नियमों के कटखरे में कैद साहित्य की मुक्ति के लिए छायावाद युग के प्रयोग आवश्यक थे और फिर आध्यात्मिकता और सुकोमल भावनाओं में फँसे हुए वायवी और काल्पनिक छायावादी साहित्य से मुक्ति पाने के लिए प्रगतिशीलता के प्रयोग किए गए। प्रयोग की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए डॉ. पवनकुमार मिश्र ने लिखा है –"साहित्य अंततोगत्वा अभिव्यक्ति ही है और अनभिव्यक्त शून्यता को पहचानना, अनुकूल कल्पनाओं को जन्म देना तथा योग्य रूप में उन्हें प्रस्तुत करना प्रयोग के द्वारा ही संभव होता है।"[1]इसप्रकार प्रत्येक युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपने उपयुक्त रचना विधान को खोजता है और इस प्रक्रिया में नये प्रयोगों को जन्म देता है।

कहा जा सकता है कि प्रयोग सर्जनात्मक साहित्य की अनिवार्यता है और अन्वेषण की ओर उन्मुख होना उसकी मुख्य प्रवृत्ति है। यहाँ यह सवाल पैदा हो सकता है कि साहित्य में प्रयोग की ज़रूरत क्यों पड़ती है। वास्तव में युग और परिस्थिति के अनुसार नये-नये प्रयोग, समय और कला की ज़रूरत बन जाते हैं। हर बड़ा परिवर्तन चाहे वह

[1]डॉ. पवनकुमार मिश्र - प्रयोगवादी काव्य, प्र.सं. 1977, पृ. 7

राजनीतिक हो या सामाजिक, इनसान की ज़िंदगी, उसके रहन-सहन, उसकी सभ्यता और उसके सोच-विचार पर अपना प्रभाव डालता है। जब मनुष्य की रुचियों और जीवन संबंधी दृष्टिकोणों में परिवर्तन आते हैं तो मूल्य और चिंतन के मानदंड बदल जाते हैं जिसका गहरा असर कला और साहित्य में भी नज़र आता है। इसतरह के राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन नई व्यक्तिगत एवं सामूहिक समस्याओं से संबंधित नये विषय लेकर अवतरित होते हैं। किंतु साहित्य में इनकी अभिव्यक्ति के लिए पारंपरिक साँचे कभी-कभी अपर्याप्त मालूम होते हैं। ऐसी हालत में नए प्रयोग और नए साँचे अनिवार्य हो जाते हैं। वस्तुतः साहित्य में प्रयोग के जन्म का एक कारण नए-नए ज्ञान की जानकारी और विकास भी है। विज्ञान, मनोविज्ञान और अन्य सामाजिक ज्ञान जितने बढ़ते जाते हैं, मानव सत्य और अभिव्यक्ति की शैली भी उतने ही बदलते जाते हैं। नए ज्ञान की नई जानकारी, रचनाकार के सामने नई-नई सच्चाइयों के द्वार खोलती है और रचना में इन नई सच्चाइयों के संप्रेषण के लिए उसे नए शब्दों और नए साँचों की ज़रूरत पड़ती है।

इसीतरह प्रयोग का दूसरा कारण समय का बदलाव भी है। जब समय बदलता है तो साहित्य के पाठक और श्रोता के सोच-विचार में भी बदलाव आ जाता है। पाठक, श्रोता और दर्शक का बदला हुआ मानसिक स्तर, ज्ञान और परिस्थितियों में हुए परिवर्तन आदि रचनाकार को संवेदना के स्तर पर और अपनी कला तथा अभिव्यक्ति की शैली में नए-नए प्रयोग करने पर मजबूर करते हैं ।

साहित्य में प्रयोग का एक और कारण रचनाकार के मिज़ाज का अनोखापन और प्रतिभा एवं चिंतन-प्रक्रिया भी है जिसके तहत वह बंधी-बंधाई परंपरागत लीक से हटकर चलना चाहता है। किसी और के कदमों के निशान के सहारे मंज़िल तक पहुँचने में वह ग्लानि का अनुभव करता है। इसलिए वह अपनी राह खुद ढूँढ़ निकालता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए नए साँचे बनाता है।

स्पष्ट है कि कला और साहित्य में नवीनता का आकर्षण, कलात्मक सौंदर्य और अर्थ की नयी भंगिमाएँ उत्पन्न करने केलिए प्रयोग किए जाते हैं। आधुनिक जीवन की नवीन परिस्थितियों में प्रयोग की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हुए कविता के संदर्भ में लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है –"आज की जीवन-अनुभूति की व्यापकता और उसका आत्म-सत्य न तो क्लैसिक विधान की रूढ़ियों में व्यक्त हो सकता है और न रोमैन्टिक कोमलता पर ठहर सकता है। वर्तमान मानव जीवन की समस्याओं और उनसे प्रभावित

भावधारा को न तो प्रचलित शब्दावाली ही व्यक्त कर सकती है और न प्रचलित शिल्प-विधान ही उसे पर्याप्त बना सकता है। उसकी सीमायें, और अनुभूतियाँ पृथक हैं इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी पुराने ढंग से होने में सीमित हो जाती है । वह न तो छायावाद की कोमल पदावली के अनुकूल है और न ही वह 'भारत-भारती' की शैली में लिखी जा सकती है। इसलिए प्रयोग आज का चलन नहीं है, वह वर्तमान जीवन की अनिवार्यता है। जो इस अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता वह कला-सृजन की मूलभू त वैज्ञानिक क्षमता को भी स्वीकार नहीं करता। प्रयोग केवल रूप-सज्जा को लेकर व्यक्त नहीं होता, उसमें इन सबसे अधिक मानव संवेदना की स्वीकृति है।"[1]इसप्रकार प्रयोग मानवीय चेतना के नवीन स्तरों का अनुसंधान कर अभिव्यक्ति के लिए नये-नये मार्गों का उद्‌घाटन करता है।

साहित्य में प्रयोग की आवश्यकता कई कारणों से अधिक बढ़ जाती है। वस्तुतः वस्तु-सत्य को नवनवोन्मेष रूप में प्रस्तुत करते समय प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। इसके अभाव में रचनात्मक कार्य संभव ही नहीं है। अज्ञेय जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "प्रयोग निरंतर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैंने जीवन भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवन भर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है तो यही पाया जायेगा कि उसकी 'कविता' कविता नहीं है; उसमें रचनात्मकता नहीं है , सृजन नहीं है, वह कला नहीं, शिल्प है, हस्तलाघव है।"[2] इसीतरह साहित्य में जब परंपराएँ रूढ़ हो जाती हैं अथवा साहित्य बँधे बँधाये नियमों के चंगुल में फँसकर अनुकरण का ढ़ाँचा मात्र रह जाता है तब उससे मुक्ति पाने के लिए प्रयोग आवश्यक हो जाता है। परंपराएँ स्वीकृत की जानी चाहिए लेकिन वहीं तक जहाँ तक वे रचनाकार की ग्रहण शक्ति या धारयित्री प्रतिभा पर बाधा नहीं डालतीं। इसलिए प्रयोग प्रतिभासंपन्न कलाकार की सहज प्रकृति है। वस्तुतः पुनरावृत्ति को कला या साहित्य का दोष समझा जाता है। परंपराओं का हावी होना पुनरावृत्ति के दोष से पीडित होने जैसा है, अतः यदि इस पुनरावृत्ति से कलाकार या साहित्यकार बचना चाहता है तो उसे अपनी

---

[1]लक्ष्मीकांत वर्मा - नयी कविता के प्रतिमान, प्र. सं. संवत् 2014, पृ. 191

[2]अज्ञेय - हिन्दी साहित्य-एक आधुनिक परिदृश्य, प्र. सं. 1967, पृ. 199

रचना के लिए अभिव्यक्ति के नये द्वार खोलने पडेंगे, जिसका यही अर्थ निकलता है कि रचनाकार के लिए प्रयोग आवश्यक है जिन्हें छोड़कर कलाकार शाश्वत सत्य को भी मौलिक रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी साहित्य में प्रयोग आवश्यक प्रतीत होते हैं। कलाकार की चेतना पर पड़नेवाले जीवन और जगत के प्रभाव एक समान नहीं होते हैं। इसलिए किसी भी कलाकार के जीवन की अनुभूतियाँ, दूसरे की अनुभूतियों से अवश्य भिन्न होती हैं। मीरा और महादेवी वर्मा, दोनों के काव्य में प्रेम की पीड़ा के उद्‌गार हैं, फिर भी दोनों की प्रेमानुभूति सर्वथा एक समान नहीं है। वास्तव में प्रत्येक क्षण एक ही कलाकार अथवा अनेक कलाकारों के लिए नयी एवं भिन्न उपलब्धियों का कारण होता है। इन नयी उपलब्धियों को यदि रचना का रूप देना हो तो निश्चय ही बिना प्रयोग के यह कार्य संभव नहीं। वास्तव में अनुभव की भिन्नता ही प्रयोगों का मूल है। भिन्नताओं को तथा परिवर्तित क्षणों में मानस पर पड़े भिन्न संस्कारों को प्रयोग द्वारा ही अभिव्यक्ति प्राप्त हो सकती है। इसप्रकार प्रयोग कलाकार के चेतन अथवा अचेतन मन पर पड़े क्षण-क्षण के संस्कारों को आकार प्रदान करने में सहायक सिद्ध होता है।

प्रयोग अपनी सैद्धांतिक प्रक्रिया में कभी पूर्ण नहीं होता, पर पूर्ण होने की प्रक्रिया में सतत प्रयत्नशील रहता है। अतः एक दृष्टि से प्रयोग का अर्थ अपूर्ण है, पर सीमित किसी भी दृष्टि से नहीं। एक ही वस्तु पर अनेक वैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोग किए हैं। उनमें से कुछ पूर्ण और सफल भी रहे, कुछ अपूर्ण भी। किंतु इन पूर्ण और सफल प्रयोगों पर आज भी प्रयोग किए जा रहे हैं। इसका अर्थ यह निकलता है कि किसी भी वस्तु में न पूर्णता है और न उसे पूर्णता मिलेगी और इसी कारण प्रयोग का सिलसिला सतत जारी रहता है। किसी प्रयोग की पूर्णता या असफलता का अर्थ, वस्तु को पूर्ण रूप से समझ लेना या उसे पूर्णतया समझने की असफलता नहीं है बल्कि प्रयोग की सफलता, प्रयोग करनेवाले की समझ या उसकी चेतना पर निर्भर है। यही स्थिति साहित्य में भी है। यदि कोई कलाकार साहित्य के किसी रूप पर सफलता पूर्वक प्रयोग कर ले तो इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य कलाकार उस रूप पर कोई दूसरा प्रयोग नहीं कर सकता। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में पुनः पुनः प्रयोगों की एक विराट श्रृंखला बनती रहती है।

हर युग की चेतना और हर युग का दर्शन अपनी अभिव्यक्ति केलिए नए-नए आयामों की खोज करता ही है । अतः जब-जब नयी चेतना का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब

साहित्य में प्रयोग की आवश्यकता होती ही है। सच तो यह है कि प्रयोग किसी काल विशेष के रचनाकारों की बपौती नहीं है बल्कि वह तो हर काल में हुआ करता है। नवीन बोधों और नवीन संदर्भों के जुड़ने से साहित्य में जो भी नयी धारा प्रवाहित होती है अथवा जो भी नये मोड़ परिलक्षित होते हैं, उनका मूलाधार प्रयोग ही होता है। शंकरदेव अवतरे के अनुसार "प्रयोग और कुछ भी नहीं है, वह साहित्य की ऐतिहासिक विवशता है। यही उसका प्रयोजन है। विभिन्न देशकाल की सीमाओं में जिन प्रवृत्तियों की प्रेरणा से साहित्य में जाने-अनजाने रचनात्मक और आलोचनात्मक मोड़ आते हैं वे प्रयोग हैं और उन प्रयोगों का उसी दृष्टि से यथार्थ मूल्यांकन भी प्रयोग है। इसप्रकार प्रयोग के स्वरूप में ही उसका प्रयोजन वसित है।"[1] वस्तुतः आज का साहित्यकार प्रयोग इसलिए करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि उसने हमारी वर्तमान युग और परिस्थिति से संबंधित कुछ ऐसे नये सत्यों एवं नयी मान्यताओं को ढूँढ़ निकाला है जिनकी अभिव्यक्ति अब तक अन्य किसी भी साहित्यकार ने नहीं की। इस संदर्भ में श्री एडिथ सिटवैल का विचार उल्लेखनीय है। उनका कहना है - "साहित्यकार को भाषा में कुछ ताज़गी, शिल्प में कुछ नूतनता, स्वर और दृश्य जगत् की कुछ नई खोज उपस्थित करनी चाहिए, अन्यथा वह केवल अतीत की प्रतिध्वनि मात्र है और उसे महान साहित्यकारों की श्रेणी में स्थान नहीं मिल सकता।"[2] यहाँ वस्तु, भाषा, शिल्प आदि की नव्यता पर बल देते हुए रचना में इन नूतनता के तत्वों की संपुष्टि के लिए प्रयोग को अनिवार्य माना है ।

मानव विकास का इतिहास इस बात की गवाही देता है कि प्रत्येक युग में मनुष्य ने उपलब्धियों के लिए नए साधन अपनाये। जब मनुष्य को पहली बार आग की प्राप्ति हुई तब उसने आग का तरह-तरह से इस्तेमाल करते हुए उससे होनेवाले हानि-लाभ को जाना और फिर आग को लेकर अपनी आवश्यकता के अनुरूप तरह-तरह के प्रयोग किये। इसीतरह भाषा को लेकर भी अनेक प्रयोग किए गए। वस्तुतः अपने आप को अभिव्यक्त करने की आदिम समस्या ने ही भाषा को जन्म दिया है और एक दृष्टि से भाषा का जन्म भी एक दीर्घकालिक प्रयोग की गाथा है। जैसे -जैसे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तेज़ होती है वैसे-वैसे विषयवस्तु में भी असाधारण विस्तार आता जाता है और साहित्यकार को

---

[1] डॉ.शकरदेव अवतरे-हिन्दी साहित्य में काव्य-रूपों का प्रयोग, प्र. सं.1962, पृ. 11

[2] Tradition and experiment in present day literature – Addresses deliveresdat the City Literary Institute - Edith Sitwell - Experiment in poetry, Oxford university press-1929, p. 74

नये-नये सत्यों से गुज़रना पड़ता है। किंतु इन नये सत्यों को बहुजन संवेद्य बनाने केलिए उसे भाषा को नया अर्थ देने की ज़रूरत पड़ती है और इसी बिंदु पर प्रयोग भी अनिवार्य हो जाता है। कभी-कभी लेखक या कवि अनुभव करता है कि भाषा का पुराना व्यापक तत्व उसमें नहीं है और उन्हें अपने जीवन-सत्य को दूसरों तक पहुँचाने में भाषा के प्रतीक लँगड़े-लूले प्रतीत होते हैं। अतः भाषा की संकुचित होती हुई सार्थकता को रचनाकार प्रयोग के साधन से व्यापक बनाने का प्रयास करता है, उसमें अधिक सार-गर्भित अर्थ भरना चाहता है। और ऐसा आज का साहित्यकार ही नहीं करना चाहता बल्कि प्रारंभ से ही रचनाकार विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग की आवश्यकता को महसूस करता आया है। कविता के संदर्भ में इस बात को स्वीकारते हुए अज्ञेय ने लिखा है –"प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किये हैं; यद्यपि किसी एक काल में किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किंतु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्र में प्रयोग हुए हैं; उनसे आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी नहीं छुआ गया, या जिन को अभेद्य मान लिया गया है।"[1]इसका अभिप्राय यह हुआ कि आज के समाज में जो नया विस्तार या नयी गहराई देखने को मिल रही है, उस गहराई तक पहुँचने के लिए रचनाकार को प्रयोग की आवश्यकता होती है। इसीतरह जहाँ आधुनिक समाज की जीवन परिपाटियों में अनेक स्तरीयता के कारण संप्रेषण की कठिनाई महसूस की जा रही है जिसका सामना करने के लिए प्रयोग एक आवश्यक स्थिति बन जाता है, वही, दूसरी ओर संकुचित होती हुई सार्थकता को व्यापक बनाने के लिए भी प्रयोग की आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य के लिए प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि प्रयोग के माध्यम से कथ्य और शिल्प के नये-नये आयाम खुलते हैं और साहित्य प्रासंगिक बनता है। रचनाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा या कल्पनाशक्ति का परिचय उसके द्वारा किये गये नवीन प्रयोगों से ही विशेष रूप से मिलता है। साहित्य की रुकी हुई धारा को आगे बढ़ाने में सार्थक नये प्रयोग सहायक सिद्ध होते हैं। अतएव प्रयोगधर्मिता न केवल रचनाकार की क्षमता और प्रतिभा का प्रमाण है, बल्कि वह किसी भी साहित्यिक विधा का नितांत अनिवार्य आयाम भी है। किंतु इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि

[1]अज्ञेय (सं) - तारसप्तक - आठवाँ संस्करण - 2003, पृ. 222

अनियंत्रित या निष्फल प्रयोगों से साहित्य की उतनी हानि नहीं होती जितनी किसी भी प्रकार के प्रयोग का मार्ग रोकने से होती है। क्योंकि प्रयोग का मार्ग खुलने से एक सीमा तक सफल प्रयोग भी अवश्य होंगे। किंतु यदि प्रयोग की प्रवृत्ति का ही विरोध किया जाएगा तो साहित्य जहाँ तक जा पहुँचा है उससे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाएगा। ऐसी स्थिति में साहित्य का विकास होना असंभव है। इससे केवल रूढ़िवादिता की रक्षा हो सकती है। अतः साहित्य में पुनर्जीवन लाने केलिए प्रयोग आवश्यक हो जाता है । बिना प्रयोग के साहित्य निर्जीव हो जाता है, बिना प्रयोग के युग जड़वत हो जाता है और गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । किंतु प्रयोग में सस्ती लोकप्रियता, फैशनपरस्ती, यश-धन कमाने के लिए सस्ती लोकरुचि को ग्रहण करना तथा पूर्व परंपरा का अनादर करके नाम कमाना अवांछनीय माना जाएगा। इसके विपरीत सार्थक प्रयोग के मूल में ईमानदारी होनी चाहिए और प्रयोग दृढ़, स्वतंत्र, भाषागत और युग की माँग के अनुरूप होना चाहिए। यदि आज का लेखक प्रयोग करते समय इन बातों का ध्यान रखे तो निश्चय ही वह साहित्य को ऊँचाई के शिखर पर पहुँचा सकेगा और यही आज के सर्जनात्मक साहित्य की अनिवार्यता समझी जाती है।

## 1.5 प्रयोग बनाम परंपरा

मानव संस्कृति के इतिहास को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें जहाँ एक ओर प्राचीन परंपराओं की स्वीकृति तथा पुष्टि होती रहती है वहाँ दूसरी ओर उनका खंडन करते हुए नवीन दृष्टियों एवं विचारधाराओं का प्रस्फुरण भी होता रहता है। स्थूल रूप से प्राचीन और नवीनता के तत्वों के लिए परंपरा और प्रयोग शब्द का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः काल का प्रत्येक खंड अपने समय का आधुनिक होता है । प्राचीन से प्राचीन काल में किसी भी क्षेत्र में जो ऐतिहासिक एवं युगांतरकारी परिवर्तन प्रकट होते हैं, वे सबके सब अपने समय के साहसिक और क्रांतिकारी प्रयोग हैं। मानव समाज ने आदिम युग से आज तक जो महायात्रा की है, उसका प्रत्येक कदम एक नया प्रयोग है और इन सब प्रयोगों का समुच्चय विशाल परंपरा को जन्म देता है। कहा जा सकता है कि परंपरा उस खड़े हुए पैर के समान है जिसका खड़ा होना चलने के लिए ज़रूरी है, उसीप्रकार प्रयोग चलता हुआ पैर है जिसके बिना विकास नहीं होता, चलना नहीं होता। अर्थात् गतिमान चरण को पिछले चरण का आधार न मिले तो यात्रा ही अधूरी रह जाएगी।

परंपरा और प्रयोग का सैद्धांतिक विवेचन करते हुए कई बुनियादी सवाल पैदा होते हैं। इन प्रश्नों के समाधान से पूर्व परंपरा के स्वरूप का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। परंपरा का स्थूल अर्थ अतीत काल से चली आ रही वह रीती या प्रथा है जिसका सामान्य रूप से समाज पालन करता है। 'हिन्दी शब्द सागार' के अनुसार परंपरा का अर्थ है- "(1) एक के पीछे दूसरा, ऐसी अटूट, श्रृंखला या क्रम, विशेषतः काल या घटनाओं आदि का)। अनुक्रम पूर्वापर क्रम । (2) वंशपरंपरा। संतति। औलाद। (3) बराबर चली आती हुई रीती। प्रथा।"[1]अंग्रेज़ी के 'ट्रेडीशन' शब्द का अर्थ भी लगभग यही है जो परंपरा का है। यानी "एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विश्वासों और रीतिरिवाज़ों का निरंतर दिया जाना तथा अतीत द्वारा दिये गये विश्वास, मान्यताएँ और रीति-रिवाज़।"[2][The handing down orally of stories,beliefs,customs,etc.from generation to generation]श्री आर. एच. मोट्टराम के मतानुसार "परंपरा वह वृत्ति है जो युगों से गुज़रती हुई अपने विभिन्न ऐतिहासिक तत्त्वों को साथ लेकर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलती रहती है।"[3][Tradition is ofcourse, that which is handed down through, or more exactly across the ages with their varying historical incidents.] यहाँ यह सवाल पैदा हो सकता है कि अगर पीढ़ियों द्वारा दी गयी अनुभव-राशि का नाम परंपरा है तो कितने पीछे की पीढ़ियों द्वारा दिये गये अनुभवों को 'परंपरा' का नाम दिया जा सकता है। रेमंड विलियम्स ने इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि —"परंपरा बनने में मात्र दो पीढ़ियों का वक्त लगता है।"[4][ It only takes two generations to make anything traditional.]इसतरह कहा जा सकता है कि सुदूर अतीत से लेकर दो पीढ़ी पहले तक के अनुभव, मान्यताएँ, रीतिरिवाज़ अथवा ज्ञानराशि हमारे लिए परंपरा है और आज हमारे बीच जो कुछ मौजूद है वह दो पीढ़ी बाद परंपरा का रूप धारण करेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि आज जो कुछ जैसा है भविष्य में भी वैसा ही रहेगा। इसके विपरीत परंपराएँ काल के साथ-साथ परिष्कृत होती रहती हैं। परिष्कार की इस प्रक्रिया में बहुत कुछ टूटता-छँटता है और उसमें कुछ जुड़ता भी रहता है।

वस्तुतः 'परंपरा', 'अतीत' का समानार्थक शब्द नहीं है। परंपरा इतिहास, संस्कृति, साहित्य किसी की भी हो सकती है जो समय के साथ-साथ टूटती-बिखरती और बनती रहती है। 'आलोचना' पत्रिका के संपादकीय में डॉ. नामवर सिंह ने इस संबंध में

---

[1]रामचंद्र वर्मा (सं) संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर - नागरी प्रचारणी सभा, काशी, प्र.सं. 1933, पृ. 594

[2]Websters New World Dictionary, Third college edition-1991,p.1417

[3]Tradition and experiment in present day literature- Addresses deliveresdat the City Literary Institute - R.H.Mottram:Tradition in the Novel, Oxford university press-1929, p. 12

[4]Raymond Williams – Key Words- "A vocabulary of culture and society" - Tradition-Fontana Press-1976, p. 319

लिखा है- "परंपरा यदि एक से दूसरे को और दूसरे से तीसरे को दिया जानेवाला पीढ़ी-दर-पीढ़ी का क्रम है तो हस्तांतरण के इस क्रम में ज़रूरी नहीं कि अतीत की संपूर्ण निधि अविकल रूप में सारी की सारी सुलभ होती चली जाए। प्रायः हर मंज़िल पर कुछ छूटता है , कुछ नया जुडता है और कुछ बदलता भी है।"[1]

डॉ. विद्यानिवास मिश्र के अनुसार "परंपरा का अर्थ है; पर के भी जो परे हो, श्रेष्ठ से भी जो श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो न भविष्यत्, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरंतर साध्य हो। परंपरा इसीलिए साधना का पर्याय है। आचार का अनुशासन वह स्वीकार इसलिए करती है कि एकाग्र होकर, सत्यनिष्ठ होकर विचार के प्रवाह को साधे रहे, विचार के प्रवाह को कभी जड़ न होने दे-सीधी रेखा में नहीं, वर्तुल गोलाइयों में उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होती रहे।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती अनुभव हमारे विचार को जब तक जड़ न होने दें तब तक वह स्वीकारणीय है। एक ऐसा अनुभव जो न कभी भूत हो, न भविष्यत, जो सतत वर्तमान हो, परंपरा कहलाता है। ऐसी स्थिति में परंपरा कभी सिद्ध नहीं होती, बल्कि निरंतर साध्य बनी रहती है। इसीलिए परंपरा को साधना का पर्याय कहा जाता है। क्योंकि वह निष्ठा, आस्था औ र विवेक से अर्जित की जाती है। कई बार परंपरा को मुक्ति या स्वतंत्रता के रास्ते का काँटा मान लिया जाता है। किन्तु सच तो यह है कि जब हम परंपरा की अवधारणा को स्वीकार करते हैं तो हम स्वेच्छा से अनुशासन को ही स्वीकार करते हैं। इसीलिए परंपरा हमें बल देनेवाली शक्ति के रूप में सामने आती है, बंधन के रूप में नहीं। विद्यानिवास मिश्र जी ने लिखा है- "परंपरा अपने को ही काटकर तोड़कर आगे बढ़ती है , इसलिए कि वह निरंतर मनुष्य को अनुशासित रखते हुए भी स्वाधीनता के नये-नये आयामों में प्रतिष्ठित करती चलती है। परंपरा बंधन नहीं है, वह मनुष्य की मुक्ति (अपने लिए ही नहीं, सब के लिए मुक्ति) की निरंतर तलाश है ।"[3]इसलिए जब भी किसी समाज पर संकट आता है तो वह अपनी परंपरा से जीवन रस प्राप्त करता है। अपनी अस्मिता के बोध होने पर ही समाज एक प्रकार की शक्ति प्राप्त करता है और अस्मिता का यह बोध परंपरा के मंथन द्वारा ही मिलता है।

प्रत्येक युग में परिवर्तन या बदलाव होता रहता है। लेकिन यह परिवर्तन तभी संभव है जब हम समाज के पुराने ढ़ांचे को, पुराने जीवन मूल्यों को भली-भांति समझें और फिर उन बिन्दुओं को उभारकर लाएँ जहाँ पुराने को बदलकर नये मूल्यों को स्थापित

---

[1]नामवर सिंह (सं)-आलोचना-संपादकीय, अक्तूबर-दिसंबर 1983

[2]विद्यानिवास मिश्र-परंपरा बंधन नहीं, प्र. सं. 1976, पृ. 12

[3]विद्यानिवास मिश्र-परंपरा बंधन नहीं, प्र. सं. 1976, पृ. 15

करना है। इसलिए युग परिवर्तन के लिए परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। हर युग अपने विवेक, अपनी प्रज्ञा, अपने युगबोध, अपने सौंदर्यबोध तथा अपनी गंभीर संवेदनाओं से मनुष्य जाति के सांस्कृतिक धरोहर में, जो उसे अपने पूर्ववर्तियों से मिला था, नया कुछ जोड़ता है। आनेवाली पीढ़ी उसमें से कुछ रख लेती है जो सत्य है, स्वीकारने योग्य है और बहुत कुछ अस्वीकार कर देती है जो इस बीच बासी पड़ चुका है, जूठा पड़ चुका है। यह नयी पीढ़ी उस सांस्कृतिक कोष में अपना कुछ जोड़ती है जिसकी परीक्षा, संग्रह और परित्याग की प्रक्रिया उसके बाद आनेवाली पीढ़ी करती है। इसप्रकार विकासमान परंपरा बढ़ती हुई उस नदी के समान है जो अविराम आगे बढ़ती है।

साहित्य के संदर्भ में भी परंपरा एक व्यापक अनुभव के रूप में पाठकों के लिए, आज के लेखक और साहित्य के लिए सार्थक महत्व रखती है। इस संदर्भ में परंपरा का अर्थ निकलता है- वे सारी साहित्यिक मान्यताएँ और अभिव्यंजना की प्रणालियाँ जो एक लेखक को अतीत से प्राप्त होती हैं। साहित्य के नये आयामों को प्रस्तुत करने के लिए अपनी साहित्यिक परंपरा का ज्ञान अनिवार्य है। इलियट ने कहा है- "हम अपने पूर्ववर्ती लेखकों से इसलिए अलग हैं क्योंकि हम उनसे कहीं अधिक जानते हैं।"[1] [The dead writers are remote from us because we know so much more than they did.] यह अधिक और कुछ नहीं, बल्कि वे पूर्ववर्ती लेखक ही हैं जिन्हें हम पहचानते हैं। इसी को हम परंपरा के निर्माण और स्वीकार की प्रक्रिया कहते हैं। प्रायः पूर्ववर्ती लेखकों से, परंपरा से विद्रोह की बात कही जाती है। पर परंपरा से विद्रोह करके कुछ हो सकता है तो केवल इतना ही कि हम अपने को परंपरा के आगे जोड़ दें। अर्थात् साहित्यकार आत्मदान के द्वारा पूर्ववर्ती परंपरा या पूर्ववर्ती अनुभव के आगे अपना अनुभव जोड़ देता है। ऐसा करना साहित्यकार की मृत्यु या उसका विलीन होना नहीं है बल्कि ऐसा करके वह समूची साहित्यिक परंपरा को पोषित करता है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने भी परंपरा के विषय में यही कहा है- "कोई भी देश अपनी साहित्यिक परंपरा से नाता नहीं तोड़ सकता। अतीत का प्रभाव वर्तमान पर पड़ता ही है । इसके साथ ही उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय परंपरा बहुत पुरानी है। पुरानी ही नहीं अतिशय समृद्ध भी है। ऐसी स्थिति में यह संभव नहीं है कि हम अपनी सारी विरासत को छोड़कर दूसरे देशों के साहित्यों का

[1]John Hayward(Ed.)- Selected prose- T.S. Eliot- Tradition and theindividual talent, First Published by Penguine books 1953, p.25

छिछला अनुकरण करने लगें।"[1]यहाँ परंपरा को अपने पूर्वजों से प्राप्त विरासत के रूप में अंकित किया गया है।

किसी रचनाकार का परंपरा विशेष से क्या संबंध है, इसे समझने के लिए दो बातों को ध्यान में रखना अनिवार्य है - अतीत की अपरिहार्य अनुभूति और वर्तमान के साथ अतीत की संबद्धता। इन दोनों सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में ही उपर्युक्त संबंध को परखना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि लेखक की सफलता इसमें है कि वह जलधारा के समान प्रवाहमान परंपरा को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और समय की आवश्यकता के अनुसार नई दिशा में मोड़ दे। अतीत को स्वायत्त करने का प्रयत्न तथा उसे वर्तमान परिवेश में देखने की सूक्ष्मता - ये दोनों बातें किसी लेखक को सच्चे अर्थ में परं परा से संबद्ध करती हैं। किंतु अतीत की विवेकशून्य अनुकृति के रूप में रचित ऐतिहासिक नाटकों या उपन्यासों का वर्तमान से कोई सजीव संबंध नहीं होता है और इसी कारण इनका अतीत से कोई वास्तविक संबंध भी नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध समीक्षक टी.एस. इलियट भी यही मानते हैं कि यदि परंपरा से तात्पर्य केवल अपने पूर्व की पीढ़ी का अंधानुसरण है तो अवश्य ही वह त्याज्य है, पर वास्तव में परंपरा बहुत विस्तृत महत्व रखती है। इसे पैतृक संपत्ति की तरह नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसके लिए पहली आवश्यकता है- ऐतिहासिक जागरूकता की; और ऐतिहासिक जागरूकता के लिए केवल प्राचीन के पुरानेपन को समझना ही पर्याप्त नहीं वरन् प्राचीन के नयेपन को भी समझना आवश्यक है।[2][ It involves, in the first place, the historical sense, ********** and the historical sense involves a perception, not only of the pastness of the past, but of its presence; the historical sense compels a man to write not merely with his own generation in his bones, but with a feeling that the whole of the literature of Europe from Homer and within it the whole of the literature of his own country has simultaneous existence and composes a simultaneous order. this historical sense, which is a sence of the timeless as well as of the temporal and of the timeless and of the temporal together, is what makes a writer traditional.]इलियट के इस कथन से यह स्पष्ट है कि परंपरा के नाम पर न तो प्राचीन अभिनंदनीय है न त्याज्य। उचित यह होगा कि प्रत्येक नया साहित्यकार परंपरा का अध्ययन करे , रूढ़िवादी होने के नाते नहीं, वरन् प्राचीनता की पृष्ठभूमि में नये चित्रों को अधिक सूक्ष्मता से उभार सकने के लिए।

---

[1]नंददुलारे वाजपेयी- नया साहित्य :नए प्रश्न , प्र.सं. 1955, पृ. 128

[2]John Hayward(Ed.)- Selected prose-T.S.Eliot-Tradition and the individual talent, First Published in Penguine books 1953, p. 22-23

इलियट ने स्पष्ट कहा है कि किसी भी कवि अथवा कलाकार का नितांत अपने आप में ही कोई अर्थ नहीं होता। उसका महत्त्व , उसका मूल्यांकन उसके और प्राचीन कवियों एवं कलाकारों के संबंध का मूल्यांकन है। हम केवल उसका अकेले का ही मूल्य नहीं आँक सकते। हमें गत कवियों और उसमें जो साम्य एवं भिन्नता है, उस ओर ध्यान देना ही होगा। इलियट के शब्दों में- "No poet, no artist of any art, has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relation to the dead poets and artists. You cannot value him alone ; you must set him, for contrast and comparison, among the dead"[1] टी.एस. इलियट की यह बात आज के उन अधिकांश साहित्यकारों के लिए महत्वपूर्ण निर्देश है जो साहित्य और लेखन को परंपरा से काटकर एकदम अलग रखते हैं और ऐसा करने में ही वे गर्व का अनुभव करते हैं। यहीं पर परंपरा नये लेखक के सामने खड़ी होकर चुनौती दे ती है कि वह उससे आगे बढ़कर दिखाए, उसके आगे एक और कड़ी के रूप में जुड़कर दिखाए। किसी भी लेखक के लिए परंपरा की कड़ियों में एक अन्य कड़ी के रूप में जुडना तभी संभव होता है जब वह अपने से पूर्ववर्ती लेखन को भली-भाँति समझे। यही परंपरा चुनौती और समस्या के रूप में आधुनिक लेखकों के सामने आती है। जब साहित्य में नयी कड़ी जुड़ती है या नया कुछ घटित होता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह साहित्य की पूरी परंपरा में घटित होता है । इसलिए हम नये लेखन को पूर्ववर्ती लेखन से काटकर नहीं देख सकते। इलियट कहते हैं- "when a new work of art is created is something that happens simultaneously to all the works of art which preceded it."[2] इलियट का यह विचार इस बात की ओर संकेत करता है कि लेखन न तो आधुनिक है और न एकदम पुराना। क्योंकि नया लेखन भी निरर्थक हो सकता है और पूर्ववर्ती लेखन भी प्रासंगिक हो सकता है। असल में पूर्ववर्ती लेखन और नया लेखन दोनों एक दूसरे को परखने की कसौटी है जहाँ एक से दूसरे के महत्त्व को, उसकी गुणवत्ता को समझ सकते हैं।

इसप्रकार स्पष्टतः कहा जा सकता है कि हर युग में समाज को अपनी परंपरा को जाँचते-परखते आगे बढ़ना पड़ता है। आवश्यकतानुसार उसे स्वीकारना भी होता है और उसे त्यागते हुए भी चलना पड़ता है। किन्तु जहाँ हम पुराने को त्यागते हैं वहाँ यह भी विवेकसम्मत ढ़ंग से सोचना पड़ता है कि उसके स्थान पर नया क्या और कितना ग्रहण

---

[1] John Hayward(Ed.)- Selected prose- T.S. Eliot- Tradition and the individual talent, First Published in Penguine books 1953, p.23

[2] John Hayward(Ed.)- Selected prose- T.S. Eliot- Tradition and the individual talent, First Published in Penguine books 1953,p . 23

करें। ऐसी स्थिति में प्रयोगशील मानसिकता तथा प्रयोगशील दृष्टि हमारे लिए सहायक सिद्ध होती है। वस्तुतः साहित्य के संदर्भ में प्रयोग वह साधन है जिसके द्वारा रचनाकार अपने पूर्ववर्ती साहित्य की ग्राह्य परंपरा को स्वीकार करते हुए अपने को उस लेखन से भिन्न रखता है तथा उसमें नवीन कलात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करता है। कोई भी प्रयोगधर्मी रचनाकार अपनी पूर्ववर्ती परंपरा से एकदम टूटता नहीं है। वस्तुतः परंपरा कोई स्थिर वस्तु है भी नहीं। वह तो सतत गतिशील है और इसलिए परिवर्तनशील एवं विकासमान भी होती है। परंपरा की यही परिवर्तनशीलता और उसमें निहित नवीन संभावनाओं के बीज नये प्रयोगों को जन्म देते हैं।

यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि परंपरा और प्रयोग में क्या संबंध है? वस्तुतः 'परंपरा' और 'प्रयोग' जैसे शब्दों को उनके सही अर्थों में ग्रहण करना ज़रूरी है। 'परंपरा' का अर्थ 'रूढ़ि' नहीं है और न प्रयोग का अर्थ 'चमत्कार' है। वस्तुतः परंपरा की दो अर्थ दिशाएँ हैं- गतिशील और जड़। विशेषतः विकसनशील परंपरा ही आलोचकों द्वारा परंपरा रूप में स्वीकृत है। जड़ परंपरा तो रूढ़ि है। दरअसल परंपरा और प्रयोग मानव जीवन के दो अभिन्न पक्ष हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मनुष्य अपने पूर्व अर्जित ज्ञान के आधार पर प्रयोग करता है। जो कुछ उसने अपने पूर्व पुरुषों से उत्तराधिकार के रूप में पाया है , उसे समृद्ध बनाते हु ए उन परम्पराओं में अपने प्रयोगों की कड़ियाँ जोड़कर उन्हें भविष्य में जीवित रहने का अवसर देता है। इसप्रकार परंपरा और प्रयोग विकास की भूमिका में अन्योन्याश्रित हैं । परंपरा और प्रयोग को अलग करके नहीं देखा जा सकता। अमृतराय के अनुसार- "युगधर्मी प्रयोगों से ही परंपरा का सूत्रपात हुआ था और उन्हीं के सहारे उसमें नित नयी कड़ियाँ जुड़ती रही हैं और उन सब को लिए-दिए, समय की धारा में छनती-निथरती परंपरा हम तक आती है, इसलिए कि हम भी अपने युगधर्मी प्रयोगों से उसमें नया कुछ जोड़ सकें।"[1] आगे वे कहते हैं, "सजीव परंपरा वही है जो अनजाने ही हमारे मानसलोक का वायुमंड़ल बन जाती है। ********** परंपरा कभी किसी को एकदम साफ-सुधरी सजी-सँवरी नहीं मिलती। रूढ़ियाँ भी उसके साथ अनिवार्य रूप से लिपटी रहती हैं। स्वस्थ और अस्वस्थ तत्त्व एक में एक गूँथे रहते हैं। ऐसी स्थिति में एक को दूसरे से अलग करके जो श्रेयस्कर

[1] अमृतराय- सहचिंतन, प्र. सं.1967, पृ. 55

है, वरेण्य है उसको अपनाने और दूसरे को छोड़ने का दायित्व प्रयोगकर्त्ता का अपना दायित्व है।"[1]अस्तु, प्रयोग का लक्ष्य परंपराओं का खंड़न करना नहीं है, वरन् उसके निर्जीव तत्त्वों के स्थान पर नये जीवंत तत्त्वों का अन्वेषण करना है। देश और काल के अनुसार प्रत्येक परंपरा मूलतः प्रयोगात्मक रूप में ही विकसित होती है। किंतु जब वह देश और काल की प्रगति के साथ आगे विकसित होना बंद कर देती है तो उसका रूप रूढ़ि का हो जाता है । रूढ़ि की कोई तार्किक संगति नहीं होती न उसका वर्तमान से कोई संबंध है। रूढ़िवादिता में परिवर्तन की गुंजाइश नहीं होती, वह जड़ होती है। इसमें न तो नवीनता के प्रति आकर्षण रहता है और न स्फूर्तिदायक सजीवता। परंपरा और रूढ़ि का अंतर स्पष्ट करते हुए डॉ. विद्यानिवास मिश्र ने लिखा है- " परंपरा की दृष्टि हमेशा भविष्यत् की ओर है, वह भविष्यत् की दृष्टि से अतीत का पुनर्दोहन करती है और वर्तमान को अर्थ की तलाश के लिए बेचैन करती है, जबकि रूढ़ि अतीत से एकदम विच्छिन्न होकर भी अतीत बनी रहना चाहती है। रूढ़ि टूटती है तो चली जाती है। परंपरा टूटती है तो बढ़ जाती है। ठीक-ठीक कहें, वह टूटती नहीं, और लचती है लचने से बढ़ जाती है।"[2]इसतरह परंपरा एक विकासशील प्रक्रिया है। वह हमारे संचित अनुभवों का ही नाम है । उसे झुठलाने का अर्थ है- अपने संचित अनुभवों को झुठलाना, अपने चिंतन को खंड़ित और खोखला बनाना। वस्तुतः परंपराओं से पूरी तरह मुक्त होना संभव ही नहीं है। अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का हम प्रयोग करते हैं वह स्वयं हमें परंपरा से प्राप्त होती है। अज्ञेय कहते हैं- "यह कहने केलिए कि हम परंपरा से मुक्त हैं, भाषा का उपयोग करना कितनी बड़ी विड़ंबना है। भाषा हमारी सबसे पुरानी, सबसे कड़ी अनुल्लंघ्य सांस्कृतिक रूढ़ि है। अपने दावे के लिए उसका सहारा लेना- और दावे के लिए भाषा का सहारा अनिवार्य है! - सिद्ध कर देता है कि दावा बेमानी है।"[3]इससे स्पष्ट है कि हम जिस भाषा संसार में जीते हैं उसकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं। यदि परंपरा में विकास की शक्ति नहीं, गति नहीं तो वह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकती। स्वस्थ परम्पराओं में से ही नये रूप, नये विचार एवं नयी अभिव्यक्ति के नये प्रकारों का विकास होता है ,

---

[1]अमृतराय- सहचिंतन, प्र. सं.1967, पृ. 56

[2]अज्ञेय (सं)-सर्जन और संप्रेषण- विद्यानिवास मिश्र-हमारी परंपरा और हम, प्र. सं. 1984,पृ. 4

[3]अज्ञेय - भवन्ती, प्र. सं. 1972, पृ.25

जिसे हम नया प्रयोग कह देते हैं। जिस क्षण कोई भी कलाकार या रचनाकार अपनी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए रूढ़ियों का परित्याग करके नए माध्यमों को अपनाता है, तो वह प्रयोगधर्मिता की ओर उन्मुख होता है। दूसरे शब्दों में, जहाँ कलाकार रूढ़ियों को छोड़कर साहसपूर्वक प्रयोग करता है वहीं परंपरा का सूत्रपात होता है और जिसे हम आज परंपरा कहते हैं वह इन्हीं साहसपूर्ण प्रयोगों की परंपरा है।

जीवन और साहित्य में, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विकास का क्रम चलता रहता है। परंपरा और प्रयोग, दोनों इस विकास के सत्य को परिचालित करते हैं। परंतु इन दोनों में निश्चित अंतर भी है- (1) परंपरा जीवनधारा को अविच्छिन्न बनाने के लिए स्थायित्व प्रदान करता है तो प्रयोग उसे गति देने केलिए प्रेरणा एवं चंचलता प्रदान करता है। (2) परंपरा का संबंध अतीत से तथा प्रयोग का वर्तमान युग से होता है। (3) परंपरा अतीत का आश्रय ग्रहण कर रचनात्मक निर्माण की ओर प्रेरित करती है जबकि प्रयोग चेतना के नवीन स्तरों का अनुसंधान करके अभिव्यक्ति के लिए नए-नए मार्गों का उद्‌घाटन करता है। (4) परंपरा का वर्तमान में पुनर्निर्माण किया जाता है, पर प्रयोग प्रथम निर्मित होता है। (5) परंपरा की यात्रा अतीत से वर्तमान के बीच हो ती है, पर प्रयोग की यात्रा वर्तमान से भविष्य की ओर होती है। (6) परंपरा व्यक्ति को अपनी विरासत की समझ देती है जबकि प्रयोग में व्यक्ति की रचनात्मक संभावनाएँ उजागर होती हैं। (7) परंपरा द्वारा होनेवाले परिवर्तन शनैः-शनैः, सुदीर्घ- काल में होते हैं और प्रायः अज्ञात रूप से होते हैं। परंतु प्रयोग द्वारा होनेवाले परिवर्तन क्रांतिकारी होते हैं और पूर्व स्थापित धारणाओं में हलचल मचा देते हैं।

फिर भी यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि परंपरा और प्रयोग में अंतर होते हुए भी इन्हें सर्वथा विरोधी तत्त्वों के रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि दोनों का ही लक्ष्य जीवन और साहित्य की उत्तरोत्तर प्रगति में सहायक होना है। इस संदर्भ में परंपरा और प्रयोग एक दूसरे के पूरक है। वास्तव में जो कल प्रयोग था, वह आज परम्परा है और जो आज प्रयोग है , वह कल परंपरा बन सकता है। डॉ.सत्येंद्र ने परम्परा और प्रयोग के संबंध पर प्रकाश डालते हुए कहा है- "प्रयोग जब बहुग्राह्य हो उठता है और

कालक्रम में दीर्घ इतिहास खड़ा कर लेता है तो वही परंपराबद्ध हो जाता है।"[1]आगे वे कहते हैं- "प्रयोग और परंपरा में वही अंतर है जो 'बिन्दु' और 'रेखा' में है। बिन्दु एक प्रकार से प्रयोग है, परम्परा रेखा है। यद्यपि यह सत्य है कि एक बिन्दु की परंपरा ही रेखा है फिर भी यह स्पष्ट है कि 'रेखा' प्रवृत्ति और प्रकृति में 'बिन्दु' से पूर्णतः भिन्न होती है, केवल तत्वतः वे समान है।"[2] यहाँ दीर्घकाल की आवृत्ति और बहुग्राह्यता से प्रयोग के परंपरामय हो जाने की ओर संकेत किया है। वस्तुतः परम्परा सफल प्रयोगों की ही परिणति है। दरअसल, परंपरा और प्रयोग के बीच कार्य-कारण का संबंध है । वर्तमान युग के प्रयोगों का कारण अतीत की परंपराओं में ढूँढ़ा जा सकता है क्योंकि अतीत वर्तमान का जनक है। हमारा आज पूर्वकालीन स्थितियों का परिणाम है तथा पूर्व की परिस्थिति उससे पूर्व की परिस्थितियों का प्रतिफलन है। इसप्रकार कार्य-कारण की यह अटूट परंपरा चिरकाल से चली आ रही है। प्रयोग और परंपरा का सामंजस्य भी यही है कि प्रयोग अतीत के अनुभवों के आधार पर निरंतर आगे बढ़ने की शक्ति ग्रहण करता चलता है क्योंकि अतीत का अनुभव भविष्य के लिए नयी दृष्टि का द्वार खोलता है। परंपरानुगत सत्य से प्रभाव ग्रहण कर के नये-नये अन्वेषण करने में ही प्रयोग की सार्थकता है। वस्तुतः परंपरा में ही प्रयोग के बीज छिपे होते हैं। प्रयोग का लक्ष्य भी परंपरा बनने में ही है। इसप्रकार प्रयोग तथा परंपरा, क्रिया- प्रतिक्रिया के रूप में चक्रवत् निरंतर घूमते रहते हैं और जीवन तथा साहित्य की धारा को निरंतर गतिशील और प्रवाहमान रखते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि मानव समाज का विकास सतत चलता रहता है और परंपरा की एक जीवंत चेतना उसके विकास में सहायक होती है। पर विकास के लिए परंपरा का चेतन और गतिशील दृष्टि से संपृक्त होना आवश्यक है । परंपरा की रक्षा मात्रा सब कुछ नहीं है और न ही उसकी दुहाई देने भर से काम चलेगा, प्रत्युत सबसे अनिवार्य तो उसके जड़ीभूत एवं गलित अंशों से मुक्ति पाना ही है। लक्ष्मीकांत वर्मा का यह कथन

---

[1]डॉ.गोपाल दत्त सारस्वत-आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग- डॉ. सत्येन्द्र : परंपरा तथा प्रयोग का दर्शन-भूमिका, प्र.सं.1961

[2]डॉ.गोपाल दत्त सारस्वत- आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग- डॉ. सत्येन्द्र : परंपरा तथा प्रयोग का दर्शन-भूमिका, प्र.सं.1961

सार्थक है कि "आज का परंपरावादी वह अंतर्दृष्टि नहीं रखता जो उसे अपने पूर्वजों से मिली है, इसलिए वह केवल आँख बंद करके शब्दवेध पर अग्रसर होना चाहता है। जो भी प्रवृत्ति केवल पूर्वजों के यशगान में तुष्टि पाती है उसमें कहीं ऐसी कायरता भी हो सकती है जो उसे गिरवी रखकर नये यश को खरीद सकने में अपना सारा सामर्थ्य लगा दे। परंपरा की रक्षा पर ज़ोर देनेवाले परंपरा की वृद्धि के प्रति विश्वास नहीं रखते, वे केवल उसकी रक्षा से ही संतुष्ट हो लेते हैं क्योंकि उस संपत्ति के आधार पर आगे बढ़ने की शक्ति उनके पास होती ही नहीं।"[1]यहाँ बदलते हुए परिवेश के अनुसार परंपराओं के भी पुनर्संस्कार की आवश्यकता पर बल दिया है और परंपराओं को नवीन संदर्भों में ढ़ालने का कार्य प्रयोग द्वारा ही संभव है। इसप्रकार परंपरा और प्रयोग अविच्छिन्न श्रृंखला की कड़ियाँहैं।

यदि हम परंपरा और प्रयोग के अंतर्संबन्धों पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इनके अभाव में विकास का क्रम टूट जाएगा। वस्तुतः परंपरा कोई बंधी-बंधाई सुनिश्चित वस्तु नहीं होती है। यदि वह बंधी-बंधाई हो तो उससे छुटकारा पाना ही नयी परंपरा होगी और इस नयी परंपरा का सूत्रधार प्रयोग ही होगा। इसप्रकार विकास की इस प्रक्रिया में प्रयोग संभावनाओं तक पहुँचाने का माध्यम है। कालांतर में ये प्रयोग ही परंपरा का रूप धारण कर लेते हैं और फिर नवीनतम प्रयोग प्रगति के कारक बनकर विकास क्रम को आगे बढ़ाते चले जाते हैं। अज्ञेय का परंपरा और प्रयोग के संबंध में अपना स्पष्ट मत है- ''जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परंपरा की दुहाई देते हैं; वे यह भूल जाते हैं कि परंपरा कम से कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बाँधकर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है जिसे वह उठाकर सिर पर लाद ले और चल निकले। परंपरा का, कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजाकर, तोड़-मरोड़कर देखकर आत्मसात नहीं कर लेता; जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उसका चेष्टापूर्वक ध्यान रखकर उसका निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाये।"[2]इसप्रकार

---

[1]डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान, प्र.सं. संवत् 2014, पृ.182

[2]अज्ञेय - हिन्दी साहित्य-एक आधुनिक परिदृश्य, प्र. सं. 1967, पृ. 198

स्पष्ट है कि प्रगति के लिए प्रयोग अनिवार्य है। किन्तु यह भी सत्य है कि परम्परा को झुठलाकर कोई प्रगति संभव नहीं है। अपने को परंपरा की ज़ंजीर में अगली कड़ी के रूप में स्वीकार करने से ही प्रगति हो सकती है। कोरे चमत्कार प्रदर्शन अथवा मात्र मौलिकता के कृत्रिम आग्रह में किए गए प्रयोग किसी भी साहित्य के लिए अवांछनीय होते हैं। परंपरा में जो कुछ भी परिवर्तनहीन, निष्प्राण, असमयोचित और संभावनाहीन है उसे तो बाहर फेंकना आवश्यक है किंतु प्रयोग के मोहावेश में शाश्वत, जीवंत और प्रगतिशील तत्वों की उपेक्षा करना निश्चय ही खतरनाक है।

परंपरा और प्रयोग का प्रश्न अनेक युगों में विभिन्न आयाम ग्रहण करता आया है। वास्तव में प्रत्येक महान साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती एवं समवर्ती साहित्यकारों का ऋणी होता है। क्योंकि उनसे बहुत कुछ सीखने को मिलता है। इसलिए कभी यह दावा नहीं किया जा सकता कि प्रयोगधर्मी रचनाकार जो कुछ भी लिखता है, वह सारे का सारा पूर्णतः मौलिक एवं सर्वथा नवीन हो। महान रचनाएँ परंपरा-प्राप्त एवं लोकप्रचलित कथानकों को आधार बनाकर चलने पर भी न अमौलिक कही गई हैं और न नगण्य। इसका अर्थ यह हुआ कि परंपरा और प्रयोग एक दूसरे से जुड़कर चलती है। कोई कलाकार अपने युग के यथार्थ को पूर्ण प्रतिबद्धता के साथ अभिव्यक्त करने की, चाहे जितनी भी कोशिश करे, फिर भी वह परंपरा मुक्त होकर कुछ कर पाने में अपने आप को असमर्थ पाएगा, क्योंकि कोई भी अभिव्यक्ति न ऐतिहासिक दायित्व से मुक्त होती है और न हो सकती है। उदाहरणार्थ हम धर्मवीर भारती के काव्यनाटक 'अंधायुग' को ले सकते हैं। इसमें दो विश्वयुद्धों की पृष्ठभूमि में युद्धजन्य समस्याओं को अनेकायामी धरातल पर प्रस्तुत किया है, जबकि कथानक, पात्रयोजना आदि महाभारत तथा विष्णुपुराण से गृहीत है । इसकी वर्णनात्मकता एवं दार्शनिकता का आधार प्राचीनतम महाकाव्य एवं दार्शनिक ग्रंथ होते हुए भी गहराई से विचार करें तो कह सकते हैं कि अंधायुग का महत्व उसकी परंपरा एवं प्रयोग दोनों के कारण हैं। यथार्थतः 'अंधा युग' पुरानी परंपरा का सूत्र ग्रहण कर, प्रयोग के माध्यम से नवीन परंपरा गढ़ रहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रयोग नई परंपरा का विकास करते हैं और जीवन की नयी संभावनाओं के उद्घाटन के लिए, नये मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए नयी राहों की तलाश करते हैं। इस तलाश में पारंपरिक संदर्भ नयी अभिव्यक्ति प्रदान करने लगते हैं और 'अंधायुग', 'कामायनी', 'माधवी' जैसी कई रचनाओं का प्रणयन होता है। इसमें कथा पुरानी है, प्रसंग अतीत का

है किंतु संवेदना नवीन है। लक्ष्मीकांतवर्मा ने लिखा है- "प्रयोग की प्रेरणा परंपरा में ही निहित रहती है। यदि कोई परंपरा विकास की अपेक्षा स्थिरता और प्रयोगहीनता को प्रश्रय देती है तो वह परंपरा तो नहीं हो सकती और चाहे जो हो। वस्तुतः प्रयोग प्रगतिनिष्ठ होने के नाते परंपरा के सशक्त स्वरों को स्वीकार करके नयी संभावनाएँ अंकित करता है। प्रत्येक प्रयोग कालांतर में परंपरा बन जाता है; इसलिए जिस परंपरा में आगे प्रयोग करने की प्रेरणा निहित नहीं होती, वह उतनी ही निरर्थक होती है जितना कि वह प्रयोग जो नयी परंपराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है। परंपरा हमारा दायित्व है , प्रगति विकास की प्रवृत्ति है और प्रयोग भविष्य की दृष्टि, संभावनाओं तक पहुँचने का माध्यम। इतिहास में कोई भी परंपरा चिरस्थायी नहीं रही है, उसने हमेशा नयी परंपराओं को प्रेरित किया है। प्रयोग और परंपरा में यही अनिवार्य संबंध है। आज का प्रयोग आनेवाले युग की परम्परा निर्धारित करेगा- ऐसी परंपरा जिसमें ठहराव नहीं होगा, गति होगी, और जिसकी गतिशीलता ही नये प्रयोगों को प्रेरणा देगी।"[1]उपर्युक्त उद्धरण से प्रयोग और परंपरा का संबंध बिल्कुल पूर्ण रूप से प्रकट होता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आज जो परंपरा जिस रूप में है, नये संदर्भों में उसे वैसा का वैसा ही स्वीकार नहीं कर सकता; चाहे वह सौन्दर्य की परंपरा हो या साहित्य की। पुराने ज़माने में ब्राह्मण लोग चोटी बनाते थे और पुरुष अपने कान छेदकर आभूषण पहनते थे। इन सबमें उस समय के लोगों को सुन्दरता नज़र आती थी। किंतु आज ऐसा हो तो कितना हास्यास्पद लगेगा। क्योंकि तब से अब तक की यात्रा में सौंदर्य की परिभाषा बदल गयी है। इसीप्रकार इतिहास के पन्नों में भी जो कुछ है, वह सब परंपरा नहीं बनता, जितना अंश जीवंत और विकासशील होता है, वही परंपरा बनता है। इतिहास के सिकन्दर, नेपोलियन या नादिरशाह परम्पराओं का विकास नहीं करते और न ही कोई स्थाई परंपरा स्थापित कर पाते हैं। इतिहास की परंपरा को विकसित करने की शक्ति बुद्ध, ईसा, गाँधी आदि प्रबुद्ध लोगों में थी। क्योंकि ये सब रूढ़ि-भंजक रहे और नयी दिशाओं का निर्माण करते हुए इन लोगों ने नयी परंपराएँ स्थापित की हैं। वस्तुतः परंपरा का मानदंड़ ही विकासशील चेतना है। लक्ष्मीकांत वर्मा का यह कथन यहाँ महत्वपूर्ण है "परंपरा का मानदंड मात्र यह है कि वह प्रगति में बाधक न बने, उसकी सहज विकासशील प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर विकसित होने दे। परंपरा में पूर्वाग्रह महत्व का नहीं है वरन् परंपरा का उतना ही अंश महत्वपूर्ण है जो हमें संस्कार देता है और वह संस्कार भी

[1]डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा- नयी कविता के प्रतिमान , प्र.सं. संवत् 2014, पृ.192

ऐसा जिसमें उदारता हो, बृहत्ता हो, जो समूचे व्यक्तित्व में उदात्त चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथकत्व को बनाये रखे।"[1]

साहित्य के संदर्भ में भी यह स्मरण रखना चाहिए कि वह सब का सब जो साहित्य के नाम पर हमें मिला है, हमारे प्रयोग को अनुशासित नहीं कर सकता क्योंकि सभी में न तो गहराई है, और न दृष्टि की व्यापकता। इसलिए यह स्मरण रखना चाहिए कि उसका जितना अंश अनुकरण मात्र है अथवा जितना केवल रीति से बंधकर विकसित हुआ है, वह देश-काल की व्यापकता के सामने त्याज्य है, नगण्य है और उसे आसानी से झुठलाया जा सकता है। साहित्य में यदि प्रेमचंद ने रूढ़ियों को तोड़कर नयी प्रवृत्तियों का विकास न किया होता तो आज भी 'चन्द्रकांता संतति' जैसे जासूसी, ऐयारी और तिलस्मी उपन्यास ही साहित्य की शोभा बढ़ाते रहते और हम निर्जीव शव को कंधे पर लादे ढ़ोते रहते। छायावाद ने अपने पूर्व की द्विवेदीयुगीन परंपरा को छोड़कर नया मार्ग इसलिए अपनाया क्योंकि यह परम्परा उस देश-काल के यथार्थ को वहन करने में अशक्त और असमर्थ हो गयी थी। इसप्रकार ऐसे कई लेखकों और कलाकारों ने नवीन प्रयोगों के माध्यम से पुरानी परम्पराओं के निर्जीव अंशों को तोड़कर नवीन परम्परा का विकास किया है। इसी कारण प्रयोग की सार्थकता ही इसमें है कि वह परंपरा को स्वीकार करते हुए भी उसके सड़ांध अंशों को तोड़ता रहे और नवीन बोध तथा नयी व्यंजनाएँ देता रहे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य के इतिहास में वही रचनाकार जीवित रहते हैं जो अपने कृतित्व में प्रयोगधर्मी होते हैं। प्रयोगधर्मी रचना जब तक अपनी पिछली परंपराओं से नहीं जुड़ता तब तक उसकी कोई सर्जनात्मक प्रासंगिकता सिद्ध नहीं होती। वस्तुतः सर्जनात्मक प्रतिभावाले साहित्यकार के कृतित्व में परंपरा और प्रयोग के तत्व परस्पर इतने घुलमिल जाते हैं कि इनको अलग-अलग करके देखना प्रायः संभव नहीं होता। समर्थ रचनाकार परंपरा और प्रयोग दोनों को साधने का प्रयत्न करते हैं । किंतु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कोई बात न तो परंपरागत होने मात्र से ग्राह्य है और न प्रयोगशील या नूतन होने के कारण त्याज्य ही। इस प्रसंग में महाकवि कालिदास की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है -

"पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापिकाव्यं नवमित्यवद्यम्।
संतः परीक्ष्यान्यतरद् भजंते, मूढ़ः परप्रत्ययनेय बुद्धिः।।"[2]

---

[1]डॉ. लक्ष्मीकांत वर्मा- नयी कविता के प्रतिमान , प्र.सं. संवत् 2014, पृ.194

[2]कालिदास : मालविकाग्निमित्रम्- प्रथम अंक-प्रस्तावना

## 1.6 लेखक की मौलिकता बनाम प्रयोग

"दो राहें निकलीं एक वन में,
और मैंने वह राह ली,
जिसको लेते थे कम राही,
अंतर था बस इतना ही।"

[Two roads diverged in a wood, and I-
took the one less travelled by,
And that has made all the difference.]" [1]

जिन प्रयोगधर्मी रचनाकारों ने महत्वपूर्ण कृतियों के द्वारा मानव सत्य को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत किया है, उन सबने ऐसी राहें स्वीकृत करके यात्रा की है, जिनसे कोई नहीं चला है या बहुत कम लोग चले हैं। नयी राहों की यात्रा, नये लक्ष्यों का संधान, नये सत्यों का अन्वेषण तथा अनछुए क्षेत्रों को छूना आदि प्रयोग के अनिवार्य अंग है। प्रयोग के महत्व का निर्णायक तत्व है-मौलिकता। "साहित्य में मौलिकता का अर्थ हैः नवीन तत्वों तथ्यों, रूपों एवं छवियों का उपस्थापन।"[2]मौलिकता से रहित कोई भी रचना साहित्यिक क्षेत्र के विकास में सहायक नहीं होती, अतः वह सार्थक प्रयोग के अन्तर्गत नहीं आती। प्रतिभा का सबसे बड़ा गुण अछूती नवीनता और स्वतंत्र मौलिकता ही है। वह न तो किसी का अनुकरण पसंद करती है और न किसी की छाया ही ग्रहण करती है। आधुनिक युग में मौलिकता की इच्छा अथवा कुछ नया प्रयोग करने की लालसा बडे प्रबल रूप में दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः किसी भी कला की सबसे बड़ी शर्त मौलिकता ही है। मौलिकता पर प्रकाश डालते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- "मौलिकता विचारों अथवा कार्य का वह पक्ष है जो उसे समाज के लिए हितकारी बनाता है। वर्तमान समाज के लिए कौन सा कार्य या विचार कितना अधिक हितकारी है, यही मौलिकता की पहचान है और इसीलिए मौलिकता आधुनिकता के लिए एक शर्त है।"[3]वैसे तो हर नवीन वस्तु मौलिक नहीं होती और इसीलिए हर मौलिक वस्तु प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी नहीं होती। वस्तुतः मौलिकता का अर्थ किसी भी विचार या कार्य की उत्कृष्टता नहीं है। विचार या कार्य अपने पूर्ववर्ती विचारों तथा कार्यों से भिन्न हो सकता है, किंतु यह दावा नहीं किया जा सकता कि वह उपयोगी हो, अथवा उत्कृष्ट हो। इसलिए जो मौलिकता

---

[1] Elizabeth Drew and George Connor(Ed.)-Discovering Modern Poetry- Robert Frost-The Road not Taken(poem),1961, p.220

[2]डॉ. नगेंद्र (सं) -मानविकी पारिभाषिक कोश (साहित्य खंड़), प्र.सं.1965, पृ.190

[3]रामचन्द्र शुक्ल- आधुनिक कला समीक्षावाद - प्र. सं. 1994, पृ. 87

जीवन के किसी भी क्षेत्र में उपयोगी नहीं है, उसे बाहर फेंक देना ही अच्छा है। इसके विपरीत सच्चे कलाकार की मौलिकता नये प्रयोगों के अस्तित्व और विकास में निर्णयकारी भूमिका अदा करती है। इसप्रकार मौलिकता और प्रयोग एक दूसरे के पूरक है।

साहित्य के संदर्भ में प्रत्येक उत्कृष्ट रचनाकार अपनी रचना में कुछ नये मौलिक तत्व प्रदान करता है । यदि उसकी रचना में कोई मौलिक तत्व नहीं है तो उसे निम्न कोटि का कलाकार समझा जाएगा। किसी रचना के मौलिक होने केलिए उसमें अन्यों के विचारों के पुनः प्रतिपादन से बढ़कर कुछ अपना होना चाहिए- अपना विचार, अपनी अनुभूति या अपनी विश्लेषणात्मक तथा अभिव्यंजनात्मक प्रणाली होनी चाहिए। मौलिक तत्व रूप-गत् और वस्तुगत्, दोनों प्रकार के हो सकते हैं। अपने विचारों में, भावों और अनुभूत सत्य में रचनाकार मौलिक होने का प्रयास करता है जिसकी अभिव्यक्ति अब तक अन्य किसी ने नहीं की है। वास्तव में लेखक के व्यक्तित्व में निहित मौलिक सृजन की सहज मानवेच्छा उसे नये-नये प्रयोगों की ओर सदा प्रेरित करती है, उसकी इस शक्ति में जितना अधिक बल होगा, साहित्यकार उतना ही मौलिक भी होगा। यों तो हर मौलिक प्रतिभाशील रचनाकार मूलतः प्रयोगधर्मी होता है क्योंकि वह अपने मौलिक तत्त्वों के द्वारा नये क्षितिज की परत खोलता है। वस्तुतः सच्चे अर्थ में मौलिक होना प्रयोगधर्मी रचनाकार का मुख्य लक्षण है। श्री नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है- "अनुभूति और दृष्टि की मौलिकता और व्यक्तिमत्ता और उसकी अभिव्यक्ति में रूप और शिल्पगत तत्वों की नवीनता श्रेष्ट साहित्य का सर्वथा अनिवार्य लक्षण है, चाहे वह नवीनता परंपरागत तत्वों के नये समूह में ही क्यों न निहित हो। इस अर्थ में नवीनता किसी भी युग के तथा लेखक के कृतित्व का बुनियादी मूल्य है , जिसके बिना रचना, रचना नहीं होती, निरी पुनरावृत्ति, अनुकृति या केवल शब्द जाल मात्र रह जाती है।"[1]

वस्तुतः प्रयोगधर्मी रचना अतीत की उपलब्धियों का अनुकरण नहीं होती बल्कि रचनाकार पूर्व परंपरा में विकास के नये मौलिक तत्वों को जोड़कर अतीत की महान परम्परा को सहेजते हुए आगे बढ़ते हैं। वास्तव में अतीत की उपलब्धियों को त्यागकर वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। परंपरा को छोड़कर मौलिकता का कोई अर्थ भी नहीं है। पुरानी बातों में नयापन ले आना ही मौलिकता है।

---

[1]नेमिचन्द्र जैन : बदलते परिप्रेक्ष्य- प्र. सं. 1968, पृ. 79

अज्ञेय ने भी इसी प्रकार की धारणा व्यक्त करते हुए लिखा है कि साहित्य में नवीनता लाने के लिए नये अनुभव खोजने की आवश्यकता नहीं है। उसे पुराने और परिचित भावों से ही ऐसी अनुभूतियों की सृष्टि करनी है जो पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। उन्होंने लिखा है- "कवि का कार्य नये अनुभवों की, नये भावों की खोज नहीं है, प्रत्युत पुराने और परिचित भावों के उपकरण से ही ऐसी नूतन अनुभूतियों की सृष्टि करनी है जो उन भावों से पहले प्राप्त नहीं की जा चुकी हैं। वह नयी धातुओं का शोधक नहीं है, हमारी जानी हुई धातुओं से ही नया योग ढ़ालने में और उससे नया चमत्कार उत्पन्न करने में उसकी सफलता और महानता है।"[1]इसप्रकार स्पष्टतः मौलिकता को परंपरा और प्रयोग के पार्थक्य का प्राथमिक स्तर भी कहा जा सकता है।

हर गंभीर लेखक साहित्य को कुछ अभिनव देना चाहता है। अपनी मौलिकता स्थापित करने केलिए वह अनुभूत सत्य में और भाषा के प्रवाह में कुछ ऐसा विशेष भर देना चाहता है जो अब तक सम्भव नहीं हो सका है। मौलिकता की यही चाह रचनाकार को प्रयोग की ओर अग्रसर करती है। प्रयोग एक कलाकार या रचनाकार की अपनी निर्मित सृष्टि को मनचाहे ढ़ंग से संप्रेषित करने का दस्तावेज़ है और इसलिए मौलिकता रचना या कलाकृति का एक उपादान न रहकर लक्ष्य भी बन जाता है। वस्तुतः रचना के लिए उसका मौलिक होना ज़रूरी है क्योंकि तभी वह अपनी विशिष्टता या रचनात्मकता प्रमाणित करती है अन्यथा वह पुनरावृत्ति होकर रह जाती है। इस संदर्भ में लक्ष्मीकांत वर्मा का यह कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है कि "पुनरावृत्ति, चाहे वह साहित्य में हो अथवा किसी अन्य क्षेत्र में, यह सिद्ध करती है कि मौलिक प्रतिभा का ह्रास हो रहा है : दृष्टि में रुकावट पैदा हो गयी है। इसके विपरीत प्रयोग प्रबुद्ध चेतना को परिलक्षित करता है जिसके आधार पर नये मूल्यों, नये आयामों और नयी प्रवृत्तियों का विकास होता है।"[2]इसलिए मौलिकता पुनरावृत्ति को कला का दोष समझती है तथा स्वानुभूति को प्रकाशित करने केलिए अभिव्यक्ति के नये-नये मार्गों का अन्वेषण करती है। कलाकार या रचनाकार की मौलिकता केवल आत्माभिव्यक्ति ही नहीं चाहती, वह अपने अनुभव को, नवीनता को दूसरों के लिए संवेद्य बनाना भी चाहती है। इसलिए साधारणीकरण और

---

[1]अज्ञेय - त्रिशंकु, द्वि.सं. 1973, पृ. 42

[2]लक्ष्मीकांत वर्मा- नयी कविता के प्रतिमान, प्र.सं . संवत् 2014, पृ. 184

संप्रेषण रचना कर्म की ही मौलिक समस्या है और साहित्यकार को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करनेवाली सबसे बड़ी शक्ति भी यही है । वस्तुतः समर्थ रचनाकार ऐसे प्रयोगों का आदर करता है जो अभिव्यक्ति के साधनों को नया बल देते हैं और जो उसकी अभिव्यक्ति को अधिक गहराई देते हैं। किंतु मौलिकता के नाम पर जो प्रयोग पाठक, दर्शक और श्रोता को केवल चौंकानेवाले होते हैं, और जो प्रयोग सामाजिक सत्य और अनुभव से कोसों दूर होते हैं, उनका खेल ज़्यादा दिन तक नहीं चल सकता। किसी भी कला या रचना की मौलिकता कोरे चमत्कार प्रदर्शन में नहीं बल्कि अपनी मौलिक प्रतिभा के संस्पर्श से सामान्य जनता का हृदय उद्वेलित करने में है तथा सामान्य पाठक अथवा श्रोता का मर्म छूने में है। नेमिचन्द्र जैनजी ने लिखा है- "मौलिकता का रहस्य किसी सर्वथा नवीन या अभूतपूर्व की उद्‌भावना में नहीं , जीवंत अनुभूति के भीतर है जो किसी अतिप्राचीन भाव को भी युगीन और वैयक्तिक सत्य के साथ एकाकार कर सकती है। किसी भी भाव या विचार का संपूर्ण प्रतिफलन उनके उपयुक्त युगीन परिस्थितियों में ही संभव हो पाता है, और ये तभी चरम सार्थकता प्राप्त करते हैं।"[1]दरअसल प्रयोग मौलिकता के आधार पर परिचालित होता है और यदि किसी कलाकृति में मौलिकता की भावना न हो, अथवा जिसमें जूठन हो, आगे बढ़ने की चेष्टा न हो, वहाँ तो प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी रचनाओं को कालजयी साहित्य की कोटि में स्थान नहीं दे सकता। संक्षेप में कहें तो अगर कोई प्रयोग, अब तक साहित्य के क्षेत्र में प्रवाहित विचारधाराओं में गण्यमान परिवर्तन ला सकता है , अंतर्निहित भावों को अधिक सूक्ष्म बना सकता है या प्रचलित अभिव्यंजना पद्धतियों को संशोधित अथवा परिवर्तित कर सकता है, तो उस प्रयोग को मौलिक और महत्वपूर्ण माना जाएगा। वस्तुतः प्रयोग मौलिक विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है।

## 1.7 नाटक में प्रयोगधर्मिता के विभिन्न आयाम

प्रतिभाशाली साहित्यकार अपने आंतरिक और बाह्य जीवन के विभिन्न आयामों के सही संप्रेषण के लिए रूढ़ियों को तोड़कर नये प्रयोगों की ओर अग्रसर होता है । इसलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में अत्यधिक प्रयोग हुए हैं और ये प्रयोग विश्व-साहित्य के संपर्क से भी हुए हैं। किंतु नाटक और रंगमंच के संदर्भ में तो प्रयोगधर्मिता

[1]नेमिचन्द्र जैन- बदलते परिप्रेक्ष्य, प्र.सं. 1968, पृ. 79

और भी अधिक विचारणीय तथा प्रासंगिक है, क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में दृश्यत्व प्राप्ति की उपलब्धि से नाटक में प्रयोग की नयी-नयी संभावनाएँ सदैव मौजूद रहती हैं। अतएव नाटककार से प्रयोगधर्मिता की अपेक्षा भी अधिक बढ़ जाती है। वस्तुतः आज हिन्दी में जिसे नाटक कहा जाता है, नाट्याचार्य भरत ने उसे प्रयोग कहा था। भारतीय नाट्य परंपरा की श्रेष्ठतम रचना 'नाट्यशास्त्र' में मंच की समग्र अभिनयात्मक प्रस्तुति को प्रयोग माना है-

"श्रुत्वा तु शक्रवचनं मामाहाम्बुजसम्भवः।
त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्तास्य भवानघ।।
आज्ञापितो विदित्वाहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रनध्यापयं यो ग्यान् प्रयोगं चापि तत्त्वतः।।"

इसकी व्याख्या करते हुए बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने लिखा है कि इन्द्र के वचनों को सुन कमल से उत्पन्न होनेवाले पितामह ब्रह्माजी ने मुझ (भरत मुनि) से कहा कि हे अनघ ! (निष्पाप एवं प्रिय मुनि !) तुम अपने सौ पुत्रों से युक्त होकर इस (नाट्य) प्रयोग के कर्ता बनो। इसप्रकार पितामह ब्रह्मा से आज्ञा पाकर, उन्हीं से नाट्यवेद को प्राप्त कर मैंने इसके प्रयोगों को अपने योग्य पुत्रों को प्रयत्नपूर्वक पढ़ाया।[1]इस संदर्भ में अभिनव गुप्त की व्याख्या भी उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है- "प्रयोग शब्द के व्युत्पत्ति के अनुसार तीन अर्थ होते हैं। 'प्रयुज्यते इति प्रयोगः' के द्वारा दशरूपक प्रयोग कहलाते हैं। 'प्रयुज्यते निर्वर्त्यते इति प्रयोगः' से प्रयोग का अर्थ 'नाट्यशास्त्र' है और 'प्रयुक्ति प्रयोगः' व्युत्पत्ति से प्रयोग का अर्थ अभिनय होता है। भरतमुनि ने तीनों की ही शिक्षा पुत्रों को दी थी जो 'च' तथा 'अपि' पद से सूचित होता है। और 'तत्त्वतः' पद से नाट्याचार्य की पूर्ण प्रामाणिकता भी सूचित होती है।"[2]नाटक की प्रस्तुति की दृष्टि से नाट्य, प्रयोग और अभिनय ये तीनों शब्द पर्याय हैं-

"प्रयोगो यस्तु नाट्यादेर् भवेदभिनयोहि सः।"[3]

---

[1]बाबूलाल शुक्ल शास्त्री-भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का 'प्रदीप' व्याख्यान,प्रथम अध्याय -श्लोक 24,25,प्र.सं.1972,पृ.8

[2]अभिनव गुप्त-अभिनव भारती, भाग 1-पृ.18

[3]) काट्यवेम- मालविकाग्निमित्रम् की टीका

अभिनव गुप्त ने प्रयोग को दर्शकों के समक्ष प्रकटीकरण कहा है-

"प्रयोगः पर्षदि प्रकटीकरणम्।"[1]

नाट्यशास्त्र में भी भरत ने एक प्रसंग में प्रयोग की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है-

"सुवायता सुगानत्वं सुपाठ्यत्वं तथैव च।

शास्त्रकर्म समायोगः प्रयोग इति संज्ञितः।।" [2]

शास्त्रोक्त योगों से समन्वित सुन्दर वादन, सुन्दर गायन, सुन्दर पाठ आदि की संज्ञा प्रयोग होती है। सुविख्यात नाट्यविद डॉ ब्रजवल्लभ मिश्र ने भरत के कथ्य को विश्लेषित करते हुए लिखा है —"भरत का प्रयास इसलिए प्रयोग है कि उसे सफल बनाना एक व्यक्ति के हाथ की बात नहीं, उसकी सफलता के लिए रंगकर्मियों के पूरे दल को सामूहिक रूप में प्रयास करना पडता है, साथ ही दल के विभिन्न रंगकर्मियों को अनेक शिल्पों के अनेक रूपों का परिचालन बड़ी सावधानी से करना पड़ता है। एक अंशमात्र के परिवर्तन से प्रस्तुति का रूप बदल जाता है। वही प्रस्तुति अब दूसरी बार अन्य स्थान पर होती है तो उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है। परिवर्तन के कारण उसमें नित नये प्रयोग होते रहते हैं।"[3] संक्षेप में कहा जा सकता है कि नाटक और रंगमंच में रूढ़ियों के बहिष्कार के साथ नवीन प्रवृत्तियों एवं अप्रचलित या अपूर्व तत्त्वों के समावेश को हम प्रयोग कह सकते हैं, और प्रयोग की इस प्रवृत्ति को प्रयोगधर्मिता।

नाटक की प्रकृति ही प्रयोगधर्मी है। अन्य आधुनिक साहित्य की विधाओं से तुलना करते समय नाटक में प्रयोगधर्मिता के दो धरातल स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं - रचनात्मक धरातल और रंगमंचीय धरातल। युग और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित नयी काल चेतना को अभिव्यक्त करनेवाली रचना, परंपरा और पृष्ठभूमि की तुलना में अपनी नवीनता के कारण रचनात्मक धरातल पर प्रयोगधर्मी ठहरायी जाती है। रंगमंचीय धरातल पर अपनी रंग सापेक्षता में हर नाट्य रचना मंचीय प्रयोग के लिए निर्मित होती है। नाटक की प्रयोगधर्मिता या सर्जनशीलता अपने समग्र रूप में तभी प्रकट होता है जब रचना को दर्शक समूह के समक्ष रंगमंच पर अभिनय करके दिखलाया जा सके। किसी एक नाटक की प्रस्तुति, उसी की पहले की गयी प्रस्तुतियों से भिन्न होती है और पूर्व

---

[1]अभिनव गुप्त-अभिनव भारती , भाग 1-पृ.17

[2]भरतमुनि-नाट्यशास्त्रम्, अध्याय-27, श्लोक -101

[3]डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र-भरत और उनका नाट्यशास्त्र, प्र.सं.1988, पृ.72

प्रस्तुति की तुलना में निश्चित रूप से नवीनता लिए रहती है, अन्यथा नाटक की प्रस्तुति पुनरावृत्ति मात्र बनकर रह जाती है। इसलिए नवीनता का तत्त्व नाटक और रंगमंचीय प्रयोग का प्राण है। प्रयोग का अर्थ मात्र प्रस्तुतीकरण नहीं है बल्कि उस प्रस्तुतीकरण में नवीनता का योग भी रहता है। प्रकृष्ट योग ही प्रयोग है। योग का अर्थ कई वस्तुओं का सम्मिश्रण है। नाटक की रचना और रंगमंच पर उसकी प्रस्तुति में अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा विविध उपादानों की ज़रूरत होती हैं। इसलिए नाट्यशास्त्र के आचार्य भरत ने कहा है कि ऐसा न तो कोई ज्ञान, शिल्प,विद्या, कला, योग और न ही कोई कार्य हो सकता है जो इस नाट्य में समाविष्ट न हो सके।

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं, न सा विद्या न सा कला।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन यन्न दृश्यते।।"[1]

इसप्रकार आचार्य भरत मानते हैं कि नाट्य में योग या कई चीज़ों का कुशलतापूर्वक मिश्रण होता है। जब यह योग प्रकृष्टता और नवीनता के साथ नाटक या रंगमंच में प्रस्तुत होता है तो इसकी प्रवृत्ति प्रयोगधर्मिता की हो जाती है।

इस संदर्भ में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि नाटक में अधिकाधिक प्रयोग के कारण क्या है? इसके कारणों का अगर हम विचार-विमर्श करें तो कई तथ्य सामने आते हैं। नाटक का संबंध रंगमंच से है और रंगमंच का सीधा संबंध दर्शक से है। कविता या कथासाहित्य का पाठक घटनाओं और चरित्रों का प्रत्यक्षदर्शी नहीं होता बल्कि वह शब्दों के माध्यम से कथ्य सत्य को आत्मसात करता है। किंतु नाटक का प्रेक्षक अपनी आँखों के सामने सबकुछ घटते हुए देखता है और इसप्रकार वह घटनाओं और चरित्रों से निजी संबंध स्थापित कर लेता है। इस तथ्य से अच्छी तरह वाकिफ होने के कारण नाटककार या नाट्यनिर्देशक हमेशा दर्शकों के सम्मुख ऐसा कुछ नवीन और भिन्न रचना लाने की कोशिश करता है जो दर्शकों को आकर्षित करें और उन्हें प्रेक्षागृह तक बार-बार आने को बाध्य करें। प्रयोग के मूल में यही मानसिकता काम करती है। एक और कारण जो प्रयोग के पीछे काम करता है वह है परंपरागत रंगमंच या प्राचीन नाट्य लेखन शैली के द्वारा नवीन कथ्य सत्य को संप्रेषित करने की असमर्थता। प्राचीन नाटकों की परंपरा विशेष प्रकार के नाट्य नियमों से संपृक्त थी तथा नाट्य रचना में विषयवस्तु के चुनाव से लेकर

[1]भरतमुनि-नाट्यशास्त्रम्, अध्याय-1, श्लोक-117

सारी बातों में इन शास्त्र नियमों का पालन ज़रूरी था। किंतु यह शैली आज के तकनीकी विकास, आधुनिक मानसिकता और स्थितियों से मेल नहीं खाती और रंगमंच पर इन्हें प्रस्तुत करने में अक्षम है । इसलिए नाटकीय अभिव्यक्ति को अधिक से अधिक संप्रेषणीय एवं नवीन बनाने का नाटककार का प्रयास रचना और प्रस्तुति में प्रयोग की विविधता का कारण बना। प्रयोग से कलाकार की अभिनय प्रतिभा, निर्देशक की निपुणता तथा प्रस्तुतीकरण की शक्ति और सामाजिक की आस्वादन-क्षमता, सभी का बोध होता है और इस प्रयोग की सफलता इस बात का प्रमाण होती है कि नाटक रंगधर्मी है। किंतु यदि प्रयोगों से नाटक की संप्रेषणीयता प्रक्षिप्त हो गई और यदि नाटक प्रेक्षक को सम्मोहित न कर सकें तो उस प्रयोग को निष्फल माना जाएगा। चाहे कोई भी नाटक हो या नाट्यपद्धति, दर्शक, कलाकार और पात्र तीनों के बीच सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है। कलाकर अपने अतुल्य अभिनय से दर्शक को रस में सराबोर करे तो दर्शक कलाकार की तन्मय स्थिति तथा सात्विक भावाभिनय से अवश्य प्रभावित होकर बार-बार उसके अभिनय को देखने के लिए बाध्य होगा। अतः प्रत्येक प्रयोगकर्त्ता के सम्मुख नाटक के प्रयोग का लक्ष्य और उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। सामाजिक से विमुख होकर नाटक का कोई अस्तित्व नहीं है। डॉ. अज्ञात ने ठीक ही लिखा है- "प्रयोग सोद्देश्य होना चाहिए- मात्र प्रयोग या फैशन के लिए नहीं। उद्देश्यहीन प्रयोगधर्मिता जंगल में नाचनेवाले उस मयूर के समान है जिसे कोई नहीं देख पाता। आत्म-तुष्टि के लिए अथवा स्वांतः सुखाय कोई प्रयोग करना चाहे, तो यह बात दीगर है। बन्द दीवारों के भीतर आप कुछ भी करें, बाहरी दुनिया को उससे कोई मतलब नहीं। परंतु यदि आप एक भी सामाजिक को बुलाते हैं, तो आप उससे निरपेक्ष होकर, रंगमंच के प्रति अपने कर्त्तव्य से निस्संग होकर नहीं रह सकते।"[1]

प्रयोग का संबंध युग की नई प्रवृत्तियों और आनेवाले कल की पहचान से भी है। एक प्रयोगधर्मी नाटककार अपनी रचना के द्वारा तत्कालीन समय के भविष्य को उद्घाटित करने के साथ-साथ सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र में आनेवाली नयी प्रवृत्तियों को दिशा भी देता है। कोई प्रयोग बार-बार दोहराया जाए तो वह अपनी नवीनता खो बैठता है और आगे चलकर यही प्रयोग परंपरा का रूप धारण करता है। जो परंपराएँ नाटक के विकास पथ

[1]डॉ. जीवनलाल गुप्त (सं)-हिन्दी रंगमंचः स्मारिका-डॉ.अज्ञात-प्रयोगधर्मिताःएक फैशन या---!, प्र.सं.1980, पृ.127

को अवरुद्ध करती हैं, वे रूढ़ियाँ कहलाती हैं और कालांतर में नष्ट हो जाती हैं। दूसरी तरफ जब इसी परंपरा में नए तत्त्वों, नए प्रसंगों एवं नये अर्थों को जोड़ देते हैं तो यही परंपरा विकसित होकर नये प्रयोग का कारण बनती है। वस्तुतः नाटक का रूप सदियों के विकास क्रम का ही परिणाम है। इसलिए परंपरागत या प्रचलित रूपों को सहसा तोड़कर कुछ अर्जित करना संभव नहीं है। एक सशक्त नाटककार युग की आवश्यकता के अनुसार परंपरा का त्याग या नवीन भाव-बोध के अनुरूप परंपरा का परिमार्जन करते हुए नवीनता का सर्जन करता है। अत एव परंपरा के साथ नाटकीय प्रयोग का गहरा संबंध है, जैसा कि अमरीकी आलोचक एलन.एस.डाऊनर ने कहा है कि नाट्यरूप नवीन आविष्कार नहीं बल्कि उसका विकास है। उनके शब्दों में, "Form after all, is rarely an invention, it is a growth. And the basic form of European Drama, both classical and modern, had slowly evolved through centuries from religious rituals, the Greek festivals of dionysos, the rites of the Christian Church."[1] इसीतरह संस्कृत नाट्य का विकास भी बहुत पहले से चले आ रहे वैदिक कर्मकांडों से माना जाता है। नाट्यशास्त्र के प्रारंभ में ही लिखा गया है कि एक बार वैवस्वत मनु के दूसरे युग यानि त्रेतायुग में लोग बहुत दु:खित हुए। इसपर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिसके द्वारा सबका चित्त प्रसन्न हो सके। इसपर ब्रह्माजी ने चारों वेदों को बुलाया और उन चारों की सहायता से उन्होंने पंचम वेद 'नाट्यशास्त्र' की रचना की।

"एवं संकल्प्य भगवान् सर्वान् वेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम्।।"[2]

इस नये वेद के लिए ऋग्वेद से संवाद या पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लिया गया।

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।"[3]

---

[1] Alan.S.Downer (Ed.)-American Drama And Its Critics-Introduction, Published by University of Chicago Press-1967, p.2

[2] नाट्यशास्त्र-अध्याय 1, श्लोक 16

[3] नाट्यशास्त्र-अध्याय 1, श्लोक 17

इसप्रकार स्पष्ट है कि नाटक का विकास धार्मिक अवसरों पर होनेवाले अनुष्ठानों तथा सामाजिक एवं लौकिक कृत्यों से हुआ है। कहा जा सकता है कि नाट्य प्रयोग अव्यक्त के भीतर से नहीं बल्कि परंपरा की गतिशीलता के भीतर से अपना नया आकार तलाशता है। प्रयोग का संबंध परंपरा के जड़ और गतिशील दोनों रूपों से है। परंपरा के गतिशील तत्त्वों को अपनाकर जड़ तत्त्वों का परित्याग प्रयोग का धर्म है। साथ ही परंपरा का परिमार्जन करके भी नया प्रयोग सम्भव है। इसतरह नाटक के संदर्भ में नवीन अन्वेषण या प्रयोग, परम्परा के संदर्भों से जुड़कर व्यापक और सार्थक बनता है। नये आयामों की खोज तथा परंपरा का संस्कार दोनों ही नाट्य प्रयोग के लक्ष्य हैं। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि नाटककार को नाट्यरचना की प्रक्रिया में नवीन प्रयोगों की प्रेरणा कहाँ से मिलती है। वस्तुतः किसी भी रचना का प्रेरणास्रोत, समाज, संस्कृति, तथा कला और साहित्य में उद्‌भूत होनेवाली प्रवृत्तियाँ ही है। इस दृष्टि से प्रयोग का घनिष्ठ संबंध भी नयी प्रवृत्तियों से है। लोक में प्रचलित नयी प्रवृत्तियाँ ही साहित्यकार के रचना-कर्म में विशेषतः नाट्य रचना में नये प्रयोगों के रूप में परिणत होती हैं। हमारे परंपरागत नाट्य शास्त्रीय चिंतन में भी आचार्य भरत ने नाट्यप्रयोग की निष्पत्ति बताते हुए यही माना है कि भगवान विष्णु द्वारा की गयी प्रवृत्तियों के आधार पर नाट्य वृत्तियों का जन्म होता है और इन्हीं नाट्यवृत्तियों के समावेश से नाट्य प्रयोग की निष्पत्ति होती है।

"चरितैस्तसै देवस्य
द्रव्यं यभ्यादृशं कृतं।
ऋषिभिस्तादृशी वृत्तिः
कृता पाठ्यादिसंभवा ।।"[1]

"पुनर्नाट्यप्रयोगेषु
नानाभाव समन्विताः।
वृत्ति-संज्ञाः कृता ह्येताः।
काव्यबन्धसमाश्रयाः।।"[2]

इसप्रकार स्पष्ट है कि लोक में प्रचलित नयी प्रवृत्तियाँ कला और साहित्य में विशेषतः नाट्य रचना में नये प्रयोगों की अभिवृद्धि का कारण बनती है ।

वस्तुतः नाट्य साहित्य में प्रयोग का प्रभाव अनेक स्तरों पर हुआ है। प्रयोग के कारण कथ्य, चरित्र, भाषा, शैली, संवाद और रंगमंच आदि सभी धरातलों में परिवर्तन आया है। नाटक में प्रयोगधर्मिता के आयामों से तात्पर्य भी यही है कि नाटक की वे दिशाएँ जिनमें प्रयोग की संभावनाएँ रहती हैं और जिनसे नाटक की सार्थकता स्थापित

---

[1]नाट्यशास्त्र- अध्याय 22, श्लोक

[2]नाट्यशास्त्र- अध्याय 22, श्लोक 15

होती है । वास्तव में नाटक साहित्य की वह नियंत्रित और संयमित विधा है जिससे कार्य व्यापार को इसप्रकार सुनियोजित ढ़ंग से अभिव्यक्त किया जाता है कि इसके प्रभाव से कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण में सजीवता आ जाती है और पाठकों एवं दर्शकों का मन अनायास ही आकर्षित हो जाता है। वस्तु विन्यास की दृष्टि से नाटककार को कथानक योजना, व्यापारान्विति और गतिशीलता पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। क्योंकि नाटक का कथा संयोजन भिन्न प्रकार का होता है और इसके कथाभाग में ऐक्य होना भी अनिवार्य है। इसलिए आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं को इसप्रकार समन्वित करना चाहिए कि नाटक का विकास स्वाभाविक लगे और कोई बात अचानक घटी हुई अथवा अस्वाभाविक प्रतीत न हो। इसके साथ ही संक्षिप्तता पर भी विशेष बल दिया जाना चाहिए। नाटक के रचना-विधान का समय-सीमित होना और दो-तीन घंटों में ही बहुत कुछ प्रदर्शित करने की अनिवार्यता प्रयोगाधिक्य की मांग करती है। व्यापारान्विति के अंतर्गत घटना, दृश्य और क्रिया तीनों का समावेश होता है। वस्तुतः नाटक के सभी अंक, दृश्य, कार्य एवं घटनाओं को नाटकीय वस्तु, चरित्र विकास एवं कथाप्रवाह में गत्यात्मकता और प्रभावोत्पादकता लाने तथा उद्दिष्ट लक्ष्य को प्रस्फुरित करने में सहायक सिद्ध होने चाहिए और इन सूत्रों में अन्विति प्रयोग के बिना संभव ही नहीं है।

इसीप्रकार पात्रों के चरित्र-चित्रण के आधार पर भी नाट्यविधा प्रयोगधर्मी है। चरित्र-चित्रण नाटकों का चिरंतन एवं महत्वपूर्ण तत्त्व है। घटनाओं एवं कार्यव्यापारों के माध्यम से मानव स्वभाव का प्रस्तुतीकरण चरित्र-चित्रण ही करता है। जहाँ एक ओर नाटककार को पात्रों के अंतर्मन में प्रविष्ट होकर मानवीय मनोवृत्तियों का यथावत् और सूक्ष्म चित्रण करना होता है वहीं दूसरी ओर उसे अपने व्यक्तित्व को पात्रों के व्यक्तित्व से ऊपर रखना भी आवश्यक होता है जो प्रयोग के द्वारा ही संभव है। इसके अतिरिक्त नाट्य-रचना में चित्रित पात्र नाटककार द्वारा सृष्टित एक रेखाचित्र मात्र है जिसे अभिनेता और निर्देशक को अपनी सूझबूझ एवं प्रतिभा के द्वारा मंचोपयुक्त बनाकर एक जीवंत चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना है जिसके लिए प्रयोग की नितांत आवश्यकता है।

भाषा और संवाद की दृष्टि से भी नाट्य विधा प्रयोगधर्मी है क्योंकि नाट्यकला का मूल उच्चरित शब्द है और शब्दों के उच्चारण की मांग को प्रयोग के द्वारा पूरा करना नाटककार का लक्ष्य है। नाटककार इन्हीं के माध्यम से नाटकीय वस्तु को गतिशील करने, नयी परिस्थितियों की सूचना देने , पात्रों के व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करने तथा उसके अंतर्द्वन्द्वों को प्रदर्शित करने, उचित वातावरण प्रस्तुत करने तथा नये भावों का वहन करने और उद्देश्य के समष्टिगत प्रभाव को पूर्ण करने में सफल होता है। वस्तुतः नाटक में भावों और विचारों की अभिव्यक्ति भाषा और अभिनय द्वारा की जाती है। इसलिए

नाट्यभाषा और अन्य विधाओं की भाषा में पर्याप्त अंतर है। नाटक में बहुत-सी बातें आंगिक चेष्टाओं के माध्यम से भी कह दी जाती हैं। अतः नाटक की भाषा बहुत कुछ हरकत की भाषा होती है। ए. निकोल का कहना है कि " नाटककार को ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग करना होता है जो दोहरा प्रभाव उत्पन्न करे। एक ओर उसमें नाटककार के अपने व्यक्तित्व और निजता की छाप होनी चाहिए और दूसरी ओर यह भाषा उन संवादों के वक्ता के व्यक्तित्व के लिए भी उपयुक्त हो।"[1] इसप्रकार नाटककार दोहरी प्रक्रिया की कठिन परीक्षा से गुज़रकर प्रयोगधर्मी बनता है।

शैली और रंगमंचीय दृष्टि से भी नाटक में प्रयोग की प्रचुर संभावनाएँ विद्यमान हैं। नाट्य कला के समस्त उपादानों- कथावस्तु, पात्र-चरित्र चित्रण, संवाद एवं भाषा तथा वातावरण आदि के उपयोग करने की एक परिपाटी, ढ़ंग, प्रक्रिया व रीति को ही शैली कहा जाता है। प्रतिभाशाली नाटककार अपनी कला-कुशलता एवं अनुभव के बल पर किसी आधारभूत विचार या वस्तुगत सत्य को अधिक से अधिक यथार्थ रूप में उद्घाटित करने, उसके अनुरूप ही एक उचित एवं प्रभावशाली आकार प्रदान करने और उसे अधिक से अधिक स्वाभाविक एवं प्रेषणीय बनाने के लिए प्रयोग की ओर अग्रसर होता है। इस प्रयास में नाटककार के द्वारा अभिव्यक्ति का रूप परिवर्तित होने के साथ-साथ नई शैली का प्रवर्तन भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रयोग का स्वरूप रंगशिल्प से भी बराबर जुड़ा है। प्रयोगशील कथ्य के अनुसार मंच को भी अनिवार्यतः प्रयोगधर्मी बनना पडेगा। नाट्यलेखन की रंगचेतना,भगिनी कलाएँ (संगीत, नृत्य, कविता, चित्रकला आदि), निर्देशन, अभिनय की भंगिमाएँ, मंच-व्यवस्था, प्रकाश व्यवस्था, पात्रों की वेशभूषा, प्रेक्षण इत्यादि के विभिन्न आयाम भी प्रयोगधर्मिता के अंतर्गत आते हैं। ये प्रयोग मंच से जुड़े हैं। इनके प्रत्यक्षीकरण के लिए मंच को स्वतः प्रयोगशील बनना पड़ेगा। इसी तरह मंच में ही मौलिक प्रयोग भी होते आए हैं। कभी-कभी निर्देशक रंग प्रस्तुतीकरण, विस्तार और समापन को नाटक के अनुरूप प्रस्तुत न कर अपनी प्रयोगशीलता के अनुसार प्रस्तुत करता है । मंच के चरित्र, उनके संघटन के साथ-साथ रूपरंगबंध, दृश्य योजनाएँ, ध्वनि प्रकाश संयोजनाएँ, नाटक युक्तियाँ, रंगव्यवहार, रंगराशियों का सामंजस्य- इन सब में प्रयोगधर्मिता की समृद्ध संभावनाएँ रहती हैं। इनके समंजन से मंच में प्रयोगधर्मिता की दो

---

[1] Allardyce Nicoll- World Drama, First published- 1974, p.59

दिशाएँ दृष्टिगत होती हैं- नाटक के भीतर से प्रयोगशील संभावनाओं की खोज आरंभ करना तथा मंच के भीतर ही नवीन प्रयोगों का अन्वेषण करना। वास्तव में नाट्य प्रयोग अन्विति नियोजन से संबद्ध है। यानि विभिन्न घटनाओं, चरित्रों, या भावों में सामंजस्य जो कहीं से अलग-अलग न प्रतीत हो। अनन्वित योजना में मंच विघटित हो जाएगा। वैसे तो नवीन प्रयोग को परंपरा से विमुख होकर नहीं बल्कि उससे संयुक्त होकर अपनी रंगसिद्ध प्रामाणिकता स्थापित करनी है और इस कार्य के लिए भी अन्विति अनिवार्य होती है। संभवतः इसीलिए नाटक में प्रयोगधर्मिता का प्रश्न अन्विति-अनुसंधान और उसकी संस्थापना से जुड़ा है।

वस्तुतः नाटक की सफलता किसी एक पर न होकर नाटककार, अभिनेता और निर्देशक तीनों पर होता है । नाटककार के लिए माध्यम के रूप में मंच-व्यवस्था, अभिनय की प्रकृति, शैलियों और तकनीकों का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर उसे अपने नाटक की रूपरेखा तथा उनका विकास निर्धारित करना है। अतः इनमें से किसी एक का अभाव नाटक की अन्विति में विघटन पैदा कर सकता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि उपरोक्त इन सभी आयामों के उचित सन्निवेश अथवा सहयोग एवं समन्वय में ही नाट्य प्रयोग की सार्थकता है।

## 1.8 निष्कर्ष

साहित्य के लिए प्रयोग आवश्यक है क्योंकि प्रयोग के माध्यम से कथ्य और शिल्प के नये-नये आयाम खुलते हैं और साहित्य प्रासंगिक बनता है। प्रयोग प्रगति का वह साधन है जो हर सार्थक रचना में आभ्यंतर तत्व के रूप में वर्तमान है और जिसके द्वारा साहित्यकार रूढ़ मान्यताओं और परंपरागत संप्रेषण पद्धतियों को तोड़कर नयी भावभूमि और अभिव्यक्ति के नये माध्यमों की खोज करता है। आधुनिक हिंदी साहित्य की सभी विधाओं में अत्यधिक प्रयोग हुए हैं और ये प्रयोग विश्वसाहित्य के संपर्क से भी हुए हैं। प्रयोग के संदर्भ में कृति का विश्लेष्ण आधुनिक विचार दृष्टि की देन है जो सृजन में प्रत्येक रूप-कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक पर लागू होती है। साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में नाटक मानव के भावों, अनुभूतियों एवं जीवन-अवस्थाओं की अनुकृति होने के साथ-साथ प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम भी है। इसलिए परिवर्तित मानव-जीवन और उसकी विचारधाराओं को पकड़ना, उसे इंगित करना नाटक की मूल चिंता तथा मूल सरोकार होता है। युग परिवर्तन के साथ नाटक का उद्देश्य,

साध्य तथा अभिव्यक्ति के वे माध्यम जो नाटक को चाक्षुष, श्रव्य या पठनीय बनाते हैं, जो उसे रूपाकार देते हैं, जो मानव मन के भीतर उसके उतरने के लिए सेतु का काम करते हैं, वे सभी बदलते रहते हैं। नाटक के सारे तत्व यानी कथावस्तु, पात्र, भाषा-शैली और संवाद, दृश्य विधान तथा मंच-व्यवस्था, शैली और शिल्प सबको इसी के अनुरूप बदलना पड़ता है। यह त्वरित बदलाव, इनकी संप्रेषणीयता का प्रश्न, इन परिवर्तनों में विशिष्ट सृजन-पद्धति द्वारा रगमंच पर प्रस्तुत करने की सम्स्याएँ या लेखक तथा निर्देशक की सबसे अलग दिखने की चाह, नाट्य रचना में प्रयोगधर्मिता को जन्म देती है।

.....ൟൟൟ.....

अध्याय दो

# रंगपरंपरा और हिन्दी नाट्य प्रयोग

## 2.0 प्रस्तावना

प्रयोगधर्मिता साहित्य के क्षेत्र में विशेषकर नाटक के संदर्भ में उसके विकास और संभावनाओं के नवीन क्षितिज तलाशती है। रंगमंच सापेक्ष होने के कारण नाटक में जनसंप्रेषणीयता अधिक है जिससे इसका महत्व और दायित्व अन्य विधाओं की तुलना में विशिष्ट हो जाता है और बढ़ भी जाता है। इसलिए नाटक में प्रयोगधर्मिता को नाटक एवं नाटककार दोनों की ही शक्ति और सामर्थ्य की महत्वपूर्ण कसौटी माना जा सकता है। वास्तव में नाटक का अस्तित्व ही अपने प्रयोगात्मक धरातल पर है। संपूर्ण भारतीय हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि हिन्दी नाट्य के संदर्भ में प्रयोग शब्द का सजग व्यवहार स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् ही हुआ। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने विभिन्न नाट्य प्रयोगों के द्वारा नाटकत्व की नवीन खोज की और हिन्दी रंगमंच को कथ्य एवं अभिव्यक्ति के धरातल पर आम जनता के निकट लाते हुए उसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पहचान भी दी। किन्तु स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य प्रयोगों की उपलब्धियों को समझने के लिए अत्यंत समृद्ध और विविध रूपों और शैलियों वाले पारंपरिक रंगमंच पर एक विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है क्योंकि पारंपरिक रंगमंच आधुनिक नाट्य प्रयोगों को सुर और रंग देने के लिए पृष्ठभूमि का काम करते हैं। परंपरागत नाटकों के संदर्भ में आचार्य देवेद्र नाथ शर्मा का कहना ठीक ही है –" भारतीय सांस्कृतिक परिवेश की पुष्टि और समृद्धि के लिए परंपरागत नाटकों से संबंध बनाये रखना आवश्यक है, उनसे अलग हो जाने पर मूलहीन वृक्ष की स्थिति हो जाएगी; पोषक रस के अभाव में वृक्ष कितना भी विशाल क्यों न हो, सूख जाएगा ।"[1] इसलिए प्रयोगधर्मी बनने के लिए परंपरा से विच्छिन्न होना कोई अनिवार्य नहीं है। बल्कि प्रयोग तभी दृढ़ और सबल होता है जब वह परंपरा से जुडा रहता है।

## 2.1 स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य प्रयोग की पृष्ठभूमि

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य प्रयोग और उसकी संभावनाओं पर विचार करते समय पूर्ववर्ती नाट्य परंपरा को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है क्योंकि कोई भी साहित्यिक विधा अपने वर्तमान में जिस रूप में विद्यमान रहती है, उसके पीछे एक निश्चित पृष्ठभूमि और आधारभूत परंपरा होती है। उससे असंपृक्त रहकर, उसके

[1]निशांत केतु-नाटक और मंच, आचार्य देवेंद्र नाथ शर्मा-रंगनाट्यःपरंपरा और प्रयोगः परिसंवाद,प्र.सं.1989, पृ.81

अस्तित्व एवं प्रभाव से अज्ञात रहकर किसी भी साहित्य विधा की सामयिक स्थिति का विश्लेषण करना अवांछित ही नहीं असाध्य भी है। नाटक के क्षेत्र में तो परंपरा और नए प्रयोगात्मक कार्य का प्रश्न कई दृष्टियों से और भी अधिक महत्वपूर्ण और अनिवार्य हो जाता है क्योंकि नाटक ऐसी कला है जो परंपरा निष्ठ है, और जो राष्ट्र के शताब्दियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, राजनीतिक संस्कारों की वाहक है तथा विभिन्न युगों में नए-नए सामाजिक संदर्भों में अपने इसी पारंपरिक स्वरूप से शक्ति ग्रहण करती है। सृजनात्मक कलाकार या रंगकर्मी अतीत के कलात्मक और परंपरागत शैलियों की ऊर्जा से प्रभावित होकर नाटक को नया भावबोध, नया उन्मेष, नया मुहावरा और नई दिशा प्रदान करते हुए उनमें से जो कुछ भी सारवान होता है उसे समसामयिक रचना कार्य का अंग बना लेते हैं।

भारतीय रंगमंच का इतिहास दो हज़ार वर्षों से अधिक का है। किन्तु हिन्दी नाट्य जगत का यह दुर्भाग्य रहा है कि वह प्रारंभ से ही अपनी नाट्य परंपरा के प्रति उदासीन बना रहा और उसे अपने रंगमंच अथवा रंगमंचीय प्रवृत्तियों के अभाव में विकसित होना पडा है। समय-समय पर विभिन्न स्रोतों एवं प्रेरणाओं से हिन्दी रंगमंच को विरासत में जो रंगपरंपराएँ मिलीं, यदि उसका विश्लेषण किया जाए तो एक ओर विश्व की सर्वोत्तम नाट्य संपदा के समकक्ष रखी जानेवाली संपन्न लेकिन सुप्त और उपेक्षित संस्कृत नाट्य परंपरा मिलेगी तो दूसरी ओर लोक नाटकों की सजीव परंपरा है जिसकी अनेक शैलियाँ और रूप, देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में आज भी प्रचलित हैं। विरासत की बात करते हुए पाश्चात्य रंगमंचीय तत्वों का तिरस्कार भी नहीं कर सकते। भारतेंदु युग से लेकर आज तक की नाट्य रचनाओं में पाश्चात्य शेक्स्पियरन रंगमंच, इब्सनके यथार्थवादी नाट्य, ब्रेष्ट का एपिक थियेटर या विसंगत नाट्य परंपरा का प्रभाव विभिन्न कालखंडों में स्पष्टतः दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त हिन्दी रंगमंच पर 'इन्दर सभा' की अर्ध-संस्कृत तथा नवाबी और पारसी रंगमंच की व्यावसायिक प्रवृत्तियों का भी यथेष्ट सम्मिश्रण मिलेगा। अतः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य प्रयोगों, विशेषताओं, उपल्ब्धियों एवं कमियों को पहचानने के लिए विच्छिन्न रंगपरंपराओं का विस्तृत विवेचन यहाँ अपेक्षित है। हिन्दी नाट्य के लिए प्रयोग की आधार भूमि प्रदान करनेवाली इन मंचीय परंपराओं को दो मुख्य शीर्षकों के अंतर्गत समेट सकते हैं- (1) पाश्चात्य नाट्य परंपरा (2) भारतीय नाट्य परंपरा ।

निश्चित रूप से इन दोनों नाट्य परंपराओं का विस्तृत विश्लेषण यहाँ प्रयोग की दुर्निवारता एवं परंपरा की संचयन शक्ति को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है जिससे नवीन संस्कार प्राप्त कर स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्यसाहित्य का स्वरूप निर्मित हुआ है।

## 2.2 पाश्चात्य नाट्य परंपरा में प्रयोग

नाटक एवं रंगमंच की पाश्चात्य परंपरा अत्यंत समृद्ध एवं महत्वपूर्ण रही है। संपूर्ण विश्व समय-समय पर पाश्चात्य रंगमंच के इतिहास में जन्मी विविध रंग शैलियों, विचारों और रंगभाषाओं से आंदोलित एवं प्रभावित होता रहा है। आधुनिक भारतीय रंगकर्म पर भी पश्चिमी संस्कृति और पाश्चात्य जगत की रंगचेतना के सृजनात्मक पक्ष की गहरी छाप पडी है। भारतेंदु युग से ही हिंदी नाट्य साहित्य में पश्चिम के प्रभाव के संकेत मिलते हैं। नैमिचंद्र जैनजी ने ठीक ही लिखा है –"आज संसार का कोई भी स्वतंत्र, सक्षम और जीवंत रंगमंच पश्चिमी नाटकों और उनके लिए लगातार रची जानेवाली प्रदर्शन-शैलियों के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। उनके प्रति कोई न कोई आत्मसंगत दृष्टि अपनाना आवश्यक है। भारतीय रंगमंच के अपने विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में तो पश्चिमी नाटकों की एक विशेष स्थिति है, उनके अंग्रेज़ी में या भारतीय भाषाओं में, अनुवाद या रूपांतर लगातार हमारे रंग-जीवन के विशेष अंग रहे हैं।" [1]इन पाश्चात्य रंग प्रयोगों के अनेक चरणों को क्रमिक विकास के साथ निम्न रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है।

### 2.2.1 यूनानी रंगमंच

पाश्चात्य रंगमंच का श्रीगणेश यूनान में एथेन्स के धार्मिक उत्सवों से माना जाता है। यद्यपि ग्रीक रंगमंच मुख्यतः एस्किलस, सोफोक्लीज़ और यूरीपिड़ीज़ की त्रासदियों के लिए जाने जाते है, फिर भी ग्रीक रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटक मुख्यतः त्रासदी और कामदी में विभाजित थे। प्लेटो और अरस्तु जैसे रंगदार्शनिकों ने इन दोनों रूपों को जीवन और प्रकृति का अनुकरण माना था। अरस्तू ने संकलन-त्रय और विरेचन के द्वारा पाश्चात्य रंगमंच की नींव रखी। यूनानी नाट्यकारों ने द्वन्द्व अथवा संघर्ष की अवधारणा को नाटक के केंद्र में स्थापित करते हुए विभिन्न नये प्रयोगों की संभावनाओं के द्वार खोल दिये।

ग्रीक रंगमंच संकलन त्रय, विरेचन, त्रासदी, कोरस और मुखौटों के संयोग से निर्मित हुआ है। यह अभिनेता केन्द्री था तथा इसमें वर्णन, संगीत, नृत्य, काव्य, मुखौटा हर तरह के अयथार्थात्मक तत्वों की प्रमुखता थी।

---

[1]नेमिचंद्र जैन - रंगदर्शन, तीसरा सं. 1993, पृ.118

यूनानी सभ्यता काल से अब तक की विकसित पश्चिमी रंग-परंपरा में ग्रीक ट्रेजेड़ी सर्वाधिक प्राचीन परंपरा है। एस्किलस (525 ई.पू से 456 ई.पू. ) यूनान का प्रथम त्रासदी नाटककार हुआ जिसने साठ से अधिक नाटकों की रचना की, किंतु उनमें से केवल सात उपलब्ध हैं। इन नाटकों में 'द पर्शियन्स' 'सेविन ऐगेन्स्ट थीव्ज', 'सप्लकेन्ट वीमेन', 'प्रोमीथियस बाउंड' आदि उल्लेखनीय हैं। उन्होंने यूनानी त्रासदी को एक नये मकाम पर पहुँचा दिया। उसके पूर्व कोरस और एक अभिनेता के माध्यम से नाटक या आख्यानात्मक गान प्रस्तुत करने की परंपरा थी। एस्किलस ने कोरस की प्रथा के स्थान पर दो अभिनेताओं को प्रस्तुत किया जिनमें से प्रत्येक अभिनेता बार-बार चेहरा और पोशाक बदलकर अनेक भूमिकाएँ निभाता था। इसप्रकार नाटक में संवादतत्व का समावेश करके कथानक और चरित्र चित्रण को अधिक विकसित होने का द्वार खोल दिया, जो रूप के स्तर पर नया प्रयोग था। उन्होंने अपने नाटकों में यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं है[1] और मनुष्य के दुखों में कोई गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है जिससे उसकी आत्मा शुद्ध होती है।

इसीप्रकार ग्रीक रंगमंच को महत्वपूर्ण विकास देनेवाला था सोफ़ोक्लीज़ (495 ई.पू. - 406 ई.पू.) जिसने ग्रीक नाटकों के अभिनय में तीसरे चरित्र का समावेश किया। उनके लिखे हुए 120 नाटक बताये जाते हैं जिनमें से 'ईडिपस टेरेनस', 'एन्टीगॉनी', 'इलेक्ट्रा', और 'ऐजैक्स' ये चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। सोफ़ोक्लीज़ ने नाटक को त्रासदी की गरिमा और उदात्तता दी, कथोपकथनों में विविधता और मनोरंजकता उत्पन्न की, दृश्यों को प्रभावपूर्ण बनाया और नाटक के चार खंडों के स्थान पर नवीन प्रयोग करके प्रत्येक खंड में नवीन विषय रखे।

इन दोनों महान नाटककारों के बाद यूरीपिड़ीज़ (480 ई.पू. से 406 ई.पू. तक) प्राचीन और आधुनिक नाटककारों के बीच की कडी के रूप में उभरकर आते हैं। उन्होंने त्रासदी को एक नया मोड़ दिया और कोरस, मुखौटों, तंग रंगमंच, परंपरागत वेशभूषा और दृश्य-परिवर्तन आदि की सीमाएँ तोड़ दी। वे ग्रीक नाटक रग़मंच पर यथार्थवाद के प्रथम प्रयोक्ता के रूप में जाने जाते हैं। उन्होंने अपने नाटकों में सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सभी प्रश्नों पर विचार करने की परंपरा को स्थान दिया। इनके पात्र दैवीय न होकर

---

[1]डॉ.जगदीश चंद्र जैन - पाश्चात्य समीक्षा-दर्शन, द्वितीय.सं.1973, पृ.34

साधारण और वास्तविक गुण दोषों से युक्त पूर्ण मानवीय है। यूरीपिड़ीज़ ने कथानक के क्षेत्र में नवीन क्रांति कर दी। 'दि ट्रोजन विमेन', 'हिप्पोलाइटस','मीडिया' जैसे नाटकों के चरित्र आधुनिक नाटकों के पात्रों के समान सुख-दुःख के द्वन्द्व में फंसे, जिज्ञासु और प्रश्नाकुल हैं। इसलिए यूरीपिड़ीज़ को प्रथम आधुनिक नाटककार भी कहा जाता है। डॉ.रीतारानी पालीवाल के अनुसार "यूरीपिड़ीज़ को प्रथम आधुनिक नाटककार इसलिए कहा जाता है कि नाटकों में मानव-प्रतीकों के स्थान पर उन्होंने मानवों को चित्रित किया है। देवताओं में दैवीय गुणों के साथ-साथ दुराशयता आदि को भी प्रदर्शित किया है। उनके नाटकों में जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्न उभारे गए हैं। इसप्रकार नाट्य का मानवीकरण किया गया है।"[1] वास्तव में परंपरा के बंधन को तोड़कर यूरीपिडीज़ ने मौलिकता प्रदर्शित की और त्रासदी के क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न कर दी।

यूनान में कामदी का उद्‌भव भी डैनीष्यस उपासना के 'कामोस' नामक उत्सव से माना जाता है। ऐरिस्टोफेनीज़ तथा मेनेण्डर ने अपने नाटकों द्वारा कामदी के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। वस्तुतः ग्रीक नाटकों के ये दोनों रूप अभिनय-कला और नाट्यकला के समुचित विकास में सहायक ही न हुए बल्कि यूनानी नाटककारों ने रंगमंच के क्षेत्र में कई ऐसे प्रयोग किये जिनसे पाश्चात्य नाट्यकला को विकसित होने के अवसर मिले। विशेष रूप से अभिनेताओं की संख्या में वृद्धि ने पाश्चात्य रंगमंच के विकास में क्रांतिकारी कार्य किया। समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच पर भी ग्रीक नाटकों का आंशिक प्रभाव दिखाई देता है।

### 2.2.2 रोमन रंगमंच

अधिकांश रोमन नाटक तो यूनानी नाटकों की अनुकृति मात्र हैं । अतः नाट्य प्रस्तुति अनुवादों अथवा मूल यूनानी नाटकों की ही होती थी। यही कारण है कि रोम में त्रासदी की अपेक्षा कामदी अधिक लोकप्रिय हुई। अकेले 'सेनेका' ही ऐसे नाटककार हैं जिनके दुखांत नाटकों का महत्व आगे आनेवाले युगों में रेखांकित किया गया और उनका नाटक 'एगामेम्नन' आज भी खेला जाता है। कई पाश्चात्य नाटककार सेनेका की तकनीकों से प्रभावित हुए। जैसे नाटक को पाँच अंकों में विभजित करना, वर्णनात्मक और अलंकृत भाषा का प्रयोग, विषयवस्तु के रूप में प्रतिशोध की भावना, अतिरंजित

[1]डॉ.रीतारानी पालीवाल - रंगमंचः नया परिदृश्य, प्र.सं. 1980,पृ.121

घटनाओं, चरित्रों तथा रोमांचकारी कार्यों की अवतारणा और अंतरंग मित्र का समावेश आदि ने सेनेका को सर्वमान्य सिद्ध किया।

रोम के कामदी रचयिताओं में प्लाटस और टेरेन्स के दो नाम प्रसिद्ध हैं। प्लाटस के एक सौ तीस ग्रंथों में से बीस ग्रंथ ही उपलब्ध हैं जिनमें 'कैप्टिव' , 'रूडेन्स', 'मौस्टेलारिआ' आदि प्रसिद्ध हैं। टेरेन्स की रचनाओं में 'ऐडेल्फी','हेकीरा', 'यूनकस' आदि प्रसिद्ध हैं। ग्रीक नाटककारों का अनुकरण करते हुए भी उसने अपनी प्रयोगधर्मित का परिचय दिया। "उसने समय और स्थान संकलनों का उपयोग करते हुए दुहरे कथानक रखे और पात्रों के चरित्र-चित्रण में दक्षता प्रकट की। परिष्कृत भाषा और सुंदर कथोपकथन के लिए वह प्रसिद्ध है। उसने मनुष्य की निम्नस्तरीय वृत्तियों को अपने हास्य और व्यंग्य का लक्ष्य बनाया। प्लाटस और टेरेन्स में यह अंतर है कि यदि प्लाटस की रचनाओं में निम्न श्रेणी के लोगों के लिए सामग्री मिलती है, तो टेरेन्स की रचनाओं में परिष्कृत रुचि संपन्न और शिक्षित व्यक्तियों के लिए।"[1] रोम में प्रथम बार नाट्य प्रदर्शन रात्रि में हुआ तथा मशालों का प्रयोग कलात्मक सृष्टि की दृष्टि से हुआ।[2] किंतु रोम की रुचि का पतन होने के कारण धीरे-धीरे स्वांग, तमाशा तथा भद्दे प्रहसनों का प्रचलन बढ़ता गया। महान रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही रंगमंच तथा नाटक का भी पतन हो गया।

### 2.2.3 मध्ययुगीन रंगमंच

मध्ययुगीन रंगमंच के संदर्भ में ए. निकोल ने यह मत प्रकट किया है कि यह कुछ दिशाओं में आरंभिक यूनानी रंगमंच की भांति था। किंतु यहाँ यूनानी गांभीर्य का अभाव था। चमत्कारिकता और करिश्मे दिखाने की प्रवृत्ति अधिक थी। यूनानी भावना के विरुद्ध रंगमंच पर हत्या, रक्तपात तथा प्रलाप देखने की मध्ययुगीन दर्शक की विशेष मांग थी।[3] वस्तुतः यूरोपीय रंगमंच पर दृश्यविधान का विकास मध्ययुगीन चर्च में प्रदर्शित'मिस्ट्री प्ले' से हुआ। मध्य युग की 15 वीं शताब्दी तक तो फ्रांस में नाटक प्रस्तुत करने केलिए एक विशिष्ट यंत्र का भी प्रयोग हो चला था। भारतीय रामलीला की तरह पहियेदार रथ पर मंच बनाकर रहस्यात्मक नाटकों के द्वारा गली-गली घूमकर लोगों का मनोरंजन किया करते थे

---

[1] डॉ.लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय -पश्चिमी आलोचना शास्त्र, प्र.सं. 1965, पृ.313

[2] शेल्ड़ान चेनी-रंगमंच-अनुवादक-श्रीकृष्णदास, प्र.सं. 1965,पृ.120

[3] Allardyce Nicoll- The development of the Theatre, 5th Revised Edition 1966, P.No.80

जिसने नाटक के क्षेत्र में प्रयोग के नये द्वार खोल दिये। एक प्रकार से मध्ययुगीन रंगमंच जुलूस अथवा शोभा यात्रा का समारोहपरक रंगमंच था, जो पुनर्जागरण काल तक ही नहीं अपितु ऐलिजाबेथन युग के शेक्सपियर के नाट्य-प्रदर्शनों तक चलता रहा।

### 2.2.4 पुनर्जागरणकालीन रंगमंच

पुनर्जागरण युग में नाट्यकला धीरे-धीरे प्राचीनों के अनुकरण से हटकर मौलिकता एवं प्रयोगधर्मिता की ओर धावित होती दृष्टिगत होती है। इस युग में जीवन और नाट्य का सामंजस्य स्थापित किया गया। नाट्य-गृह, रंग-विधान तथा यांत्रिक कौशल के द्वारा प्राचीन नाटकीय तत्वों का अन्वेषण किया गया। राजकीय ढ़ंग से सज्जित नृत्यगृह अब नाट्यशालाओं के रूप में प्रयुक्त होने लगे। नाट्य रचना में निषिद्ध अनेक विषयों के ग्रहण का मार्ग खुल गया और नवीन नाट्य विषय तेज़ी से उभरने लगे।

वस्तुतः पुनर्जागरणकालीन रंगमंच आलंकारिक अधिक था, संरचनात्मक कम।कुछ भी हो आधुनिक रंगमंच का जन्म इटली के पुनर्जागरण से ही होता है। इटली के नवजागरण ने धार्मिक नाटक एवं उसकी अनुकृति पर निर्मित मध्ययुगीन रंगमंच को त्यागकर उसका आधुनिकीकरण किया। शेल्डान चेनी के शब्दों में यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि "नाट्य रूपों के जो प्रतिमान तैयार हुए उनसे यद्यपि इटली में तो कोई शेक्सपियर नहीं पैदा हुआ परंतु स्पेन, इंग्लैंड़, फ्रांस में उनके लिए मार्ग खुल गया और बाद में आनेवाले आज के यथार्थवाद के लिए संभावनाएँ पैदा हो गयीं ।"[1]

### 2.2.5 ऐलिजाबेथन रंगमंच

ऐलिजाबेथन काल का सबसे बड़ा प्रयोग यही है कि इस युग में रंगमंच को चर्च के प्रभुत्व से छूटकर राजगृह से जुड़ने की सुविधा प्राप्त हुई। परिवर्तन के इस काल में जनता का ध्यान नवीन शोधों और आविष्कारों की ओर गया। विद्या का पुनरुत्थान इटली से आरंभ होकर सारे यूरोप में फैल गया। इस युग में मारलो, टामस किड़, जान लिली और शेक्सपियर जैसे नाटककार हुए जिन्होंने रंगमंच के क्षेत्र में नवीन क्रांति प्रस्तुत कर दी।

ऐलिजाबेथन स्वच्छंदतावादी धारा के नाटककारों में सर्वप्रमुख नाम मारलो (1564-1593) का है। मारलो ने अंग्रेज़ी त्रासदी को नवीन पात्र-विधान दिया, जिनमें चारित्रिक गरिमा एवं मानवीय व्यक्तित्व के धैर्य एवं साहस का परंपरागत अवस्थाओं एवं विश्वासों से

---

[1]शेल्ड़ान चेनी-रंगमंच-अनुवादक-श्रीकृष्णदास, प्र.सं. 1965,पृ.218

संघर्ष प्रस्तुत किया गया। 'डॉ.फोस्टस'(Doctor Faustus)तथा 'टेम्बरलेन' (Tambur Lane The Great) मारलो के स्वच्छंदतावादी पात्रों के अद्‌भुत उदाहरण हैं। अन्य प्रमुख नाटक हैं - The Jew of Maltaऔर Edward II। "नाट्य कला के क्षेत्र में 'ब्लैंक वेर्स' (अतुकांत् छंद) के प्रयोग के द्वारा भी उन्होंने क्रांतिकारिता प्रदर्शित की। ऐतिहासिक कथावस्तु के चयन द्वारा प्राचीन अव्यवस्थित इतिवृत्तात्मक नाटकों के स्थान पर विशुद्ध तथा प्रामाणिक त्रासदी प्रस्तुत की।"[1] जान लिली (1554-1606) शेक्सपियर पूर्व के प्रमुख प्रतिभाशाली कामदीकार है। इनकी प्रयोगधर्मिता ने यथार्थपरक प्रहसन को लैटिन कामदी की जटिलता तथा नैतिक नाटकों की रूपकात्मकता से मिलाकर एक नवीन नाट्य-शिल्प (ड्रामेटिक डिजाइन) के रूप में प्रस्तुत किया जो शालीन एवं स्वप्निल रोमाण्टिसिज़्म से आप्लावित है। एलिजाबेथन काल के रोबर्ट ग्रीन तथा जोर्ज पीली (George Peele)के नाटकों को मारलो एवं लिली ने प्रभावित किया।

सोलहवीं शताब्दी का अंग्रेज़ी रंगमंच आधुनिक थियेटर से बिल्कुल भिन्न था। शेक्सपियर के पूर्व दो प्रकार के रंगमंच प्रचलित थे ; मुक्ताकाशी (खुला रंगमंच जो सार्वजनिक था) एवं हॉल वाला रंगमंच (जो वैयक्तिक थे) । वस्तुतः इस युग के रंगमंच की परंपरा की शुरुआत शेक्सपियर के ग्लोब थियेटर की परिकल्पना के आधार पर हुई किंतु मध्ययुगीन रंगमंच की परंपरा का प्रभाव शेक्सपियर, कार्नाई जैसी प्रतिभाओं के नाटकों में देखा जा सकता है।

इस युग की संपूर्ण शक्ति के प्रतीक तो महान नाटककार शेक्सपियर (1564-1616) ही है जिन्होंने अपने नाटकों को जहाँ रंगमंच के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया, वहाँ रंगमंच में आवश्यक सुधार भी किये। उन्होंने ग्रीक, लैटिन स्रोतों से और अपने पहले के नाटककारों से कई बातें ग्रहण की हैं। किंतु अपनी प्रयोगधर्मिता के द्वारा नाटकों में नये प्राण फूँक दिये। शेक्सपियर ने प्राचीन परंपराओं और रूढ़ियों की अवहेलना की। उसने रंगमंच के लिए वर्ज्य दृश्यों जैसे हत्या या मौत को भी रंगमंच पर दिखाया और संकलन त्रय संबंधी नियमों का भी उल्लंघन करके नाटक को देश-काल और कार्य-व्यापार की दृष्टि से विस्तार दिया। जीवनगत वैविध्य और जटिलता के सभी कार्य व्यापार मंच पर दिखाने की ओर शेक्सपियर ने विशेष बल दिया। किंतु शेक्सपियर की मौलिकता,

---

[1]डॉ.रीतारानी पालीवाल - रंगमंचःनया परिदृश्य,प्र.सं. 1980,पृ.131

प्रतिभा और अनुपम काव्य चातुरी नेसंपूर्ण यूरोप को प्रभावित किया। नाटक के विभिन्न प्रकारों जैसे त्रासदी, कामदी,रोमांस तथा ऐतिहासिक नाटकों सभी पर अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ी। उन्होंने एक ओर आह्लादित जीवन के उमंग-उल्लास को उजागर करनेवाले 'एज यू लाइक इट','मर्चेन्ट ऑफ वेनिस', 'ट्वेल्थ नाइट', 'मच एडो एबाउट नथिंग','ए मिड समर नाइट्स ड्रीम' आदि सुखांत नाटकों की रचना की है तो दूसरी ओर 'हेमलेट', 'मैकबेथ', 'ओथेलो' तथा 'किंगलियर' जैसी जीवन की विरूपताओं और मानव मन की उलझनों को चित्रित करनेवाली त्रासदियों की रचना भी की है। ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास बोध की रक्षा करते हुए 'जूलियस सीजर' तथा 'एण्डनी एन्ट क्लियोपेट्रा' जैसे मानवीय दुखांत नाटकों की सृष्टि की है तो 'सिम्बेलिन', 'विन्टेर्स टेल' और 'दि टेम्पेस्ट' आदि रोमांसपरक नाटकों की रचना भी की है। इसप्रकार नाट्यवस्तु, रंगशिल्प और नाट्यशिल्प तीनों स्तरों पर शेक्सपियर के प्रयोग महत्वपूर्ण हैं।

शेक्सपियरेतर नाटककारों में बेन जॉनसन, जार्ज चैपमैन, टामस डेकर, टामस हेवुड़, जोन फ्लेचर और फ्रांसिस ब्यूमॉण्ट के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

### 2.2.6 फ्रांस की नाट्यकला

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में नाट्यकला का केंद्र फ्रांस हो गया। इसी समय के लगभग पेरिस के रंगमंच पर तीन महानुभावों ने अपनी कृतियों का चमत्कार प्रदर्शित किया। इनमें सर्वप्रथम पियरी कोर्निले (1606-1684) का नाम लिया जाता है जिन्होंने अपनी रचना 'द सिड' के द्वारा फ्रेंच नव्यशास्त्रवादी नाटकों को एक नया मोड़ दिया। यह नाटक एक स्पानिष कथा पर आधारित 'ट्राजिकोमड़ी' है अर्थात् एक गंभीर त्रासदी से युक्त नाटक है जिसका सुखांत होता है। त्रासदी और कॉमडी दोनों का मिश्रण इस नाटक में हुआ है जो नव्य शास्त्रवाद के नियमों के खिलाफ है। परंपरा के कई नियमों का पालन करते हुए भी कोर्नीले ने चरित्र निर्माण में अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया। नव्यशास्त्रवाद के अनुसार नाटक में असाधारण व्यक्तित्ववाले पात्रों की अपेक्षा सामान्य या सार्वत्रिक पात्रों को ही चुनना चाहिए था। इस नियम का उल्लंघन करते हुए कोर्नीले ने 'द सिड़' नाटक में नायिका को अपने ही पिता के कातिल से शादी की डोर में बाँधते हुए दिखाया जो कि उस समय का बहुचर्चित क्रांतिकारी कदम सिद्ध हुआ।

इसीप्रकार कामदी के क्षेत्र में मोलियर तथा त्रासदी के क्षेत्र में जीन रेसीन का नाम भी उल्लेखनीय है। शेक्सपियर के बाद मोलियर ही ऐसे कलाकार है जिनकी कृतियों के अनेक अनुवाद हिदी में हुए हैं और वे मंचन में भी सफल सिद्ध हुए हैं। इनका वास्तविक नाम जीन बैप्टिस्ट पोक्यूलिन (1622-1673) था। कुछ कलाकारों के साथ मिलकर इसने 1643-45 ई. में 'इलस्टर थियेटर' की स्थापना की और अपना नाम मोलियर रखा। उनकी अमर रचना 'द अफक्टड यंग लेड़ीस' का 1659 ई में पेरिस में अभिनय हुआ तथा उनका नाम संपूर्ण यूरोप में फैल गया। इस रचना में नाटककार ने रोमन कामदीकार प्लाटस तथा टैरेन्स की परंपरा का परित्याग कर नूतन प्रयोग किया तथा नाटक को सामाजिक असंगति, पाखंड और छद्म व्यंग्य करने का समर्थ माध्यम बनाकर वस्तु के स्तर पर प्रयोग की संभावनाओं के नये द्वार खोले। मोलियर ने साधारण बुद्धि पर बल दिया तथा सभी प्रकार के अतिवाद को सामाजिक जीवन के लिए घातक सिद्ध किया। उन्होंने विचारगर्भित हास्य (Thoutful laughter)उत्पन्न करने का प्रयास किया। मोलियर ने अपने सामाजिक नाटकों में व्यक्ति की ही आलोचना की है। क्योंकि वह समाज को निर्दोष मानता था। वस्तुतः कामड़ी के भीतर त्रासद व्यंग्य का प्रभाव उत्पन्न कर पाना उनकी नयी अपलब्धि थी। मोलियर ने अपनी रचनाओं द्वारा अरस्तु के इस सिद्धांत का भी खंडन किया कि कामदी निम्न कोटि की कला है और साबित कर दिखाया कि कलाकार अरस्तू और होरेस की सहायता के बिना भी सुंदर नाटकों की रचना कर सकता है।

कुलमिलाकर इन तीनों नाटककारों ने नयी-नयी तकनीकों को अपनाकर फ्रेंच नाट्य साहित्य को प्रगति के पथ पर ले जाने में सफलता हासिल की। किंतु आगे के लगभग सभी फ्रेंच नाटककारों नें कहीं न कहीं इन्हीं की शैली का अनुकरण अपने नाटकों में किया जिसके फलस्वरूप फ्रेंच नाट्यसाहित्य का ह्रास होता चला गया।

### 2.2.7 रेस्टोरेशन रंगमंच

रेस्टोरेशन रंगमंच ऐलिजाबेथन नाटक की भाँति युग जीवन की अभिव्यक्ति नहीं थी। यह तो केवल दरबारी मनोरंजन का साधन था। अतः इसकी प्रवृत्ति एकांगी थी। कामदी के क्षेत्र में तो नाटक ने विशिष्टता तथा विविधता हासिल की थी। इस समय के नाटककारों ने जीवन मूल्यों पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए अपने समय के जीवन के खोखलेपन को प्रस्तुत किया। इस समय के नाटकों में कथावस्तु की प्रधानता कम थी, वरन् शिष्ट बनावटी संवाद की प्रधानता अधिक थी। इसी समय में 'ड्राइडन' जैसा नाटककार हुआ जिससे इंग्लैंड में नाटक और रंगमंच का पुनर्जागरणकाल प्रारंभ होता है।

कान्ग्रीव ने अपनी कामदियों के ज़रिये सामाजिक जीवन की विसंगतियों पर तीखे व्यंग्य किये तो ड्राइडन ने अति भावुकतापूर्व नाटक लिखे जिन्हें 'सेंटिमेंटल कॉमडी' भी कहा जाता है। इस श्रेणी की प्रमुख रचनाएँ हैं - ड्राइडन की 'आल फार लव' , 'औरंगज़ेब' और कानग्रीव की ' दि वे ऑफ दि वर्ल्ड' तथा टामस आटवे की 'दि आर्फन' आदि।इसी काल में इनीगो जोन्स ने मंच के ऊपर चौखटे (फ्रेम) के सामने का पर्दा लगाने की प्रथा चलाई और चित्रित दृश्यावली तथा अलंकृत वस्त्राभूषणों का प्रयोग भी आरंभ किया।

### 2.2.8 अठारहवीं शताब्दी का रंगमंच

इस शती में नाट्यकला का विस्तार संपूर्ण पाश्चात्य जगत में हो गया और भव्य नाट्यशालाओं का निर्माण भी त्वरित गती से होने लगा। प्रत्येक राजसभा ने सभ्य कहलाने के लिए ओपेरा के हेतु एक सुन्दर रंगमंच का निर्माण कराना अनिवार्य समझा।

मोलियर के बाद यूरोपीय नाट्यक्षेत्र में जर्मनी के जी.ई. लेसिंग (1929-81), जे.डब्ल्यू .वॉन गोयथे (1749 -1832) एवं शिलर (1759 -1805) सदृश स्वच्छंदतावादी नाटककारों का सहयोग रंगमंच को मिला । इनमें लेसिंग ने अपनी रचनाओं में भाव प्रधान सुखांतकियों का रूप प्रकट किया और उन्हें विश्वबंधुत्व की भावना के प्रचार का साधन बनाया । गोयथे ने स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला में बौद्धिकता के तत्व का समावेश किया और शिलर ने इसी नये तत्व से अनुप्राणित दुखांतकियों तथा ऐतिहासिक नाटकों की सृष्टि की।

इस काल की प्रमुख नाट्यशालाएँ दो थीं (1) डूरिलेन थियेटर (2) कोवेण्ट गार्डन थियेटर। रंगमंच पर मेहराबदार दरवाज़ों तथा बॉक्स सेट आदि की प्रथा भी चली, शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चित्रित फलकों के स्थान पर त्रिपरिमाणीय रंगमंच का आरंभ हुआ।

### 2.2.9 उन्नीसवीं शताब्दी का रंगमंच

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक प्रगति एवं नवीन चिंतकों तथा दार्शनिकों के प्रभावस्वरूप नाट्य-चेतना में भारी परिवर्तन आया। नवीन चेतना ने परंपरागत धर्म एवं नैतिक विश्वासों के ऊपर प्रहार किया। डारविन, जान स्टुर्ट मिल, हक्सले, स्पेन्सर, मार्क्स, कामू, फ्रायड़ आदि द्वारा प्रदत्त वैज्ञानिक क्रांति ने नाटक को जीवनगत प्रश्नों से जोड़ दिया। दस्तावस्की, बाल्जाक, जोला, भोपासा, स्तानिस्लाव्स्की, फ्लाबर्ट, बोदेलेय, टाल्स्टाय, तुर्गनेव तथा इब्सन की कृतियों में यह नयी चेतना मुखरित हुई।

उन्नीसवीं शती में विज्ञान के आविष्कारों तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप यथार्थवादी प्रवृत्ति को बल मिल रहा था तथा साहित्यिक क्षेत्र में भी स्वच्छदतावादी मनोवृत्ति के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया जन्म ले रही थी। शेक्सपियर की स्वच्छंदतावादी नाट्यकला के विरुद्ध नाटकों में जीवन की यथार्थता को प्रस्तुत करने का आंदोलन सर्वप्रथम फ्रांस में यूजेने स्क्रीब, एलेक्ज़ान्ड्रे ड्यूमा फिस, एमिल ज़ोला आदि की रचनाओं से प्रारंभ हुआ।

ज़ोला प्रकृतिवादी था। यथार्थवादी नाटककारों की ही एक शाखा प्रकृतिवादी है (Naturalism)। ये नाटककार फोटोग्राफर के कैमरे की भाँति यथार्थ जीवन और जगत के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चित्रण का समर्थन करते हैं। वे आदर्शवाद के घोर विरोधी हैं। इनके नाटकों में आत्महत्या, अपराध, रक्तपात, अवैध प्रेम, आडबर, मक्कारी तथा अपहरण आदि से संबद्ध कथानक है। इन नाटककारों में जर्मनी के संडरमैन तथा हाफ़्टमैन, इटली के पिरेण्डेलो, रूस के गोर्की तथा चेखोव और अमेरिका के यूजेन ओ नील आदि प्रसिद्ध है। ज़ोला के अनुसार आधुनिक नाटक को वातावरण और चरित्र के जीवन की दोहरी गहराइयों में प्रवेश करना होगा। इसतरह वातावरण के महत्व की स्वीकृति के साथ रंगमंच में आधुनिकता की शुरुआत हो गयी। वातावरण के इसी वैज्ञानिक धरातल के फलस्वरूप रंगमंच पर यथार्थवाद का सूत्रपात हुआ, साथ ही यथार्थ रंगमंच के अनुकूल सामाग्रियों के लिए संकेतात्मक वातावरण के निर्माण की पद्धति का भी विकास हुआ। प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद , रूपवाद, निर्माणवाद और नाटकीयतावाद जैसी शैलियाँ रंगमंच पर अवतीर्ण हुई। इन शैलियों के द्वारा रंगमंच की नयी-नयी शक्तियों का अन्वेषण किया गया जिनसे आज प्रयोगधर्मिता के विभिन्न आयाम विकसित होते जा रहे हैं।

आधुनिक नाटक का पूर्णतः नवीन रूप तो नार्वे के हेनरिक इब्सन (1828-1906 ई.) के मध्य नाटकों में देखने को मिलता है। इब्सन ने सर्वप्रथम यथार्थपरक जीवन से उद्‌भूत ज्वलंत समस्याओं को अपना नाट्य-विषय बनाते हुए नवीन नाट्य-शिल्प की अवतारणा की। उनके प्रयोगों के फलस्वरूप एक नूतन नाट्य-रूप, समस्या नाटक का उद्‌भव हुआ। इसीलिए उन्हें आधुनिक नाट्य का पिता भी कहा जाता है। इब्सन ने व्यक्ति तथा सामाजिक वातावरण के पारस्परिक संबंधों को अपना विषय चुना तथा उन रूढ़ियों एवं परंपराओं को ध्वस्त करने के लिए तीक्ष्ण व्यंग्य का उपयोग किया जो व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति को बाधित करती है। विशेषतः उन्होंने विवाहित नारी की बेड़ियों को भग्न

करने की चेष्टा की। उनके 'पियर गांट', 'डाल्स हाऊस' तथा 'घोस्ट' और 'वाइल्ड डक्स' आदि नाटकों में मौलिकता तथा क्रांति की चिंगारी भरी हुई है। उसके चरित्र क्रांति की ज्वाला अंतर्मन में छिपाए हुए हैं, जो परिस्थितियों में आकर विस्फोट और विनाशकारी सर्वनाश का प्रदर्शन करते हैं। इसके साथ ही साथ इब्सन ने अपने नाटकों द्वारा नाटकीय शिल्पविधि तथा रंगमंचीय टेकनीक में महान परिवर्तन उपस्थित किया। नाटक के तत्वों के विकास में उसने अत्यंत सरल तथा संक्षिप्त शिल्पविधि का प्रदर्शन किया। वह पहला लेखक था जिसने पाँच अंकवाले नाटकों की परंपरा को तोड़कर उसे तीन अंकों की परिधि में बाँध दिया। रंगमंच के निर्देश (स्टेज डायरेक्शन) का सूत्रपात भी इब्सन ने ही किया। उनकी नाट्यशाला में जो नाटक प्रस्तुत किये जाते थे, उनके दृश्यों को यथार्थ पृष्ठभूमि देने के लिए उन्होंने प्रत्येक दृश्य की योजना के लिए विस्तृत रंग निर्देश की परंपरा चलाई। इसी प्रेरणा से उन्होंने अपने यथार्थवादी नाटकों में भी स्थान, चरित्रों, उनकी चेष्टाओं आदि के संबंध में विस्तृत रंग निर्देश देने प्रारंभ किये। उन्होंने अपनी यथार्थवादी नाटकीय रचनाओं में नाट्यकला का जो उत्कृष्ट रूप प्रकट किया उससे यूरोप के सभी देशों में उनकी रचनाओं का स्वागत हुआ, और फिर यह रंग निर्देश देने की प्रथा समस्त यूरोप के नाटक साहित्य में प्रचलित हो गई।

बुद्धिवादी नाटक की संभावनाओं का विकास और विस्तार इब्सन के बाद हम अयरलैंड के जार्ज बर्नार्ड शॉ (1856-1950) की कृतियों में पाते हैं। शॉ ने शेक्सपियर की विरासत के प्रति विद्रोह प्रकट करते हुए नाटकों में कथा-तत्व तथा भव्य चरित्रों के उपस्थापन की अपेक्षा विचारों के प्रक्षेपण पर बल दिया। 'मैन एंड दि सूपर मैन' तथा 'सैंट जॉन' जैसी कृतियों में नये युग के दर्शन को उसने व्यक्त किया है।

### 2.2.10 बीसवीं शताब्दी का रंगमंच

बीसवीं शताब्दी के रंगमंच को पिछली शताब्दी से यथार्थवाद की परंपरा उत्तराधिकार में मिली। परंतु तीन-चार दशकों के पश्चात् रंगमंच की सारी पूरानी परिभाषाएँ बदल गयी। जीवन मूल्यों तथा युग-संदर्भों के बदलाव ने संपूर्ण पाश्चात्य सभ्यता में ऐसा तूफान खड़ा किया कि आधुनिक रंगमंच पिछले युगीन रंगमंच की तरह सीधे एवं स्पष्ट न होकर वह अनेक दायरों के बीच घेरा रहा।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण का महत्व एडवेर्ड गोर्डन क्रेग के रंग दर्शन के साथ बढ़ा है। क्रेग ने अपने अतिशय क्रांतिकारी चिंतन में समस्त

कलाओं को रंगमंचीय कला का निबंधित रूप बतलाया। क्रेग रंगमंच पर विशुद्ध सौंदर्य लाने के प्रयास में थे। वे यांत्रिकतावादी रंगमंच पर केवल मशीनों को ही रहने देना चाहते थे। उन्होंने नाट्य में प्रतीकात्मक डिजाइन का समावेश किया। वे नाट्यालेख की बजाए निर्देशक, डिजाइनर और अभिनेता की सर्जनात्मकता पर ज़्यादा बल देते थे और उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने 1905 में 'आन द आर्ट ऑफ थियेटर' पुस्तक का प्रकाशन करके आवांगार्द सिद्धांत को जागृत किया। 'नाट्य का पुनर्नाटकीकरण' (Re-theatricalisation of theatre) यही आवांगार्द का नारा था। इब्सन और शॉ के बाद रंगमंचीय वातावरण में अनेक प्रयोग किये गये। स्विटज़रलैंड के कलाकार अडोल्फी एप्पिया ने रगंमंच के लिए प्रकाश के द्वारा विविध वातावरण निर्माण की योजना प्रस्तुत की।

बीसवीं शताब्दी की एक और विशेषता अव्यावसायिक रंगमंच की स्थापना है। यथार्थवादी रंगमंच की प्रतिक्रिया में जर्मन में स्वभाववादी रंगमंच की स्थापना हुई। बड़े दृश्यों का स्थान छोटे दृश्यों ने ले लिया। अव्यवस्थित मस्तिष्क को व्यक्त करनेवाले संवाद भी अस्त-व्यस्त हो गये। आधुनिक मनोविज्ञान का पूर्ण उपयोग होने लगा। प्रतीकवादी चरित्र की रंगमंच पर सृष्टि हुई। प्रकाश का सार्थक उपयोग, मोनोलॉग की उपयोगिता, कथानक और दृश्यों में सादगी तथा मितव्ययता को महत्व दिया गया। रंगमंच सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति बन गया। विज्ञान के आविष्कारों ने रंगमंच को बहुत संपन्न किया। बिजली की सुविधा प्राप्त होने पर चक्रिल रंगमंच (रिवाल्विंग स्टेज) का आविष्कार हुआ। चक्रिल रंगमंच अपने ही केंद्र पर चक्कर लगाकर लगभग एक दर्जन दृश्य प्रस्तुत कर सकता है। दर्शक के समक्ष जब तक एक दृश्य चलता है तब तक पीछे दूसरा दृश्य तैयार होता रहता है। एक दृश्य समाप्त होने के तुरंत बाद ही परदा गिरते ही दूसरा दृश्य प्रस्तुत हो जाता है। किंतु आजकल के रंग निर्माता विस्तृत व्यापक सज्जा तथा भारी भरकम यंत्र और उपकरणों से बोझिल मंच का बहिष्कार करते हैं, क्योंकि इनमें मंच पर खड़े अभिनेता का अस्तित्व बहुत ही कम दिखाई देता है।

बीसवीं शताब्दी का चौथा दशाब्द काव्य-नाटक केलिए विशेष महत्वपूर्ण है। इस क्षेत्र में टी.एस.इलियट (1888-1965) का नाम लिया जा सकता है, जिन्होंने नाटक में बढ़ती हुई गत्यात्मकता के विपरीत अपने 'मर्डर इन केथेड्रल' में काव्य नाटक फिर से

प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् 'फैमिली रीयूनियन', 'दि कॉक्टेल पार्टी', 'दि कान्फीडेंशियल क्लर्क' आदि कई काव्य नाटकों में उन्होंने कथावस्तु में नाटकीय प्रभावात्मकता का विशेष ध्यान रखा है और भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उन्होंने अपने नाटकों में युद्धोत्तर समाज की आध्यात्मिक रिक्तता एवं पराजय का भाव प्रदर्शित किया है। अन्य काव्य नाटककारों में येट्स, ओडेन, इशरबुड तथा क्रिस्टोफर फ्राइ का नाम उल्लेखनीय है। येट्स के काव्यनाटकों में अर्थ की संपूर्ण गहनता संवादों द्वारा व्यक्त होती है। उनके नाटकों में 'दि रिसरेक्सन', 'दि डैथ आफ ए कुबुलेन' आदि प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दो अत्यंत प्रसिद्ध नाटककार हैं -इटली का पिरेन्डेलो (1867-1936) और अमेरिका का यूजीन ओ नील (1888-1953) । ये दोनों अभिव्यंजनावादी नाटककार हैं। पिरेन्डेलो यथार्थवाद को मानते हुए भी यथार्थवाद का विरोधी है। उनके नाटकों में रगमंचीय पटुता तथा सृजनात्मक मैलिकता की स्पष्ट छाप मिलती है। इब्सन के चरित्र मानसिक अन्तर्द्वंद्व के साथ होते हुए भी एक चरित्र हैं। पर 'पिरेन्डेलो' का एक चरित्र मन में अनेक परमाणुओं को रखता है, जिसमें भयानक विस्फोट की शक्ति है। उनका हर एक पात्र अपने को अकेला समझता है, परंतु यह एक विंडबना है कि प्रत्येक में अनेक रूपों का दर्शन मिलता है।

'ओ' नील की एक विशेषता, उनकी स्वप्न दर्शन की वृत्ति भी है और उसकी अभिव्यक्ति उनकी इन प्रारंभिक रचनाओं में भी मिलती है। इसके अनंतर उन्होंने मनुष्य के मनोजगत का उद्‌घाटन करनेवाली अभिव्यंजनावादी रचनाएँ लिखीं। उन्होंने ग्रीक नाटकों के कथानकों को फ्राइडियन मनोविज्ञान के आधार पर नया संस्कार दिया है। वातावरणनिर्माण में तो वह अनुपम है। उनके नाटकों में 'द रोप', 'द गोल्ड', 'द हेयरी एप', 'आइस मैन कमेथ ' अधिक प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों में अतृप्त वासना तथा यौन संबंधी विकारों के दुष्परिणामों का चित्रण है। निराशा, कुंठा तथा आत्महत्या के कथानकों से उसके नाटक भरे पड़े हैं। 'द हेयरी एप' अभिव्यंजनावादी शैली का एक सुंदर नाटक है। वह एक ऐसे मनुष्य का प्रतीक है जिसने प्रकृति के साथ अपना संतुलन खो दिया है। पिरेंडेलो तथा ओ नील के अतिरिक्त आधुनिक यूरोपीय नाटकों को नवीनतम मोड़ देनेवाले मेयरहोल्ड, सार्त्र, सेलेक्रा, जीन जिराउदो, पीटर ब्रुक, जेआमि, प्रिस्टले, आर्थर मिलर, टेनेसी विलियम्स, जीन काकतो, लोर्का, और क्लाउदेल आदि हैं, जो यूरोपीय नाट्य जगत के इस शताब्दी के महान कलाकार हैं।

बीसवीं शताब्दी के रंगमंच पर यूनानी नाट्य परंपरा के प्रतिमानों को तोड़कर अपना नवीन सिद्धांत खड़े करनेवाले नाटककारों और रंगकर्मियों में जर्मनी के बर्तोल्ल ब्रेश्ट (1898-1956) अपनी रचनाशीलता और नये प्रयोगों के कारण बहुचर्चित हैं। रंगचिंतन की दृष्टि के यथार्थ के सही चित्रण का विरोध करते हुए ब्रेष्ट वस्तुनिष्ठ प्रकृत-विरोधी वाद (ओब्जेक्टिव एंटी नेचुरलिज्म) की विचारधारा को लेकर अवतरित हुआ और पार्थक्य प्रभाव के सिद्धांत को प्रतिपादित करते हुए महाकाव्यात्मक रंगमंच या एपिक थियेटर को उसने स्थापित किया। हालाँकि ब्रेश्ट अपनी प्रदर्शन शैली को यथार्थवादी ही कहते है फिर भी उनका यथार्थवाद बंधनहीन है। ब्रेश्ट द्वारा प्रतिपादित 'एपिक थियेटर' की परिकल्पना प्राचीन नाट्य परंपरा की कुछ चीज़ों को छोडती है और कुछ चीज़ों को अपनाकर एक रचनात्मक-संश्लिष्टता प्रदान करती है। यहाँ महाकाव्योचित-गुण भी है, गीतात्मकता भी है। एपिक थियेटर में ब्रेश्ट ने तादात्म्यमूलक अभिनय प्रणाली के विपरीत पृथक्करण की अभिनय प्रणाली विकसित की। पृथकता पर आधारित नाट्य-प्रयोगों का उद्देश्य यह है कि प्रेक्षक नाटक देखते समय भाव प्रवाह में न बह जय, बल्कि एक आलोचकीय दृष्टि से नाटक को देखे, उसका विवेचन विश्लेषण करे और समस्या की जड़ तक पहुँचकर सुधार अथवा परिवर्तन की संभावनाओं को भी तलाश सके। 'पृथक्करण' के प्रभावस्वरूप दर्शक अधिक सजग, अधिक सतर्क और आलोचकीय दृष्टि से अधिक संपन्न बनता है। इस तरह ब्रेश्ट एपिक थियेटर के माध्यम से प्रयोगधर्मिता का एक नया मानक उपस्थित करते हैं।ब्रेश्ट के 'काकेशियन चॉक सर्किल', 'दि मदर' तथा 'गलीलिओ' और 'थ्रीपेनी ओपेरा' जैसे नाटकों में , भाषा का अवमूल्यन, चरित्र के नायक की विपरीत छवि, प्रेक्षक को नाटक के संसार से तटस्थ रखते हुए विचारशील बनाने की दृष्टि, सर्वहारा वर्ग के लोगों की नयी चेतना जैसे तत्व प्रतिफलित हैं, जो प्रयोगधर्मी नाट्यकार के रूप में ब्रेश्ट की विशिष्टता सूचित करते हैं।

भारतीय भाषाओं तथा विशेषतः हिंदी के अनेक नाट्यकारों ने ब्रेश्ट के प्रयोगों को अपनाया है। ब्रेश्ट से प्रभावित होकर स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों का ध्यान लोक नाट्य परंपरा के पुनरान्वेषण की ओर गया, रंगमंच को दर्शक से जोड़ने के प्रयत्न भी हुए तथ लोक-गीतों एवं संगीत का समावेश भी नाटकों में होने लगा। सक्सेना के 'बकरी', कर्नाड के 'हयवदन' जैसे अनगिनत नाटकों में तथा हबीब तनवीर के सभी नाटकों में लोकनाट्य परंपरा का प्रयोगात्मक रूप दिखाई देता है।

ब्रेश्ट और सार्त्र की नाट्य-परंपरा की अत्याधुनिक परिणति पाश्चात्य रंगमंच पर असंगत नाटक, थियेटर आफ इनवाल्वमेंट, अन्टोनिनआर्तो के 'क्रूरता का रंगमंच'(Theatre of Cruality), जेर्जी ग्रोतोव्स्की के 'पुअर थिएटर', जूलियन बेक और जूडित मलीना के 'लिविंग थियेटर', रोबर्ट विल्सन के 'थियेटर ऑफ इमेजस' आदि कई रूपों में दिखायी देती है।

अगस्तो बोयाल(Augusto boal)ने 'शोषितों का रगमंच'(Theatre of the oppressed) के ज़रिये ब्रेष्ट के रंग-सिद्धांत को एक सैद्धांतिक परिणति तक पहुँचाया। उनकी प्रस्तुतियों में दर्शक न केवल नाटकीय अनुभवों के सक्रिय समीक्षक होने तक सीमित रहते हैं बल्कि नाटक के निर्णायक मोड़ों पर नाटक की प्रक्रिया में सशरीर शामिल भी होते है और नाटक की दिशा को तय करने में निर्णायक भी होते हैं। इसतरह बोयाल अभिनेता और दर्शकों के बीच के द्विविभाजन को समाप्त करते हैं।

इसप्रकार पाश्चात्य नाटक और रंगमंच की प्रयोगधर्मिता पर दृष्टि डालने के उपरांत निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि अभिव्यंजनात्मक विविधता और वस्तु-जीवन के अन्वेषण में पाश्चात्य नाटक नई संभावनाओं की ओर सतत अग्रसर रहा है और इन नाटकों के विश्वव्यापी विकेंद्रीकृत प्रसार को देखते हुए यह कहना गलत न होगा कि हिंदी रंगमंच के उत्कर्षमय युगों में भी पाश्चात्य नाटकों का महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा जो नाटक को नए क्षितिजों की ओर गति देने में समर्थ होगा।

वस्तुतः पाश्चात्य नाटकों का सर्वाधिक प्रभाव स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों के शिल्प और रंग़मंच की समृद्धि में दिखायी देता है। ध्वनि, प्रकाश योजना तथा वैज्ञानिक उपकरणों से अधुनातन प्रयोगों में संलग्न हमारा वर्तमान रंगमंच बहुत अंशों में पाश्चात्य रंगमंच का ऋणी है। प्रयोगशील हिंदी नाटकों को पाश्चात्य नाटककारों से नये विषय व अनुभव के नये क्षेत्र भी प्राप्त हुए हैं। किंतु यह सच है कि वे उनपर हावी नहीं हुए। उन्हें अपने परिवेश और समाज के पात्रों में खोजने की कोशिश की गयी है। वर्तमान युग में पाश्चात्य प्रभाव की अपेक्षा मौलिकता की ललक अधिक दिखायी देती है।

## 2.3 भारतीय नाट्य परंपरा में प्रयोग

भारतीय नाटक की परंपरा समूचे विश्व परिदृश्य में देखें तो अन्य देशों की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, समृद्ध और समाज केन्द्रित रही है। यह रंगपरंपरा जो मध्ययुग के

राजनीतिक अशांति, इस्लाम की धार्मिक संकीर्णता और अपेक्षित गद्य के अभाव में अवरुद्ध हो गयी थी वह आधुनिक युग में पाश्चात्य जीवन दर्शन, कलाविषयक चिंता और वैज्ञानिक चिंतन के सशक्त प्रभाव से रंगमंच के प्रति गहरी जागरूकता के रूप में पुनः उभरता दिखाई देता है। आज भी रंगकर्म का यह सिलसिला अनेक वैचारिक, राजनीतिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक क्रांतियों के बीच से यात्रा करते हुए अबाध रूप से जारी है, फिर भले ही उसे बीच बीच में रुकना या मंथर होना पडा हो। इस यात्रा में अनेक तत्व परंपरा के साथ जुडे हैं। इन परंपरागत तत्वों एवं प्रभावों ने सृजनात्मक रचनाकारों को नाटक के प्रयोग की नयी दिशाएँ खोजने के लिए प्रेरित किया।

वस्तुतः समकालीन भारतीय नाटक ने आधुनिक जीवन की तार्किक परिणतियों, द्वद्वों ,संघर्षों एवं मूल्य विघटन और विसंगत परिस्थितियों को परंपरागत नाट्यशिल्प के पुनरान्वेषण और अधुनातन नाटय प्रयोगों द्वारा जीवन्त तथा तीखे रूप में प्रस्तुत किया है। अतः निश्चित रुप से कहा जा सकता है कि हिन्दी नाट्य साहित्य के अध्ययन में अपने पारंपरिक नाटकीय कला तत्वों, व्यवहारों और रूढ़ियों का बडा महत्व है जिसका अभिग्रहण करते हुए नाट्यकारों ने प्रयोगधर्मिता के नूतन आयामों से हिन्दी नाटक को रूपांतरित किया है। नाटय परंपराओं के पुनर्निर्माण के संदर्भ में सुरेश अवस्थी ने स्पष्ट लिखा है-"जब तक हम अपनी ही नाट्य परंपराओं और कला रूढ़ियों की खोज और उनका नवीन और प्रयोजनशील प्रयोग नहीं करते, तब तक हमारा नाटक और रंगमंच वर्तमान कलागत संकट से न उभरेगा और न हम पश्चिमी दाय का ही कोईबहुत कलात्मक उपयोग कर सकेंगे।"[1]वास्तव में प्रयोगधर्मिता पश्चिमीकरणमेंनहीं अपनी परंपरा को समकालीन ज़रूरतों के संदर्भ में ढ़ालने, बदलने और जीवंत करने में ही है। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय नाट्य परंपरा का संक्षिप्त सर्वेक्षण करना समीचीन होगा जिसका वर्गीकरण, अध्ययन एवं विश्लेषण की सुविधा के हेतु निम्न प्रकार से किया जा सकता है - (क) संस्कृत नाट्य परंपरा (ख) प्राकृत एवं अपभ्रंश नाट्य परंपरा (ग) प्रादेशिक भाषीय नाट्य परंपरा ।

इन नाट्य परंपराओं का विशद विश्लेषण एक स्वतंत्र प्रबंध का विषय हो सकता है। इसलिए यहाँ केवल प्रतिपादन योग्य कुछ प्रमुख नाटककारों की, महत्वपूर्ण एवं युगांतरकारी नाट्य रचनाओं का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत है।

---

[1]डॉ.सुरेश अवस्थी (सं)-नाटक साहित्य का अध्ययन,ब्रैंडर मेथ्यूज़ के 'A study of the drama'का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक–इन्दुजा अवस्थी, प्र.सं. 1964, पृ.15

## 2.3.1 संस्कृत रंगमंच और प्रयोग

नाट्योत्पत्ति के मूल में मनुष्य की मनोरंजन की आदिम वृत्ति तथा उसमें जन्म जात अनुकरण की प्रवृत्ति ने अवश्य योगदान दिया है। सभ्यता के साथ-साथ यह आदिम नाटक धीरे-धीरे संगीत, नृत्य, अभिनय, गीत-वाद्य आदि विभिन्न तत्वों से जुड़कर सतत् विकास प्रक्रिया से गुज़रता हुआ वर्तमान स्वरूप में आ पहुँचा है। संस्कृत नाट्य की उत्पत्ति के आरंभिक स्रोत चाहे कुछ भी हो यह सत्य है कि लगभग ड़ेढ़ हज़ार वर्ष तक इस परंपरा ने हमारे देश में रंग परंपरा को जीवंत बनाये रखा। निस्संदेह हिन्दी नाट्य प्रयोग के उद्‌गम का मूल संस्कृत रंगमंच ही है।

नाट्य की उपादेय सामग्री में प्रयोगधर्मिता की विविधता तथा समग्र रंगकर्म की अवधारणा को प्रकट करने के लिए भरत ने जहाँ नाट्य लेखन के दस प्रकारों की दश रूपक (नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, वीथी, समवकार, व्यायोग, अंक और ईहामृग ।) और 11 तत्वों के नाट्य संग्रह (रस,भाव,अभिनय, धर्म,वृत्ति,प्रवृत्ति, सिद्धि,स्वर,आतोद्य अथवा वाद्य, गान और रंग अर्थात् नाट्यशाला) की विवेचना की है, वहीं उनकी प्रयोग-विधि को लेकर भी दो विकल्प सुझाए गए हैं-लोकधर्मी और नाट्य धर्मी प्रस्तुति शैलियाँ। लोक धर्मी अर्थात् लोक या संसार के सहज एवं सरल जीवन से जुडे व्यवहार या मानव स्वभाव को प्रयोग में लानेवाली शैली है। इस लोक धर्मी को रचनाकार की अपनी स्वतंत्र प्रतिभा और दृष्टि के द्वारा रूपांतरित कर कृत्रिम, औपचारिक, रूढ़ और काफी अभ्यास से अर्जित मुद्राओं एवं शास्त्रीय पद्धति के गतिविधान के द्वारा प्रस्तुत करना नाट्यधर्मी है। इसी ने संस्कृत नाटक को काव्यात्मक तथा संगीत एवं नृत्यधर्मी बनाया था। वस्तुतः यह एक बहुत ही रोचक तथ्य है कि ये दोनों प्रस्तुति शैलियाँ भारतीय रंगकर्म के आरंभ से अब तक एक दूसरे के समानांतर नाट्य प्रयोग का आधार बनती रही है।

संस्कृत नाटकों का मूल लक्ष्य भारतीय सभ्यता, संस्कृति तथा दर्शन की अभिव्यक्ति के साथ नैतिक, आध्यात्मिक तथा सौंदर्यपरक मूल्यों का उन्नयन भी था। यह तो निर्विवाद है कि भास,कालिदास अश्वघोष, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति, हर्ष, बोधायन जैसे संस्कृत नाटकों के अनेक नाट्य शिल्पियों ने उच्च स्तर की सृजनात्मक और प्रयोगपरक नाट्य कृतियाँ प्रदान की हैं जो केवल साहित्य की दृष्टि से ही नहीं रंगमंच पर प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी अद्वितीय और अनन्य है। 'स्वप्नवासवदत्ता', 'उरूभंग', 'अभिज्ञान शांकुतल', 'विक्रमोर्वशीय', 'मध्यम व्यायोग', 'मृच्छकटिकम्', 'मुद्राराक्षस',

'उत्तररामचरित', 'रत्नावली', 'भगवदज्जुकीय' आदि नाटक विषयगत प्रयोग और रोचकता के लिए जीवन के बहुमुखी और सूक्ष्म अवलोकन के लिए, वातावरण की विशिष्टता और शैलीगत नवीनता के लिए संरचनात्मक कौशल एवं विविधता के लिए बड़ा व्यापक क्षेत्र प्रस्तुत करते हैं। भास से बोधायन तक के कुछ मुख्य नाटककारों पर नज़र डालें तो संस्कृत साहित्य में कदाचित भास ऐसे पहले नाटककार है जिन्होंने साहित्य के प्रारंभिक प्रयोगों की विरल स्थिति को निरस्त करते हुए संस्कृत नाटक और रंगमंच की परंपरा को मौलिक और अभिनव प्रयोगों के द्वारा एक नई दिशा प्रदान की। भास ने सात्वंती (मन का व्यापार) और आरभटी वृत्ति (उग्र काय चेष्टा) प्रधान नाटकों की प्रचलित परंपरा से हटकर कैशिकी वृत्ति (सुकुमार काय चेष्टा) को अपनाते हुए नाटकों में विभिन्न मानवीय आवेगों-आकांक्षाओं तथा पात्रों के अंतर्द्वन्द्व को प्रमुखता से स्थान दिया है।

रंगशिल्प और नाट्यशिल्प की दृष्टि से भी भास के कुछ विशिष्ट प्रयोग हैं। रंगमंच पर पात्रों को अलग-अलग समूहों में खडा कर उनमें से एक को दूसरे की उपस्थिति से अनभिज्ञ रखना, एक परिवार के लोगों-पिता,पुत्र आदि का समय के अंतराल में आकस्मिक रूप से मिलना और उनमें से एक का दूसरे को न पहचान पाना आदि प्रयोग कहीं चमत्कारपूर्ण है तो कहीं मार्मिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। पात्र एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी भास ने अविमारक और वसंत सेना के रूप में प्रयोग किये हैं। जिनमें प्रथम पात्र यदि, अपने वर्तमान स्वरूप में शूद्रक है तो द्वितीय गणिका। शूद्र और गणिका को नायक एवं नायिका का गौरव प्रदान करना भास के रूढ़ि विरोधी और स्वतंत्र चिंतन का परिचायक है। इनके नाटकों में नाट्यशास्त्र के नियमों को कई जगह तोड़ा भी गया है। रसनिष्पत्ति की सफलता के लिए नाट्यशास्त्र में कुछ दृश्य वर्जित माने गये हैं जैसे वध, युद्ध, लड़ाई-दंगा, भोजन-स्नान, सुरत, अनुलेप आदि। लेकिन 'उरूभंग' में नाट्यशास्त्र के नियमों के विरुद्ध भीम द्वारा दुर्योधन की मृत्यु को दिखाया गया है। संस्कृत का एकमात्र यही दुखांत नाटक है। इनकी शैली भी प्रयोगात्मक रही है। 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में वासवदत्ता एवं उदयन मंच पर कभी नहीं आते, लेकिन दर्शक हमेशा महसूस करते रहते है कि ये पात्र बस आने ही वाले हैं। नाट्यरूपों के वैविध्य की दृष्टि से भी भास की नाट्य रचनाओं में आठ अनेकांकी नाटक तथा पांच एकांकी उपलब्ध हुए हैं जिनमें मौलिक उद्‌भावनाओं के द्वारा परवर्ती नाटककारों के लिए एक नई परंपरा विकसित की।

कविगुरुकालिदास के तीनों ही नाट्य प्रयोग 'मालविकाग्निमित्रम्', 'विक्रमोर्वशीयम्' और 'अभिज्ञानशाकुंतल' परवर्ती नाट्य साहित्य की विभिन्न परंपराओं के प्रेरक रहे हैं। ये तीनों ही नाटक कमोबेश प्रेम कथाओं पर केंद्रित है। किन्तु इन नाटकों में उपलब्ध पौराणिक प्रसंगों को कालिदास ने अपनी अलौकिक एवं असाधारण कल्पनाशाक्ति और अपने प्रयोगधर्मी नाट्य-नैपुण्य के द्वारा नया रूप और अर्थ दिया है। इन नाटकों में सामाजिक अथवा नैतिक संदर्भ, स्थितियों की विड़ंबना तथा मानवीय भावों के उतार-चढ़ाव का जैसा मार्मिक एवं भावपूर्ण वर्णन बन पडा है वैसा शायद ही कहीं मिले। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुंतल' नाटक में अपने पात्रों की जो सृष्टि की है वह बहुत ही सुंदर, गौरवपूर्ण और प्रयोगपरक है। उन्होंने पुरुवंश की प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा की रक्षा करते हुए दुष्यंत और शकुंतला के चरित्र को बहुत ही ऊँचा चित्रित किया है। भाषा के प्रयोग में भी कालिदास की सूक्ष्मदर्शिता प्रकट हो जाती है। सिपाही की भाषा, मछुए की भाषा, स्त्रियों की भाषा-सबके सूक्ष्म भेदों की ओर उनकी पैनी दृष्टि गयी थी।

कालिदास के बाद लीक से हटकर राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' और विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' उल्लेखनीय नाट्य प्रयोग हैं। शूद्रक ने 'मृच्छकटिकम्' में प्रचलित रचना संबंधी नियमों को तोडकर एक गणिका और साधारण ब्राह्मण के प्रेम की कथा आलेखित की। यह एक सशक्त प्रौढ़ नाट्य रचना है जिसमें तत्कालीन हिंदू समाज का चित्र जीवंतता के साथ उभारा गया है। प्रयोग की दृष्टि से 'मृच्छकटिकम्' की सबसे बडी विशेषता पात्रों के चरित्र चित्रण में देखी जा सकती है। इसे एकमात्र चरित्र-चित्रण प्रधान नाटक कहा जा सकता है। संस्कृत नाटकों में प्रायः पात्र किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि बनकर आते हैं, किंतु 'मृच्छकटिकम्' के पात्र सार्वभौम (कास्मोपौलिटन) होते हुए भी अलग अलग व्यक्तित्व रखते हैं। विश्व के किसी भी भाग में इसके पात्र चलते-फिरते नज़र आते हैं। अपनी कृति में सभी प्रकार के पात्रों की सृष्टि कर नाटककार ने तत्कालीन समाज का बडा ही सजीव एवं यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। संस्कृत के अन्य नाट्य-ग्रंथों की भाँति इसमें समाज के उच्च या संभ्रांत वर्ग का ही चित्रण नहीं हुआ है, बल्कि समाज की सभी श्रेणियों का यथार्थ चित्रण किया गया है। चोर,जुआरी,धूर्त, क्रांतिकारी, कुट्टनी,वेश्या,पुलिस अधिकारी, राजा,ब्राह्मण, वैश्य,चाण्डाल आदि सभी प्रकार के पात्र अपने व्यापार के साथ उपस्थित हैं। इसमें नाट्यधर्मी और

लोकधर्मी दोनों नाट्यपरंपराओं का सफलतम समन्वय हुआ है। साथ ही आठ प्रकर की प्राकृत भाषाओं का प्रयोग भी किया है।

विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' एक साहसपूर्ण प्रयोग है जिसमें न श्रृंगार वर्णन है, न प्रणय व्यापार की मधुरिमा न संगीत की तान है, न नृत्य का लास्य पद-विक्षेप । इस नाटक में न तो प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता है और न ही कोई नायिका या प्रमुख स्त्री-पात्र है। राजनीतिक 'षड्यंत्र' और कूटनीतिक दाव-पेंच के बावजूद इस नाटक में कहीं रक्तपात नहीं आया है। नाटक में चाणक्य और राक्षस में बुद्धिबल की लडाई है और इसी से दोनों एक दूसरे को पराजित करना चाहता है। अतः इसमें संघर्ष को महत्व प्रदान किया गया है। वस्तुतः संस्कृत नाटकों की परंपरा का पालन न करते हुए भी 'मुद्राराक्षस' एक मर्मस्पर्शी, कौशलपूर्ण एवं प्रयोगपरक रचना है।

इसी प्रकार आगे चलकर भवभूति ने भी विदूषक और अंतःपूर के बने-बनाए वातावरण का बहिष्कार कर श्रृंगार के स्थान पर करुणा को प्रमुखता से स्थान दिया और छाया सीता जैसी नयी परिकल्पना के द्वारा 'उत्तररामचरित' नाटक की रचना की। इस नाटक का मूलाधार 'रामायण' का 'उत्तरकांड' है। लेकिन भावभूति ने घटनाचक्र में अनेक प्रयोगों की सृष्टि की है। रामायण की कथा के अनुसार सीता पृथ्वी के गर्भ में समा जाती है। लेकिन भवभूति ने राम-सीता का मिलन कराकर नाटक को सुखांत बनाया है। लव कुश द्वारा राम की पराजय का भी विवरण इसमें नहीं है। इसीप्रकार संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना के संदर्भ में भी भवभूति ने एक विशिष्ट प्रयोग किया है जैसे 'उत्तररामचरित' की प्रस्तावना में सूत्रधार के इस वाक्य को देखें: ' एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यक्स्तदानीन्तनश्च संवृत्तः'। (अर्थात् यह मैं नाटाक के प्रयोजन से अब अयोध्या का एक नागरिक तथा उस युग का व्यक्ति बन गया हूँ ।) यहाँ मैं यानि सूत्रधार वर्तमान काल की अपनी सत्ता से मुक्त होकर अयोध्या का निवासी तथा उस युग का पात्र बन गया है जिस युग की कथा नाटक में प्रस्तुत होनेवाली है।

उपर्युक्त स्थल संस्कृत नाटकों की प्रस्तावनाओं में एक विशिष्ट प्रयोग है। साधारणतः प्रस्तावना में नाटक का कोई पात्र मंच पर उपस्थित नहीं होता। किंतु भवभूति ने संस्कृत नाट्य पद्धति की इस रूढ़ि को तोड़ते हुए दिखाया कि प्रस्तावना हमारे समय तथा हमारे स्थान से संबद्ध अभिनेता का पात्र के रूप में रूपांतरण प्रदर्शित करती है। अपने एक अन्य नाटक 'मालतीमाधव' में भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के ही अनुसार सूत्रधार के

मुख से कहलवाया :- 'एषोऽस्मि कामन्दकी संवृत्तः' (यह मैं अब कामंदकी हो गया) तथा उसके साथी नट ने कहा :- 'अहमप्यलोकिता' । इसप्रकार भवभूति का 'उत्तररामचरित' एक प्रौढ़ नाट्यप्रयोग है जो संस्कृत नाट्य साहित्य की अपूर्व निधि है।

यद्यपि संस्कृत नाट्य-प्रयोग की परंपरा नवीं-दसवीं शताब्दी तक आते-आते लगभग समाप्त हो गयी थी फिर भी संस्कृत नाटक की रसाश्रयी, कल्पना-प्रधान और काव्यपरक प्रकृति आज भी हिंदी नाटक विशेषकर लोक नाटक और रंगमंच के कला-व्यवहारों में देखी जा सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कृत रंग-परंपरा में अनेक तत्व ऐसे हैं, जिनका उपयोग आज के रंगमंच पर करके हम उसे अधिक संपन्न बना सकते हैं।

### 2.3.2 प्राकृत - अपभ्रंश तथा ब्रज भाषा की नाट्य परंपरा

संस्कृत नाटकों के ह्रास के बाद तथा भारतेंदु काल से पूर्व तक हिन्दी में साहित्यिक नाटकों का सर्वथा अभाव रहा। तो भी कुछ विद्वानों ने जन नाटकों से संबंध जोडकर नाटकों के क्रम को बनाए रखने का प्रयास किया है। भारतेंदु से पूर्व ही लगभग सत्रहवीं शताब्दी में कुछ ऐसे नाटक भी उप्लब्ध हुए हैं जो व्रज भाषा में रचित हैं। ये नाटक दो प्रकार के हैं - 1.मौलिक और 2. अनूदित। व्रजभाषा का प्रथम मौलिक नाटक कविवर प्राणचंद्र का 'रामायण महानाटक' माना जाता है। कृष्ण जीवन लछिराम का 'करूणाभरण', उदय कवि का 'हनुमान नाटक' तथा 'रामकरुणाकर नाटक', और महाराज विश्वनाथ सिंह जी का 'आनंद रघुनंदन' आदि मौलिक नाटकों के अंतर्गत आते हैं। दूसरी ओर अनूदित नाटकों में मुख्यतः महाराज यशवंत सिंह द्वारा अनूदित 'प्रबोध चद्रोदय', नेवाज कवि द्वारा अनूदित 'शकुंतला नाटक', सोमनाथ माथुर द्वारा अनूदित 'माधव विनोद' इत्यादि हैं। "इनमें 'आनंद रघुनंदन' (1770) के अतिरिक्त शेष सभी नाटक पूर्णतः पद्यात्मक एवं वर्णनात्मक है। नाटककार सदैव रंगमंच पर उपस्थित रहकर पात्र परिचय, कथा वर्णन आदि कार्य करता है। केवल 'आनंद रघुनंदन' नाटक गद्य-पद्य मिश्रित व्रजभाषा में है। यह हिन्दी नाटक साहित्य का प्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। क्योंकि इसके अंतर्गत राम का संपूर्ण जीवन संक्षिप्त में वर्णित है। कथोपकथन, रंग-संकेत, गद्यांश, नांदी-पाठ, प्रस्तावना, भरत वाक्य, अंक-विभाजन, भाषा वैविध्य, संधियों का प्रयोग आदि के कारण रामचंद्र शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक कहा है ।"[1] सर्वप्रथम विश्वनाथ सिंह जी ने ही मौलिक नाटकों में व्रजभाषा की गद्यशैली का

[1]डॉ. गिरीश रस्तोगी- हिन्दी नाटकः सिद्धांत और विवेचन, प्र. सं.1967, पृ. 66

प्रयोग मुख्य पात्रों से कराया। इसमें पात्रानुकूल भाषा पर बल दिया गया है। रंग संकेत संस्कृत में ही मिलते हैं। अंकविभाजन के अतिरिक्त इसमें दृश्य विभाजन भी उपलब्ध है। दृश्य परिवर्तन की पद्धति विश्वनाथ ने यह बनाई है कि जहाँ 'सर्वे निष्क्रांताः' (अर्थात् पात्रों का मंच से बाहर चले जाना या नेपथ्य की ओर चले जाना, मंच का खाली हो जाना आदि) आ जाए, वहीं दृश्य परिवर्तन समझ लेना चाहिए। विष्कंभक, आकाश भाषित आदि का प्रयोग भारतेन्दु काल तथा उसके पश्चात् प्रसाद के पूर्व तक चलता रहा। इस प्रकार विश्वनाथजी का प्रभाव नाटक के क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक बना रहा और कई नाटककार इनसे लाभान्वित हुए।

यद्यपि "आज की दृष्टि में व्रजभाषा नाटक 'नाट्य' की सभी मांगों और रीतियों को पूरा नहीं करते, फिर भी वे हिन्दी नाटक का 'पूर्व रूप' (अविकसित) अवश्य कहे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य में उनका महत्वपूर्ण योग यही है कि उनके द्वारा हिन्दी साहित्यकारों के हृदय में नाटक को कलात्मक एवं पूर्णतः विकसित स्वरूप देने की कामना निरंतर बनी रही।"[1]

### 2.3.3 प्रादेशिक भाषाओं की नाट्य परंपरा में प्रयोग

प्रादेशिक नाट्य साहित्य का वास्तविक उन्मेष तो आधुनिक युग के आगमन के साथ ही हुआ है। आधुनिक युग से पूर्व, कविता के क्षेत्र में सभी भाषाएँ उन्नति के उच्च शिखरों को छू रही थीं। इसके विपरीत आधुनिक युग, प्रादेशिक भाषाओं में गद्य प्रधान नाटक, कहानी, उपन्यास आदि काव्येतर विधाओं का युग है। आज हमारे सामने प्रादेशिक नाटकों की विपुल संपत्ति विद्यमान हैं जिसे अध्ययन की सुविधा के लिए चार भागों में विभक्त किया गया है - 1. लोक नाट्य परंपरा 2. हिंदीतर नाट्य परंपरा 3. व्यावसायिक एवं अव्यावसायिक रंगमंचीय नाट्य परंपरा 4. हिन्दी नाट्य परंपरा।

#### 2.3.3.1 लोक नाट्य परंपरा

लोक नाट्य, लोक के मनोरंजन का एक सशक्त माध्यम है। भारतीय लोक नाट्य परंपरा की प्राचीनता, विविधता, शक्ति और समृद्धि निर्विवाद है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने भी नाट्य की मूल प्रेरणा और उसकी प्रामाणिकता की अंतिम कसौटी, लोक-जीवन, लोक-मानस और लोकधर्म को स्वीकार करके 'लोक' के ही बुनियादी महत्व को रेखांकित किया है। "वस्तुतः लोक-नाटक सामान्य जन (कलाकार) द्वारा,

[1]डॉ. गिरीश रस्तोगी- हिन्दी नाटकः सिद्धांत और विवेचन, प्र. सं.1967, पृ. 68

सामान्य जन के लिए, अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत, सामान्य जीवन की सहज, स्वाभाविक, अनौपचारिक, नृत्य, गीत और संगीतमय जीवंत एवं लोकरंजक अभिव्यक्ति का नाम है।"[1]

भारतीय इतिहास के मध्ययुग में, जबकि शास्त्रीय नाट्य-परंपरा जन साधारण से दूर जा रही थी, तब मनोरंजन के लिए जनता को लोकनाट्य का आश्रय लेना पडा। लोक नाट्य के अनेक रूप भारत के विविध प्रांतों में सदियों से जनता का मनोरंजन कर रहे हैं। लोक रंगमंच इतना लचीला है कि किसी भी स्थिति में, किसी भी जगह, खुले सार्वजनिक स्थान, घर के आँगन, चबूतरे या गलियों के नुक्कड पर कहीं भी नाटक का मंचन हो सकता है जिसमें चार या तीन ओर दर्शक बैठते हैं। इसमें न पर्दे का उपयोग होता है और न ही कोई दृश्य योजना होती है। इनमें लिखित नाटकों की अपेक्षा प्रदर्शन पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। मूलतः लोकरंगमंच भी संस्कृत रंगमंच की तरह अयथार्थवादी है जिसमें कल्पना, संगीत, काव्यात्मकता, गीत, पद्यात्मक संवाद, अतिरंजित रूप-सज्जा, मुखौटे वगैरह का प्रयोग शास्त्रीय नाटकों की तरह ही रहता है।

स्वातंत्र्योत्तर नाट्य-शिल्प के क्षेत्र में लोक-शैली की वापसी एक महत्वपूर्ण प्रयोग है और अब हिन्दी नाटककार आधुनिक बोध को रूपायित करने के लिए लोक नाट्य शिल्प के अभिव्यक्ति सामर्थ्य को पहचानने लगे हैं। लक्ष्मीनारायण लाल, मणिमधुकर, शंकर शेष, हबीब तनवीर, मृणाल पांडे जैसे कई नाटककारों की कृतियों में लोकनाट्य-शिल्प की प्रभाव-छाया स्पष्टतः देखी जा सकती है।

### 2.3.3.2 हिंदीतर नाट्यपरंपरा

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच को गति देने में अहिन्दी भाषी रंगकर्मियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सभी भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में नाटक साहित्य का विकास लगभग उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ है। इन भाषाओं में बंगला ही में आधुनिकता का प्रवेश एवं आधुनिक नाटक का प्रणयन सर्वप्रथम हुआ, जिसका प्रमुख कारण, 19 वीं शताब्दी में कलकत्ता का राजधानी होना तथा भारतीय एवं पाश्चात्य कलाओं के संघर्ष एवं समन्वय का केंद्र होना, कहा जाता है।

बंगाल के नाट्य साहित्य में विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के नाटकों का अपने आप में अलग स्थान है। उन्होंने पारसी तथा यूरोपीय रंगमंच की साज-सज्जा तथा उपकरणों

[1]डॉ. जयदेव तनेजा- हिन्दी रंगकर्म :दशा और दिशा, प्र. सं, 1988, पृ. 126

के संभार का विरोध किया। उनकी दृष्टि में रंगमंच पर किसी भी प्रकार का अलंकरण जीवन और कला के बीच बलात् थोपा गया एक व्यवधान था। उनकी 'डाकघर', 'मुक्तधारा' तथा 'चंडालिका' जैसी नाट्य कृतियाँ अपनी काव्यात्मकता और गहरी संवेदनशीलता के कारण ही नहीं, नये युग के बोध तथा शिल्प और तकनीक की ताजगी के कारण आज भी प्रयोगशील नाट्यकारों को प्रेरणा देने में समर्थ हैं। इसके साथ ही वे संस्कृत नाटक और नाट्यशास्त्र की परंपरा और लोक नाट्य के तत्वों का भी सार्थक उपयोग करते हैं। वस्तुतः परंपरागत नाट्य तथा आधुनिक नाट्य के संधि-स्थल पर स्थित रवींद्र का नाट्य साहित्य दोनों के बीच सेतु का निर्माण करता है।

रवींद्र के बाद इतनी ही गतिशील प्रयोगधर्मिता, रंगमंच के क्षेत्र में सक्रियता तथा नाट्य लेखन के क्षेत्र में विपुलता और विविधता के साथ नये भारतीय रंगांदोलन को रूपाकार देनेवाले राष्ट्रीय स्तर के नाटककारों में बंगाल के बादल सरकार आते हैं। बादल सरकार ने नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में बहुमुखी प्रतिभा का परिचय देते हुए विभिन्न स्तरों पर प्रयोग किये हैं। उन्होंने 'बाकी इतिहास', 'एवं इन्द्रजीत' तथा 'पगला घोडा' जैसे नाटकों में सामयिक जीवन की एकरस दिनचर्या से उपजी ऊब और नीरसता, परिस्थितियों के तनाव से घुटते मध्यवर्गीय युवक की छटपटाहट और जीवन की व्यर्थता की अनुभूति को अपने नाटकों का विषय बनाया है। इन तीन नाटकों से सरकार ने हिन्दी रंगमंच को गंभीर, चिंतन और कवित्व प्रधान नवीन कथानक की ओर मोडा। "भारतेंदु और प्रसाद के बाद यदि किसी रंगकर्मी ने भारतीय रंगमंच में किसी नए सिद्धांत की अवधारणा को जन्म दिया है तो वह बादल सरकार है। यह नई अवधारणा उनके तीसरे रंगमंच की परिकल्पना में निहित है अर्थात् पहला रंगमंच यथार्थवादी रंगमंच का पर्याय है तो दूसरा रंगमंच लोक रंगमंच का पर्याय है, लेकिन तीसरा रंगमंच इन दोनों के बीच की एक कडी है और बादल सरकार ने उसे अपनी मौलिक अवधारणा के साथ आज से लगभग तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व प्रस्तुत और प्रचारित किया। यह रंगमंच पूरी तरह से अभिनेता की आवाज़ और उसकी शारीरिक भाषा का संगम है, लेकिन यथार्थवादी और लोक नाट्य शैली से बिलकुल अलग है।"[1] बादल सरकार ने बदलते हुए सामाजिक परिवेश में आज के मनुष्य की अस्मिता की तलाश की है, तथा रंगमंच से अलग हटकर अपने नाटकों को आम लोगों तक पहुँचाने के लिए रंग-प्रस्तुति की अपनी अलग ही पद्धतियों का प्रयोग किया है।

---

[1]देवेंद्र राज अंकुर- अंतरंग बहिरंग, प्र. सं.2004, पृ. 81

स्वातंत्र्योत्तर छठे दशक के हिंदी नाटक और रंगमंच पर मराठी नाट्यसाहित्य का विशेष प्रभाव रहा है। छठे दशक में जब पहली बार हिंदी रंगमंच पर नवोन्मेष की शुरुआत हुई, तो निर्देशकों के सामने सबसे बड़ी समस्या सशक्त रंगमंचीय नाटकों की थी, जिसका उस समय हिंदी में नितांत अभाव था। अतः उनका ध्यान मराठी नाटकों की लोकप्रियता की ओर गया और उस समय मराठी नाटकों के हिंदी अनुवाद भी सामने आने लगे थे। इस कार्य ने पु.ल.देशपांडे, चि.त्र्यं.खानोलकर, बसंत कानेटकर, जयंत दलवी, वि.व.शिरवाड़कर, विजय तेंडुलकर, अच्चुत बझे, महेश एलकुंचवार और सतीश आलेकर जैसी नाट्यप्रतिभाओं से हिंदी रंगक्षेत्र को परिचित कराया। मराठी नाटकों ने हिंदी नाटक को मध्यवर्ग की समस्याओं, मानवीय संबंधों की हास्यास्पद स्थिति, समाज में व्याप्त विसंगतियों, अनैतिकता, व्यक्ति के अंतस्तल में छिपी कुंठाओं, जटिल मनःस्थितियों और यौन विकृतियों से संबंधित नये विषयों से साक्षात्कार कराया। पु.ल.देशपांडे के नाटकों ने लोकनाट्य-शिल्प के तत्वों के प्रयोग से एक नया नाट्यरूप प्रस्तुत किया। बसंत कानेटकर के तीनों नाटक- 'ढ़ाई आखर प्रेम का', 'धूप के साये में' और 'जाग उठा है रायगढ़' - ने मनोविज्ञान का आधार लेते हुए चरित्र-प्रधान नाट्यधारा को नवीन आयाम दिये। उनके नाटकों का शिल्प यथार्थपरक है। खानोलकर ने 'एक शून्य बाजीराव' की रचना द्वारा लोकनाट्य और असंगत नाट्य-शिल्प के मिलेजुले प्रयोग के एक सशक्त नाट्यरूप से हिंदी रंगमंच को परिचित कराया। इसी परंपरा में जयवंत दलवी भी आते हैं, जिन्होंने 'संध्याछाया', 'बेरिस्टर', 'अरे शरीफ लोग', 'पुरुष' जैसे नाटकों के द्वारा यथार्थवादी रंगमंच की पुनः स्थापना के साथ हिंदी में विशिष्ट चरित्रों की सृष्टि करने की प्रेरणा भी दी है। इनके नाटकों में कथ्य की जैसी प्रामाणिकता है और यथार्थ में अंतर्निहित सत्य को उद्‌घाटित करने का जैसा निर्मम आग्रह है, जैसी रूप और शैलीगत प्रयोगशीलता है- वह हिंदी रंगमंच के लिए काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ।

हिंदी रंगमंच पर इस समय सर्वाधिक अभिनीत होनेवाले तथा नये नाट्यकारों को अत्यधिक प्रभावित करनेवाले मराठी के बहुचर्चित और विवादास्पद नाटककार विजय तेंदुलकर ही है। उन्होंने अपने नये नाटकों के साथ पारंपरिक मराठी रंगमंच को नई दिशा दी है। उनके प्रारंभिक नाटकों में 'पंछी ऐसे आते है' अभिनव प्रयोगों की दृष्टि से हमारा ध्यान आकर्षित करता है। इसमें हास्य और पैने व्यंग्य के साथ सामाजिक विद्रूप और व्यक्ति के अंतर्विरोधों का चित्रण पारिवारिक पृष्ठभूमि में किया गया है। शिल्प की दृष्टि से इसमें लोकनाट्य, संस्कृत नाट्यपरंपरा तथा पारसी रंगमंच का समन्वित प्रभाव दिखाई देता

है। इसके नायक अरुण का चरित्र नाटक में एक पात्र के साथ-साथ एक सूत्रधार की भूमिका भी निभाता है। संस्कृत नाटकों में सूत्रधार की तरह वह नाटक का प्रारंभ करता है, पर आगे चलकर यक्षगान के भागवत के समान कथा के विभिन्न प्रसंगों को जोड़ता है, पात्रों पर टिप्पणी करता है। इसके अलावा रंगमंच पर दो एक साथ चलते हुए दृश्यों की परिकल्पना जिनमें से एक मकान के भीतर के कमरे में होते हुए भी मंच पर पारदर्शी जाली के पीछे अभिनीत होने के कारण दर्शकों को दिखायी देता है, तेंदुलकर की प्रयोगधर्मी रंगदृष्टि के परिचायक हैं।

तेंदुलकर के दूसरे नाटक 'खामोश अदालत जारी है', 'गिद्ध','सखाराम बाइंडर', 'घासीराम कोतवाल' और 'बेबी' आदि समाज में विभिन्न रूपों में व्याप्त हिंसा को सजीव रूप में उभारते हैं। रंगशिल्प की दृष्टि से आदमियों के झूलते पर्दे की कल्पना 'घासीराम कोतवाल' में पहली बार की गयी है, जिसे नाटक के निर्देशक डॉ.जब्बार पटेल ने 'रंगमंच के लिए अद्‌भुत' बताया है। बारह ब्राह्मणों की यह पंक्ति कोरस के रूप में कथा-प्रवाह को संभालती है और प्रसंगों को जोड़ती है। रंगमंच पर क्षणभर में दृश्य-परिवर्तन भी इस युक्ति से होता है। निस्संदेह यह नाटक मराठी नाटकों की अमूल्य देन है और इसके नाट्यशिल्प ने हिंदी नाट्यजगत को लोक-नाटकों के समृद्ध शिल्प के उपयोग की ओर प्रेरित भी किया है।

प्रयोगशील हिंदी रंगमंच के संदर्भ में कन्नड़ नाट्यक्षेत्र के तीन नाटककार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं- आद्य रंगाचार्य, गिरीश कर्नाड तथा लंकेश । वस्तुतः कन्नड़ नाटकों ने संस्कृत और लोकनाटकों के उपयोगी तत्वों को नये रूप में प्रस्तुत कर हिंदी नाटक को अपनी प्राचीन परंपरा से सार्थक दिशा तलाशने के लिए प्रेरित किया। इन भाषाओं के अतिरिक्त गुजराती, उडिया, पंजाबी जैसी भाषाओं का छिटपुट प्रभाव भी हिंदी नाट्य और रंगमंच पर पड़ा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि हिंदी नाट्यपरंपरा के विकास में इन प्रादेशिक भाषाओं का योगदान स्तुत्य है।

### 2.3.3.3 अव्यावसायिक एवं व्यावसायिक रंगमंच

आधुनिक हिंदी नाट्य-क्षेत्र में भारतेंदु के आगमन से पूर्व हिंदी को रंगमंच देने में पारसी थिएटर कंपनियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। पारसी रंगमंच का प्रारंभ

डॉ.दशरथ ओझा ने अमानत कवि द्वरा रचित संगीतमूलक गीतिनाट्य'इंदरसभा' की लोकप्रियता से प्राप्त, प्रोत्साहन से माना है। किंतु "भारतीय नाटक के इतिहास में पारसी-थियेटर को नये आलोचकों ने उचित स्थान नहीं दिया। वे इसको घटिया, बाज़ारी और रंगबिरंगे सीनवाला थियेटर कहकर निंदा करते हैं। लेकिन गहरी दृष्टि डालने से पता चलता है कि इन्होंने उस समय समस्त भारत में नाटक के क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए बहुत काम किया है। उनके एक्टर मँजे हुए कलाकार थे और उनके नाटकों में बड़ा वेग होता था।"[1] हिंदी रंगमंच के इतिहास में पारसी रंगमंच की उपलब्धियाँ ऐसे ही भुला देने योग्य नहीं है। इस पारसी रंगमंचों ने ही हिंदी में अनेक कुशल कलाकारों को उत्पन्न किया जिसमें पं. नारायण प्रसाद बेताब (गोरखधंधा, महाभारत, कृष्ण सुदामा, रामायण नाटक आदि), आगाहस्र काश्मीरी(शहीदे नाज, सफेद खून, ख्वाबे हस्ती, रुस्तम-ओ-सुहराव, खुबसूरत बला आदि), राधेश्याम कथावाचक (वीर अभिमन्यु, कृष्णावतार, श्रवणकुमार, मशरिकी हूर आदि) , कृष्णचंद्र जेबा (शहीद संन्यासी, देश दीपक आदि) और तुलसीदास (जनकनंदनी) मुख्य हैं। इनके धार्मिक तथा पौराणिक नाटकों ने एक समय काफी धूम मचा दी थी। यही नहींइन लोगों के द्वारा अभिनय के आकर्षण की ओर भी जनता आकर्षित हुई। पारसी रंगकारों ने रासलीला, रामलीला, नौटंकी, संस्कृत, पाश्चात्य नाट्य सभी की विशेषताओं का रसायन बनाकर एक ऐसा संपूर्ण नाट्यरूप दिया जिसमें गीत, नृत्य, ड्रामा, कॉमिक, दृश्य सज्जा, रंगीन परदे और रंगीन चित्रकारी सभी कलाओं का चमत्कारपूर्ण मिश्रण था।

जहाँ तक पारसी रंगमंच के घातक प्रभाव से ऊपर उठने की चेष्टा का प्रश्न है, सन् 1944 में 'पृथ्वी थियेटर्स' की स्थापना लगभग इसी उद्देश्य को लेकर हुई। भले ही पृथ्वी थियेटर भी व्यवसायिक रंगमंच था, लेकिन उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में पारसी रंगमंच व्यवसायी था। पृथ्वी थियेटर्स के निर्माता पृथ्वीराज कपूर पारसी रंगमंच की सीमाओं से पूरी तरह अवगत थे और उन्होंने प्रदर्शनों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि रंगमंच की सार्थकता उसको जीवन से जोडने में है, न कि जनता का सस्ता मनोरंजन करने में। 'पृथ्वी थियेटर्स' के लगभग सभी नाटकों में स्वाभाविकता और सादगी का अहसास होता है, पारसी रंगमंच की सी तड़क-भड़क और अंतिरंजना तथा

---

[1] बलवंत गार्गी- रंगमंच-अनुवादक-अतुल भारद्वाज कृष्णकुमार, प्र.सं. 1968, पृ.175

अतिनाटकीयता वहाँ नहीं थी। पृथ्वीराज कपूर ने कला के वास्तविक अर्थ को पहचानने की चेष्टा की थी। इस कंपनी ने 'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'आहुति' आदि नाटक प्रस्तुत किए जिनमें देश की वर्तमान अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है। पृथ्वी थियेटर्स के नाटक युगविशेष की मांग थे और रंगमंच की कसौटी पर कसकर लिखे गये थे। इस दृष्टि से उन्होंने आगामी हिन्दी नाटककार और रंगमंच दोनों को चिंतन की नई दिशा दी है।

लेकिन 'पृथ्वी थियेटर्स' के साथ हिन्दी में व्यवसायिक रंगमंच के विकास की संभावनाएँ भी प्रायः लुप्त हो गयी थी। इसके पश्चात हिन्दी में व्यवसायिक रंगमंच का अभाव ही मिलता है। आज हिन्दी रंगमंच से संबंधित प्रायः सभी नाट्य संस्थाएँ अव्यवसायी हैं। यदि यह कहा जाये कि हिन्दी रंगमंच को जीवित रखने का, उसको समुन्नत करने का श्रेय इन अव्यवसायिक नाटक मंडलियों को ही है तो अनुचित न होगा। भारतेंदु युग में अव्यवसायिक रंगमंच की स्थापना पारसी रंगमंच की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई है। काशी, कानपुर और लखनऊ में अव्यवसायिक नाटक-मंडलियों की स्थापना हुई। हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास में काशी नागरी - नाटक मंडली तथा भारतेंदु नाटक मंडली जैसी मंडलियों का योगदान महत्वपूर्ण है।

इसके काफ़ी समय पश्चात् 1942 ई. में 'इप्टा' नामक अव्यवसायी नाट्य-संस्था के उदय से देश के बहुत से क्षेत्रों के साथ ही हिन्दी रंगमंच में भी एक नयी रंगचेतना का आविर्भाव दिखाई दिया। इस आंदोलन ने कथ्य के स्तर पर नाटक और उसके प्रदर्शन को जनसाधारण के जीवन के समीप लाने का प्रयास किया। इसने छायानाट्य प्रारंभ किया और नये प्रयोग किये। इस संघ ने रंगप्रभाव का आविष्कार कर बिजली की मदद के बिना छायानाटक पेश करने का तरीका निकाला। इसने मैदान या पार्कों में खुले रंगमंच पर प्रदर्शन करने की कला का प्रसार किया और उसे संवार कर लोक प्रिय बनाया। वास्तव में आधुनिक रंगमंच में नुक्कड नाटक के प्रभावी उपयोग का प्रारंभ इप्टा की प्रस्तुतियों से दिखाई देता है। बिना किसी रंग-सज्जा या रंगोपकरण के, इनके सफ़ल नाट्य प्रदर्शन देश के कोने-कोने में होते थे। किंतु पाँचवें दशक का अंत होते-होते धीरे-धीरे ये नाटकमंडलियाँ कुछ अर्थाभाव के कारण, कुछ आपसी मतभेद के कारण समाप्त होती गयी। 'इप्टा' के कई सृजनशील कलाकारों ने इसे छोड अपने-अपने अलग संगठन

बनाये जिनके माध्यम से वे अपनी-अपनी रंग-दृष्टि को साकार करने में लग गये। हबीब तनवीर पहले बेगम कुदेसिया जैदी के 'हिंदुस्तानी थियेटर' से जुडे रहे फ़िर स्वयं 'नया थियेटर' की स्थापना की, जबकि शंभुमित्र 'बहुरूपी' से जुड गये। बलराज साहनी ने 'जुहू आर्ट थियेटर' स्थापित किया तो शीला भाटिया ने 'दिल्ली आर्ट थियेटर' की स्थापना की। इन सभी रंगकर्मीयों को अपने मौलिक रंगकर्म के आधार पर जो सफ़लता और कीर्ति मिली है, उसके पीछे निश्चय ही इप्टा से मिले रंगसंस्कारों का ही योगदान रहा है। समाज से संबंधित विषय, लोक-कलाओं के साथ गीत-संगीत का उपयोग इनकी प्रस्तुतियों की विशेषता रही है।

इप्टा और पृथ्वी थियेटर के अलावा और भी कई अव्यवसायिक नाट्य संस्थाओं ने अपने छोटे-मोटे प्रयासों के द्वारा हिन्दी रंगमंच की रंगदृष्टि की निजी खोज में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इसके साथ ही स्वतंत्रता के बाद जगह-जगह कई सरकारी तथा गैर सरकारी नाट्य संस्थाओं की स्थापना ने हिन्दी रंगकर्म को जीवंत रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। कमलादेवी चट्टोपाध्याय द्वारा स्थापित 'इंडियन नेशनल थियेटर' (1946), आर.एम.कौल, ओम शर्मा और देवी चाँद द्वारा संस्थापित 'त्री आर्टस क्लब' (1943), इंदरदास और साथियों द्वारा स्थापित 'लिटिल थियेटर ग्रूप' (1946), श्रीमती शील भरतराम, कमला देवी चट्टोपाध्याय और नंदिता कृपलानी के सहयोग से बना 'श्रीराम सेंटर फॉर आर्ट एंड कल्चर' (1948), श्रीमती शीला भाटिया और बलवंत गार्गी द्वारा संस्थापित 'दिल्ली आर्ट थियेटर' (1951) बेगम कुदेसिया जैदी और श्री हबीब तनवीर के सहयोग से संस्थापित 'हिंदुस्तानी थियेटर' (1954), इब्राहिम अल्काज़ी, सत्यदेव दुबे तथा उनके साथियों द्वारा मुंबई में स्थापित 'थियेटर यूनिट' (1954), लखनौ में कुंवर कल्याण सिंह द्वारा स्थापित 'राष्ट्रीय नाट्य परिषद' (1949), अमृतलाल नागर की देखादेखी में बना 'लखनऊ रंगमंच' (1953), प्रयाग में स्थापित 'इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसियेशन' (1955), वाराणासी में स्थापित 'श्रीनाट्यम' (1957), कानपुर में स्थापित 'भारतीय कला केंद्र' (1957) कलकत्ता में स्थापित 'अनामिका' जैसी कई नाट्य संस्थाओं ने अपनी विभिन्न रंगप्रस्तुतियों के माध्यम से हिन्दी रंगमंच को गति एवं स्तरीयता प्रदान करने की कोशिश की।

जहाँ एक ओर अव्यवसायिक नाट्य संस्थाएँ हिन्दी रंगमंच को प्रगति के पथ पर ले जा रही थीं, वहीं दूसरी ओर विश्व के सामने भारतीय रंगमंच की सही पहचान कराने के उद्देश्य से, भारतीय रंगकर्म को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने सन् 1953 में 'संगीत नाटक अकादमी', और सन् 1959 में 'राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय' की स्थापना की। यह कदम भारतीय रंगकर्म की उन्नति की राह पर 'मील का पत्थर' साबित हुआ। ये दोनों नाट्य संस्थाएँ स्तरीय रंगकर्म करने के साथ-साथ देश के अन्य प्रांतों के कला-संस्थानों के कार्य-कलापों का संयोजन कर आज भी सक्रिय रूप से आगे बढ़ रही हैं।

### 2.3.3.4 हिंदी नाट्यपरंपरा

हिंदी नाट्यपरंपरा के विकास का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि खड़ी बोली हिंदी के परिनिष्ठित गद्य में कलात्मक प्रौढ़ रंग-दृष्टि के साथ हिंदी नाटकों का सही अर्थों में सृजन स्वतंत्र भारत में ही संभव हो सका है। यद्यपि भारतेंदु और जयशंकर प्रसाद सदृश नाटककारों ने अपने बहुमूल्य प्रयोगों के द्वारा हिंदी नाटकों के भंडार को समृद्ध करने का प्रयास किया है तो भी हिंदी नाटकों का जितना अनुपम, बहुमुखी, बहुरूपी और बहुआयामी विकास आज दिखाई पड़ता है, बेशक वह स्वतंत्रता पूर्व के नाटकों में कम ही दिखाई देता है। किंतु इसमें दो राय नहीं है कि भारतेंदु युग ने ही हिंदी नाटक को आधुनिक भाव बोध, खड़ीबोली गद्य और नवीन नाट्यशिल्प से जोड़ने का शुभारंभ किया है।

हिंदी क्षेत्र में आधुनिक नाट्यप्रयोग की दृष्टि से लखनऊ में सन् 1843 ई. में नवाब वाजिदअली शाह ने'रहस' नाटक द्वारा जो महत्वपूर्ण प्रयोग किया वह नवाबी संस्कृति की उपज होते हुए भी रासलीला का लौकिक रूप कहा जाता है। उर्दू, अवधी, ब्रजभाषा में विरचित इस नाटक से प्रेरित होकर सन् 1855 ई. में सैयद आगाहसन 'अमानत' ने मध्यकालीन नाट्यरूपों को लेकर संगीत नृत्य प्रधान रचना के रूप में 'इंदर सभा' लिखा। इसके बाद सन् 1868 तक हिंदी रंगमंच की गतिविधियों का केंद्र लखनऊ से हटकर बनारस हो गया। बनारस थियेटर से स्तरीय मौलिक हिंदी नाटक मंचस्थ हुए। कई विद्वानों ने बनारस थियेटर मेंसन् 1868 ई में खेले गए शीतलाप्रसाद कृत 'जानकी मंगल' नाटक को मंच पर खेले जानेवाला हिंदी का पहला नाटक कहा है। नेपाल में मिले मैथिली नाटकों को भी हिंदी- नाटकों के अंतर्गत स्वीकार किया गया है। कुछआलोचकों के अनुसार सोलहवीं शताब्दी में लिखे गये 'गोविंद हुलास' हिंदी का पहला नाटक है तो

श्री दशरथ ओझा जैसे विद्वान अगरचंद नाहटा कृत तेरहवीं शताब्दी का 'गयसुकुमार रास' को हिंदी का पहला नाट्यप्रयोग मानते हैं। "'गोविंद हुलास' नाटक के बाद और भारतेंदु के पूर्व इस बीच की अवधि में केवल दो ऐसे नाटकों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें नाट्यकला के तत्व पाए गए और इसी कारण उन्हें महत्वपूर्ण नाटक बताया गया है। वे हैं —'आनंद रघुनंदन' (वि.सं.1881) और 'नहुष' (वि.सं. 1898)। रीवाँ नरेश विश्वनाथ कृत 'आनंद रघुनंदन' और भारतेंदु के पिता गोपालचंद गिरिधर दास रचित 'नहुष' दोनों ही संस्कृत नाट्यशास्त्र पर आधारित नाटक हैं। भाषा में ब्रजभाषा पद्य और खड़ीबोली गद्य का मिश्रण है। आज के हिंदी नाटकों का प्रारंभिक स्वरूप इन्हीं नाटकों में देखा जा सकता है क्योंकि इन दोनों नाटकों को छोड़कर भारतेंदु पूर्व के प्रायः सभी नाटक ब्रजभाषा में लिखे गये कथोपकथन मात्र ठहरते हैं, उनमें नाटक के तत्वों का विनियोग और समंजन संभव नहीं हो पाया है।"[1]

यद्यपि हिंदी को उत्तराधिकार के रूप में संस्कृत नाट्यपरंपरा उपलब्ध थी तथापि हिंदी में अखंड एवं समृद्ध साहित्यिक नाट्यपरंपरा का विकास भारतेंदु युग से पूर्व न हो सका, यह एक विचित्र किंतु ऐतिहासिक तथ्य है। भारतेंदु युग में हिंदी के विभिन्न नाट्यरूपों को तलाशा गया, प्रसाद युग में वस्तु की तलाश शुरू हुई और प्रसादोत्तर युग में विचारपक्ष को प्रमुखता दी गई है। वस्तुतः प्रस्तुत शीर्षक के अंतर्गत हिंदी नाट्यप्रयोग की परंपरा का विकास और स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्यप्रयोग के विभिन्न आयामों का अनुशीलन किया जाना है। हिंदी में नाटक के साथ रंगमंच और संपूर्ण गद्य विधाओं के विकास का प्रारंभ भारतेंदु युग से ही होता है। अतः हिंदी नाट्यप्रयोग की परंपरा और प्रगति का अध्ययन-अनुशीलन सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित कालों में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा सकता है।

1) भारतेंदु युग - सन् 1867 ई. से 1915 ई. तक
2) प्रसाद युग - सन् 1915 ई. से 1930 ई. तक
3) प्रसादोत्तर युग - सन् 1930 ई. से 1947 ई. तक
4) स्वातंत्र्योत्तरयुग - सन् 1947 ई. से अद्यावधि

इस अलग-अलग कालखंड के हिंदी नाटकों की अपनी अलग-अलग विशेषता रही जिसके चलते उनकी पहचान अलग हो जाती है।

---

[1]नरनारायण राय- रंगशिल्पी मोहन राकेश, प्र.सं.1991, पृ.10

**2.3.3.4.1 भारतेंदु युगः** भारतेंदु युग प्रयोगधर्मिता का प्रवेश-द्वार है। पुनर्जागरण के इस युग में नये विषयों तथा नवीन नाट्य-शैली का प्रयोग समय तथा समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया। अनुकृति तथा अनुवाद की प्रवृत्ति के साथ ही कई स्वतंत्र नाटक भी उभरकर आए। पाश्चात्य संपर्क से उत्पन्न नवीन चेतना ने सृजनशील साहित्यकार को भी प्रभावित किया। इस युग में युग-प्रवर्त्तक के रूप में भारतेंदु का पदार्पण होने से हिंदी नाट्यक्षेत्र को नया रूप और नया प्रकाश मिला। भारतेंदु ने नाट्य लेखन तथा प्रदर्शन की नवीन परंपरा का प्रारंभ करते हुए हिंदी रंगमंच के क्षेत्र में एक नवीन सार्थक नाट्यांदोलन को जन्म दिया। गिरिश रस्तोगी ने भारतेंदु को खड़ीबोली हिंदी का प्रथम नाटककार मानते हुए यह घोषित किया- "सच्चे मानों में भारतेंदु हरिश्चंद्र को ही हिंदी का प्रथम नाटककार कहा जा सकता है तथा उनका 'विद्यासुंदर' नाटक ही हिंदी का प्रथम साहित्यिक नाटक माना जा सकता है (भले ही उसे बंगला नाटक का छायानुवाद कहा जाए) क्योंकि इसी नाटक के द्वारा भारतेंदु जी ने हिंदी नाटक के लिए उपयोगी शैली का निर्धारण किया और आगामी नाटककारों का मार्ग प्रदर्शन किया।"[1]

भारतेंदु जी ने अपने युग के असाहित्यिक एवं भ्रष्ट पारसी थियेटर तथा रूढ़ एवं अश्लील लोकनाट्यों से ऊबकर नाट्य-साहित्य एवं शालीन रंगमंच के निर्माण का अथक प्रयास किया। भारतेंदु जी की दृष्टि समन्वयात्मक थी। इसलिए देशकाल और पात्रगण के प्रति विशेष दृष्टि रखते हुए उन्होंने एक ओर प्राचीन भारतीय नाट्यसिद्धांतों में से कुछ आवश्यक और उपयुक्त तत्व ग्रहण कर हिंदी के नवीन नाट्यधर्म की स्थापना की तो दूसरी ओर परिवर्तित समय और रुचि के अनुसार पाश्चात्य नाट्यसिद्धांतों का भी अवलंबन किया। बहुत से अप्रयुक्त प्राचीन नियम छोड़ दिये गये और उस काल में प्राचीन नियमों के अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करते हुए उन्होने अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिखाया जैसे उन्होंने गर्भांक को दृश्य के रूप में स्वीकारा। जिस नाट्यपद्धति से भारतेंदु ने सीधा संबंध जोड़ा वह था संस्कृत नाट्य। अपने मौलिक नाटकों को भी भारतेंदु ने संस्कृत नाट्यके ही अलग-अलग रूपों का नाम दिया था। 'अंधेर नगरी' (1881) या 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (1873) को 'प्रहसन' कहना या 'चंद्रावली' (1876) को 'नाटिका' या 'भारत-दुर्दशा' (1880) को 'नाट्यरासक' कहना संस्कृत नाट्यरूपों के अध्ययन का ही परिणाम था। किन्तु यह और बात है कि इन रचनाओं में अपने शीर्षक के अनुरूप संस्कृत नाट्यशैली का पूर्णतः निर्वाह नहीं हुआ है और वहीं हमें भारतेंदु की

[1]गिरीश रस्तोगी-हिंदी नाटकःसिद्धांत और विवेचन, प्र.सं. 1967, पृ.70

प्रयोगधर्मिता के दर्शन होते हैं। भारतेंदु का परिचय मात्र संस्कृत रंगमंच से ही नहीं था- बल्कि उस समय प्रचलित विभिन्न रंगपरंपराओं जैसे-पाश्चात्य रंगमंच, पारसी, लीला और लोक मंच आदि से भी था। इसलिए उनके भिन्न-भिन्न नाटकों में भिन्न-भिन्न रंगशैलियों के दर्शन होते हैं। 'भारत दुर्दशा', संस्कृत-पारसी और लोक-नाट्यशैली का मिश्रित रूप है तो 'नीलदेवी' (1880) में नौटंकी का परिष्कृत रूप मिलता है जिसमें पारसी रंगतत्व भी सहज घुल मिल गया है। 'अंधेर नगरी' को खुद भारतेंदु ने 'प्रहसन' कहा है किंतु गोपीनाथ तिवारी जैसे आलोचकों ने इस नाटक का अनुशीलन करते हुए अंत में कह दिया है कि संस्कृत नाट्यमें प्रहसन के लक्षणों पर पूरी तरह यह नाटक नहीं उतरता क्योंकि ""अंधेर नगरी' में न प्रस्तावना है और न भरतवाक्य जोकि संस्कृत प्रहसन के प्रमुख लक्षण हैं।"[1]नाटक की रंग -परिकल्पना लोकनाट्य के अधिक अनुरूप है जहाँ नाटक का आरंभ सीधे लोक -गीत से किया गया है। नाटक का सारा वातावरण, सारा परिवेश लोकरंगीय है, राजा और मंत्री को छोड़, शेष सभी पात्र लोक-जीवन के अंग हैं। राजा भी लोक कथा का ही बुद्धू , बेवकूफ राजा है, संस्कृत नाट्य का धीरोदात्त राजा नहीं। किंतु भारतेंदु ने 'अंधेर नगरी' में जिस ढ़ंग से अंक विभाजन और दृश्य संकेत किये हैं उनपर निश्चय ही पारसी रंगमंच का प्रभाव झलकता है। इसीलिए डॉ.लाल ने भी कहा है कि ""अंधेर नगरी' कितनी परंपराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का एक यथार्थ रूपक है- जिसकी भाषा, रूपबंध और समूचा रंगमंच हिन्दी की अपनी मौलिक कृति है।"[2]

इसमें कोई संदेह नहीं कि मुख्यतः लोकनाट्य पद्धति पर आधारित भारतेंदु का 'अंधेर नगरी' हिंदी नाट्य का अत्यंत महत्वपूर्ण और संभावनापूर्ण प्रयोग है। अपनी दृष्टि और संवेदना में यह नाटक पूरी तरह आधुनिक है। यह नाटक तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर अत्यंत तीखा, कटु और गहरा व्यंग्य है। अपने इस प्रयोग द्वारा भारतेंदु ने हिंदी को अपना निजी नाट्यरूप देने की चेष्टा की जिसमें संस्कृत, लोक और पारसी सभी नाट्य-पद्धतियों का अन्वेष्ण और समन्वय है। आज के संदर्भ में इन सभी नाटकों का विशेष महत्व नहीं रहा है किंतु 'अंधेर नगरी' जैसा प्रयोग वर्तमान युग में भी अपनी पूरी सार्थकता

[1]गोपीनाथ तिवारी- भारतेंदु के नाटकों काशास्त्रीय अनुशीलन, प्र.सं. 1971, पृ.303

[2]डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल-आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, प्र.सं.1973, पृ.41

रखता है। अपनी दृष्टि और संवेदना में यह नाटक पूरी तरह समसामयिक है। यह नाटक तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर अत्यंत तीखा, कटु और गहरा व्यंग्य है। और यह व्यंग्य पूरी नाट्यसंरचना में इसप्रकार गुंफित हुआ है कि कथा के सूत्र, पात्रों के कथन और व्यवहार पूरा कथात्मक विधान भी इस व्यंग्य को अधिक पुष्ट और सघन करते चलते हैं। यहाँ तक कि यह नाटक रंगमंचीय धरातल को भी नित नूतन आयाम प्रदान करने में सक्षम है। सन् 1978 में जब ब.व.कारंत ने राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय के छात्रों के साथ मिलकर 'अंधेर नगरी' का मंचन किया था तब "नाटक के अंत में राजा के फाँसी चढ़ने के बाद कारंत ने एक नये दृश्य की परिकल्पना की- जिसमें महंत और उसके दोनों चेले क्रमशः राजा, मंत्री और दरबारी के रूप में सिंहासन ग्रहण करते हैं और फिर से दरबार के उसी दृश्य की शुरुआत होती है, जिसमें नशे में धुत्त राजा है और उसकी चापलूसी करते मंत्री और दरबारी है।"[1] आलेख के अंत में जोड़ा गया यह दृश्य नितांत मौलिक और निर्देशकीय प्रयोग तो है ही, साथ ही यह नाटक अपनी प्रासंगिकता व्यक्त करते हुए भारतेंदु काल में ही नहीं युग-युग से राजनीतिक जीवन में फैली कुव्यवस्था, अन्याय और धाँधलेबाज़ी का पर्दाफाश करता है। "अंत में अंध व्यवस्था से मुक्ति दिलानेवाले मसीहा महंत का स्वयं 'चौपट राजा' बनकर पुनः उसी अंध न्याय व्यवस्था की निरंतरता का संकेत देना-इस नाटक को एक समकालीन और सार्थक भंगिमा प्रदान करता है कि जब तक व्यवस्था के मूलाधार और मूल्यों में परिवर्तन नही होता तब तक किसी भी व्यक्ति, वर्ग या पार्टी के आने-जाने से स्थिति में कोई फर्क नहीं पडेगा।" [2] इसी कारण यह नाटक आज के यथार्थ के संदर्भ में पूरी तरह सार्थक बैठता है।

संक्षेप में भारतेंदु की प्रयोगधर्मिता को निम्नवत रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

"1) प्रथम बार उन्होंने हिंदी गद्य में अनेक विषयों के मौलिक नाटकों की रचना की तथा कथानक के क्षेत्र में अनेकरूपता और विविधता उपस्थित की।
2) प्रथम बार शिष्ट हास्य-व्यंग्य प्रधान प्रहसन लिखने की परंपरा का सूत्रपात किया।
3) अनेक भाषाओं से नाटकों का सुंदर एवं सोद्देश्य अनुवाद किया।
4) हिंदी रंगमंच की स्थापना का प्रथम बार प्रयास किया।

---

[1]देवेंद्र राज अंकुर-अंतरंग बहिरंग, प्र.सं. 2004 ,पृ.132

[2]प्रयाग शुक्ल (सं)-रंग प्रसंग-जयदेव तनेजा-'अंधेर नगरी': कारंत का मंगलाचरण,अंक 12,अक्तूबर-दिसंबर 2003, पृ.127

5) प्रथम बार भारतीय जीवन की यथार्थता के विविध नवीन पक्षों का उद्‌घाटन कर उन्होंने विकासोन्मुखी नयी प्रवृत्तियों का सतर्कता पूर्वक चित्रण नाटकों में किया।
6) संस्कृत, बंगला और अंग्रेज़ी नाट्य-कला के समन्वित तत्वों के आधार पर उन्होंने हिंदी की स्वतंत्र नाट्यकला की नींव डाली।''[1]

कहना न होगा कि भारतेंदु ने अनेक चुनौतियों, बाधाओं और कठिनाईयों के बीच भी हिंदी नाटक की आधारशिला का निर्माण करने का दुर्लभ कार्य किया और भविष्य के लिए प्रयोग के नये द्वार खोले।

भारतेंदु ने मात्र नाट्य-प्रयोग ही नहीं किए अपितु अपने युग के नाटककारों को भी प्रेरणा एवं उत्तेजना प्रदान की। परिणाम स्वरूप भारतेंदु युग का नाट्य-साहित्य परंपरा और प्रयोग के संघर्ष में पूर्णतया रत दृष्टिगत होता है। भारतेंदु जी के सहयोगी नाटककार प्रतापनारायण मिश्र ('गोसंकट,' 'कलिप्रभाव'),बालकृष्ण भट्ट('दमयंती स्वयंवर', 'वेणुसंहार', 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपाध वध'), राधाकृष्ण दास('महाराणा प्रताप सिंह', 'दुखिनी बाला'), लाला श्रीनिवास दास ('रणधीर प्रेममोहिनी', 'संयोगिता स्वयंवर') आदि का तत्कालीन नाट्यांदोलन में योगदान उल्लेखनीय है। इस युग के नाटकों की मूल विशेषता यह है कि परंपरागत रूप में प्राप्त संस्कृत नाट्यपरंपरा एवं भारतीय नाट्य-सिद्धांतों का अनुशीलन करते हुए भी नाटककारों ने अपने समय के समाज और उसकी बदली हुई विलक्षण रुचि के अनुकूल पश्चिमी नाटकों की विशेषताओं को भी धीरे-धीरे अंतर्निहित करने का प्रयास किया है। अंग्रेज़ी नाटकों में मंगलाचरण आदि का अभाव देखकर कुछ नाटकों में प्रस्तावना एवं नान्दीपाठ की व्यवस्था दृष्टिगत होती है, जबकि कुछ में उनका स्पष्ट बहिष्कार हुआ है। उदाहरण स्वरूप भारतेंदु कृत 'सत्य हरिश्चंद्र' तथा राधाकृष्ण दास कृत 'महाराणा प्रताप' आदि नाटकों में इसकी व्यवस्था हुई है जबकि इसके विपरीत भारतेंदु कृत 'नीलदेवी', श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' आदि में इसकी स्पष्ट उपेक्षा हुई है जो कि स्पष्टतया नूतन प्रयोग था। "इस काल के नाट्यसाहित्य में रस की मान्यता भी शिथिल होती गई है और पाश्चात्य नाट्यसाहित्य के अनुरूप घटना-वैचित्र्य एवं अंतर्द्वन्द्व को प्रधानता मिलने लगी थी। भले ही भारतेंदु ने नाटक निबंध में रस की सिद्धि पर बल दिया है। नाटकों के अंक विभाजन आदि भी पाश्चात्य आधार ग्रहण करने लगे थे और अब नाटककार को नाट्यशास्त्र के वर्जित दृश्यों को मंच पर प्रस्तुत करना रुचिकर प्रतीत होता था।''[2]भारतीय दृष्टि से नाटक में युद्ध, मृत्यु, हत्या, स्नान, भोजन, यात्रा, चुंबन, आलिंगन आदि दृश्य एवं असंभावित घटनाओं का समावेश रंगमंच

[1]डॉ.गिरीश रस्तोगी-हिंदी नाटकः सिद्धांत और विवेचन, प्र.सं. 1967, पृ.73
[2] डॉ.सुरेशचंद्र शुक्ल- आधुनिक हिंदी नाटक, प्र.सं. 1981, पृ.59

पर निषेध है। किन्तु कुछ नाटककारों ने इसकी अवहेलना की तथा वर्जित दृश्यों को रंगमंच पर दिखाया। स्वयं भारतेंदु की रचना 'नीलदेवी' में मृत्यु तथा 'चंद्रावली' में चुंबन-आलिंगन, किशोरी लल गोस्वामी कृत 'मयंक मंजरी' में भी चुंबन और मृत्यु के दृश्य दिखाए गए हैं। यह पाश्चात्य प्रभाव तथा पारसी रंगमंच का ही परिणाम है। संस्कृत नाटकों के सुखांत नाटक की परंपरा का पालन करते हुए भी इस काल में भाव के स्तर पर नाटककार की प्रयोगगत उपल्ब्धि के रूप में दुखांत नाटकों की सृजना भी हुई है। भारतेंदु का 'नीलदेवी', राधाचरण गोस्वामी का 'सती चंद्रावली' आदि दुखांत नाटक हैं। प्रायः सभी विद्वानों ने श्रीनिवासदास कृत'रणधीर प्रेम मोहिनी' को हिंदी का पहला दुखांत नाटक माना है।

भारतेंदु युग में कथानक और विषय के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रयोग हुए। "भारतेंदु के नाटकों को 'वाद' के विचार से पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं - 1) आदर्शवादी 2) यथार्थवादी 3) स्वच्छंदतावादी 4) समाज-सुधारवादी 5) राष्ट्रवादी। भारतेंदु के समसामयिक एवं परवर्ती नाटककारों ने इन पाँचों प्रकार की धाराओं को आधिक वेगवती बनाया।"[1]

भारतेंदुकालीन नाटक, प्रयोगकालीन नाटक है। इसी कारण भाषा की दृष्टि से भी नया प्रयोग हुआ है। इस काल की भाषा चुटीली थी। संस्कृत गर्भित न होकर व्रजभाषा, खडीबोली, अवधी, उर्दू तथा कहीं-कहीं प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग, पात्र अपने वार्तालाप में करते हैं। इसीप्रकार पात्रों के चयन और संकलन में भी प्रचलित सीमित और संकीर्ण दायरे को तोड़कर नया प्रयोग किया गया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के विरुद्ध विशेष वर्ग तथा विशेष गुणों से संबद्ध नायक-नायिका के स्थान पर पात्रों का चयन किसी भी वर्ग से किया जने लगा। आदर्श पात्रों के साथ-साथ सामान्य पात्रों की सृष्टि भी होने लगी। कथानक के अनुसार पात्रों का संबंध जीवन के यथार्थ धरातल से, मानव सुलभ गुण-दोषों से होने लगा। इस युग में मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त संस्कृत, बंगला, एवं अंग्रेज़ी से अनेक नाटकों के अनुवाद भी हुए। इसप्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि प्राचीन का मोह इस युग में बना रहा तथापि यह युग पर्याप्त प्रयोगशीलता का युग था। नरनारायण राय के शब्दों में- "भारतेंदु और उनका युग इसलिए महत्वपूर्ण है कि उसने खड़ीबोली हिंदी के गद्य नाटकों की शुरुआत की, उसने नाटक को उसकी स्वरूपगत पहचान दी और उसने

---

[1]डॉ.दशरथ ओझा-हिंदी नाटकःउद्भव और विकास, संस्करण-2003, पृ.172-173

नये नाट्यरूपों की परंपरा स्थापित की, कालांतर से जिनमें एकांकी और प्रहसन अत्यंत समृद्ध एवं पुष्ट हुए। ये परंपराएँ आज रचनात्मक प्रौढ़ि के शीर्ष बिंदु पर हैं।''[1]

**2.3.3.4.2 प्रसाद युग :** भारतेंदु युग के पश्चात् हिंदी नाट्यक्षेत्र में प्रसाद जैसी महान् प्रतिभा का अवतरण हुआ जिन्होंने कलात्मक नाट्य-प्रयोगों के द्वारा एक युग का सूत्रपात किया जिसे निश्चयतः नाट्य-कृति के क्षेत्र में स्वर्णिम युग कहा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद के नाट्यक्षेत्र में प्रवेश करते ही हिंदी नाटकों के शिल्प विधान में समूल परिवर्तन होने शुरू हो गए। इसी समय भारत में स्वदेशी,स्वराज्य, समाज-सुधार, विश्व बंधुत्व और शिक्षा संबंधी नये-नये विचार सामने आ रहे थे। सन् 1918 की युद्ध समाप्ति के बाद पाश्चात्य विचारों का प्रभाव तीव्रता से फैलने लगा था। इसके फलस्वरूप नाटकों में से प्राचीन संस्कृत नाट्यशैली के प्रस्तावना, विष्कंभक, आकाश भाषित आदि का बहिष्कार किया जाने लगा। अंकों को पाश्चात्य शैली के अनुरूप दृश्यों में विभक्त किया गया। मंच पर प्रस्तुत करनेवाले दृश्यों में कोई बंधन नही स्वीकार किया गया। यहीं से आधुनिक हिंदी नाटक का उत्थान होना प्रारंभ हुआ और प्रसाद इस नई हलचल के प्रणेता बने। इसलिए इस युग को 'प्रसाद युग' या हिंदी नाटकों का 'उत्थान युग' कहते हैं।

प्रसाद ने नाटक के क्षेत्र में प्रवेश करते ही नई शैली के नाटक लिखने आरंभ किये, जिनमें हिंदी नाटकों के पूर्ण साहित्यिक स्वरूप का प्रस्फुटन हुआ। उन्होंने गंभीर ऐतिहासिक अध्ययन-मनन के आधार पर भारत की प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और परंपरा का गौरवमय रूप प्रस्तुत करनेवाले ऐतिहासिक नाटक लिखे। प्रसाद से पूर्व भी भारतेंदु, राधाकृष्णदास, बद्रीनाथ भट्ट आदि ने ऐतिहासिक नाटकों का प्रणयन किया था। परंतु प्रसाद के नाटकों की मूल विशेषता उनके कलात्मक वस्तु चयन एवं उनके मूल में निहित गवेषणात्मक अध्ययन में है। इनके कथानक महाभारत के उत्तरार्द्ध काल से लेकर सम्राट हर्षवर्द्धन के शासन काल तक से लिए गए, क्योंकि यह काल भारतीय सभ्यता के गौरव का काल रहा है। 'सज्जन', 'कल्याणी परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित' आदि प्रसाद की प्रारंभिक नाट्य-कृतियाँ हैं जिनमें वे प्राचीन नाट्य-परंपरा से मुक्त तो नहीं हुए हैं पर नये प्रयोगों का द्वन्द्व उनमें है। 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु','स्कंदगुप्त','चंद्रगुप्त','विशाख' और 'ध्रुवस्वामिनी' उनके ऐतिहासिक समस्यामूलक नाटक हैं, जिनमें तत्कालीन

[1]डॉ. नरनारायण राय--रंगशिल्पी मोहनराकेश, प्र.सं. 1991, पृ.12

समस्याओं पर प्रकाश डाला गया। 'जनमेजय का नागयज्ञ' पौराणिक और 'कामना' इनका प्रतीकात्मक अथवा अन्योपदेशिक(एलीगेरी) नाटक है। 'एक घूँट' एकाँकी और 'करुणालय' हिंदी का पहला गीति नाट्य है। 'अजातशत्रु' से 'ध्रुवस्वामिनी' तक प्रसादजी अपने नाटकों में हिंदी नाट्यकला और नाट्यभाषा की नयी संरचना में तल्लीन दीखते हैं और 'रंगमंच' शीर्षक निबंध लिखकर हिंदी रंगमंच की चिंता भी करते नज़र आते हैं।

हिंदी नाट्यक्षेत्र में प्रसादजी नई विचार-सरणियों को लेकर आए। उन्होंने भारतेंदु युग की पौराणिक, ऐतिहासिक, सुधारवादी एवं एक अंकीय नाटकों की प्राचीन पद्यमय परंपरा को तोड़कर गद्य के माध्यम को ही प्रमुख बनाने का प्रयोग प्रारंभ किया। प्रसाद हिंदी के प्रथम ऐसे नाटककार है जिन्होंने इतिहास और नाटक का सही-सही समन्वय किया था। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य अतीत के महत्वपूर्ण प्रसंगों के साथ उसके महान व्यक्तियों एवं भव्य वातावरण के मनोरम चित्र प्रस्तुत करना और यह स्पष्ट करना रहा है कि उन अतीत युगों का हमारे वर्तमान के निर्माण में क्या योगदान रहा है। "उनके सभी नाटक साँस्कृतिक हैं, वे देश की समृद्धि के प्रतिरूप हैं। उनमें केवल यथातथ्य चित्रण नहीं है, वे केवल इतिहास का चित्रण करनेवाले नाटक नहीं है, उनका सांस्कृतिक पक्ष भी है। उनमें वर्तमान और भविष्य की छाया विद्यमान है। कोरे ऐतिहासिक नाटककार के लिए यह कार्य संभव नहीं होता। प्रसाद में चरित्र-निर्माण द्वारा भविष्य में भी उनकी छाया फेंकने का सामर्थ्य था। उनके पात्र मृत अतीत के निर्देशक नहीं हैं, वर्तमान के लिए भी वे संदेश लिये हैं।" [1] प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास का बंधन स्वीकारते हुए भी ऐसे पात्रों और चरित्रों की कल्पना की है जो ऐतिहासिक नहीं है। उनके नाटकों में इतिहास और कल्पना का मणिकांचन संयोग हुआ है। चरित्र-सृष्टि में पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण कर प्रसाद ने अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है।

प्रसाद के नाट्यप्रयोगों की दार्शनिक स्तर पर सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि आनंदवादी भाव की स्थापना है। प्रसाद ने नाट्यक्षेत्र में सुखांत एवं दुखांत की भावना को त्यागकर एक नवीन प्रयोग किया, जिसका पर्यवसान आनंदवादी दर्शन में निहित है। प्रसाद का जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण था जो उनके नाटकों में भी परिलक्षित होता है। "वस्तुतः प्रसाद ने भारतीय और पाश्चात्य नाटककला का समन्वय करते हुए जहाँ

[1]नंददुलारे वाजपेयी - जयशंकर प्रसाद, संशोधित संसकरण-संवत् 2020,पृ.144

रससिद्धांत को लिया वहीं पश्चिम के संघर्ष तत्व और व्यक्ति वैचित्र्य सिद्धांत को भी, अगर बहिर्द्वन्द्व को लिया तो अंतर्द्वन्द्व को भी, यहाँ तक कि सुखांत, दुखांत का एक मिश्रित रूप भी प्रस्तुत किया जिसे 'प्रसादांत' की संज्ञा मिली। सुख-दुख की इस मिश्रित अनुभूति के पीछे जहाँ दार्शनिक चेतना है, वहीं आधुनिक चेतना भी।''[1]

प्रसाद के इस मौलिक एवं साहसी प्रयोग का प्रभाव उनके युग तथा उनके आगामी युग पर भी व्यापक रूप से पड़ा। उन्हीं के परिणाम स्वरूप हिंदी नाटक, कथानक, नाट्यकला, टेकनीक आदि की दृष्टि से पूर्णतः विकसित हुए। पहली बार हिंदी नाटक केवल हास्य-व्यंग्य तथा इतिवृत्तात्मकता एवं ऊपरी भावप्रदर्शन के स्थान पर गहरी अंतर्वेदना, गांभीर्य भावों के उतार-चढ़ाव तथा मानवीय संवेदना से संयुक्त हुए।

संक्षेप में उनके नाटकों की कतिपय प्रयोगधर्मी विशेषताएँ ये हैं- 1) सांस्कृतिक धारा के अक्षुण्ण प्रवाह की भावना 2) दार्शनिक चिंतन 3) स्वाभाविक चरित्र कल्पना 4) राष्ट्रीयता का आग्रह 5) संघर्ष के द्वारा जीवन के मूल तत्व की खोज 6) नारी में शक्ति और चेतना की प्रतिष्ठा 7) काव्यात्मकता का प्रवाह 8) प्रांजल-सशक्त भाषा शैली और संस्कृत तत्सम शब्दों का बहुतायत प्रयोग 9) युगानुरूप नवीन नाट्यशिल्प। इन विशेषताओं ने हिंदी नाटक को पूर्ण प्रौढ़ता और भव्यता प्रदान की और प्रसाद को हिंदी के श्रेष्ठ नाटककार का अधिकारी बनाया। उन्होंने हिंदी नाटक को राष्ट्रीय और सांस्कृतिक गुरुता प्रदान की और अपनी भाषा-क्लिष्टता, संस्कृत निष्ठता और अतीत प्रियता के बावजूद साहित्य के वर्तमान प्रवाह को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

"प्रसाद के नाट्य-प्रयोगों की मूलभूत विशेषता यही है कि बाह्य एवं आंतरिक स्तर पर पाश्चात्य नाट्य-सिद्धांतों से प्रभावित होते हुए भी भारतीय दर्शन के रंग से रंजित हैं। प्रसाद ने भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-सिद्धातों को आत्मसात कर नवीन नाट्य -प्रयोग किए हैं जिनपर परंपरागत छाप की अपेक्षा प्रसाद की प्रयोगगत छाप अधिक गहरी दीख पड़ती है।"[2]

इस युग में कई ऐसे नाटककार सामने आए जो प्रसाद से प्रभावित होकर साँस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना से प्रेरित होकर नाटक लिखने लगे थे जिनमें हरिकृष्ण

---

[1]प्रभाकर श्रोत्रिय (सं) साक्षात्कार, गिरीश रस्तोगी-हिंदी नाटक और मंचन पर विभिन्न प्रभाव, अगस्त 93, पृ.71

[2]डॉ.सुरेशचंद्रशुक्ल - आधुनिक हिंदी नाटक, प्र. सं. 1981, पृ. 69

प्रेमी('रक्षाबंधन'),पाडेय बेचनशर्मा'उग्र' ('महात्मा ईसा'), सेठ गोविंददास('हर्ष'), माखनलाल चतुर्वेदी('कृष्णार्जुनयुद्ध'), उदयशंकरभट्ट ('विश्वामित्र', 'मत्स्यगंधा,'राधा') सुमित्रानंदन पंत ('ज्योत्सना') आदि के नाम और नाटक, विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। "बदरीनाथ भट्ट कृत'कुरुवनदहन' नाटक का अपने आप में महत्व है क्योंकि उसमें नाट्यकला का अच्छा विकास हुआ है। सुव्यवस्थित कथानक, सुंदर चरित्र-चित्रण, सजीव कथोपकथन, हास्य का बीच-बीच में पुट, दृश्य-विभाजन, एक्ट तथा सीन शब्दों का प्रयोग, मृत्यु एवं वध जैसी सूचना पात्रों के वार्तालाप द्वारा दे देना आदि गुणों के कारण यह नाटक भारतेंदु युग तथा प्रसाद-युग के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है। इसकी नाट्यकला का पूर्ण-विकास आगामी नाटकों में देखा जा सकता है।"[1]

**2.3.3.4 प्रसादोत्तर युग-** प्रसाद युग के बाद हिंदी नाटकों का नवयुग प्रारंभ होता है। नाटक कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से अधिक समृद्ध और सुविकसित हुए। चारों ओर के वातावरण, परिस्थितियों और नवीन प्रभावों ने हिंदी नाटककारों को नयी दृष्टि दी। इस युग तक आते-आते लोक नाट्य रूपों का प्रचार अपेक्षाकृत कम हो गया। पारसी रंगमंचीय नाटक भी उतने अधिक लोकप्रिय नहीं रहे क्योंकि सिनेमा का प्रभाव जनता पर अधिक पड़ रहा था। वस्तुतः इस युग में एक ओर उन सभी प्रयोगों एवं प्रेरणाओं का परिणाम मिलता है जो प्रसाद के परिश्रम का फल था और दूसरी ओर विविध प्रभावों के फलस्वरूप कुछ नए प्रयोग और नयी धाराएँ भी उभरकर सामने आए। समस्या नाटक प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य की महान उपलब्धि है जिसका प्रयोग की दृष्टि से विशिष्ट महत्व है।

पाश्चात्य यथार्थवादी प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप हिंदी नाट्य साहित्य में समस्या नाटकों का जो प्रयोग हुआ, उसके सूत्रधार थे - लक्ष्मी नारायण मिश्र। व्यक्ति की समस्याओं का, उसके अंतर्द्वन्द्व का, उलझनों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नाटकों में प्रारंभ हुआ। सबसे पहले मिश्र ने ही बुद्धिवाद के द्वारा आज की नयी वैयक्तिक समस्याओं का विश्लेषण नाटकों में करना प्रारंभ किया। 'सन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य','आधीरात' और 'सिन्दूर की होली' आदि नाटकों की समस्या का केंद्र घुमा-फिराकर नारी या सेक्स, सेक्स या नारी ही है।

---

[1]डॉ. गिरीश रस्तोगी-हिन्दी नाटक : सिद्धांत और विवेचन, प्र.सं.1967, पृ.83-84

इस काल में गीतिनाट्य, प्रतीकवादी नाटक, और एकांकी नाटक सभी रूपों का तेज़ी से विकास भी नाट्यरचना की ही नहीं वरन् हिंदी रंगमंच के विकास की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। डॉ.रामकुमार वर्मा ('पृथ्वीराज की आँखें','सप्तरश्मि' और 'चारुमित्रा'), उदयशंकर भट्ट ('अभिनव एकांकी', 'स्त्री का हृदय'), सेठ गोविंददास('पंचभूत', 'एकादशी') तथा उपेंद्रनाथ अश्क ('देवताओं की छाया') आदि एकांकिकारों ने हिंदी रंगमंच के विकास की संभावनाओं को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। "अश्क के नाटकों को प्रयोग की दृष्टि से वास्तविक अर्थों में नाटक कहा जा सकता है। क्योंकि प्रसादोत्तर काल के नाटककारों में संभवतः अश्क प्रथम नाटककार हैं जिन्होंने नाटक के रंग-सत्य को पहचाना और उसके अनुरूप नाट्यरचना भी की जिसके उदाहरण स्वरूप 'छठा बेटा' और 'भँवर' को लिया जा सकता है जहाँ यदि एक ओर मानव सत्य से परिपूरित कथा है तो दूसरी ओर रंगमंच भी, जहाँ उस सत्य का मंचन हो, वह दर्शक का दर्शनीय सत्य हो जाता है।"[1]

'छठा बेटा' में अश्कजी ने स्वप्न नाट्य-टेकनीक का प्रयोग किया है जो शायद हिंदी में इस टेकनीक का प्रथम नाट्य-प्रयोग है। प्रस्तुत नाटक में एक मध्यमवर्गीय जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित व्यक्ति के स्वार्थजन्य भावनाओं का हास्य-व्यंग्य पूर्ण चित्रण हुआ है। शिल्पगत प्रयोग के स्तर पर प्रस्तुत नाटक में 'अंक' आदि की नियोजना न करके केवल चार बार पर्दा उठता हुआ दिखाया गया है। यह नाटक एक ही स्थान(बरामदे) में उतने ही समय के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। रंगमचीय दृष्टि से नाटक पूर्ण अभिनेय है। "नाटक में 'रंग संकेत' देने की कला भी अधुनातन एवं विस्तृत है जो स्थान, समय, पूर्ववृत्त, चरित्रों के विषय में व्यापक परिचय एवं उनके मूलभूत गुणों के उद्घाटन हेतु पूर्णतः सक्षम है। 'स्वप्न' का मंच संकेत बड़ी ही कुशलता से दिया गया है। 'स्टेज' पर पहले ही दृश्य के उपरांत रोशनी का निरंतर कम होना तथा अंतिम दृश्य में केवल छाया-आकृतियों का दिखाई देना और उनके संवाद मात्र से ही पात्र-बोध इत्यादि, एक ओर प्रयोग की श्रेष्ठता तथा दूसरी ओर उनकी अगाध मंच-निष्ठा एवं व्यापक मंच-ज्ञान के भी परिचायक हैं। निष्कर्षतः 'छठा बेटा' नाट्य-कृति, अभिनेयता एवं दर्शक के स्तर पर एक सफल नाट्यप्रयोग है जो प्रयोग के इतिहास में विशिष्ट स्थान निर्धारित करते

[1]डॉ.सुरेशचंद्र शुक्ल- आधुनिक हिंदी नाटक, प्र.सं. 1981, पृ.82

हुए एक विशिष्ट परंपरा का उन्नायक भी है जिसके दर्शन 1941 में सेठ गोविंददास प्रणीत 'विकास' नाटक में होते हैं। ''[1]

उपर्युक्त नाटककारों के अतिरिक्त भाग्य की विडंबना के कारण हिंदी नाटक के इतिहास में उपेक्षित रह गये नाटककारों में प्रखर प्रतिभासंपन्न नाटककार भुवनेश्वर प्रसाद ने अपनी उद्दाम रचनाशीलता के द्वारा हिंदी नाटक को एक प्रबल झटका देकर नयी दिशा में मोड़ा था। हिंदी एकांकी के क्षेत्र में शैली, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से सबसे गंभीर रचनाएँ भुवनेश्वर ने प्रस्तुत की जिनमें आज के एब्सर्ड नाटकों का बीज-रूप भी देखाजा सकता है। भुवनेश्वर ने अपनी कृतियों में पहली बार मनुष्य की पहचान खो जाने की प्रक्रिया को निरूपित किया। 'ऊसर','पतित' और 'ताँबे के कीडे' - ये तीन नाटक भुवनेश्वर को अपने समय से बहुत आगे का नाटककार सिद्ध करते हैं। वास्तव में भुवनेश्वर के नाटकों की प्रासंगिकता न उनके जीवन काल में समझी गयी और न ही आज। अभी तक वे हिंदी के सर्वाधिक विवादास्पद नाटककार हैं। जो भी हो इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यवस्था की व्यर्थता से उत्पन्न मानवीय संवेदना के बदलाव को भारतीय साहित्य में पहली बार प्रकट करनेवाला नाटककार भुवनेश्वर प्रसाद ही है।

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि प्रसादोत्तर युग में हिंदी नाटक ने प्रयोग की दृष्टि से अपनी एक विशिष्ट पहचान बनायी है और विकास की नयी संभावनाओं को उजागर किया है।

**2.3.3.4 स्वातंत्र्योत्तर युग :** 1951 ई. में जगदीशचंद्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक के आविर्भाव के साथ हिंदी नाट्यप्रयोग के विकास में एक नव्ययुग का प्रारंभ होता है। पर इसे युग कहने में एक बड़ी दिक्कत यह है कि 1950 से 1960 तक की समय परिधि में केवल चार नाटक - माथुर कृत 'कोणार्क' (1951), धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग' (1954), मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' (1958) और लाल का 'मादा कैक्टस' (1959) सामने आए। इन सभी नाटकों में भविष्य में विकसित हुई नाट्यरचना धारा के बीज निहित है। 'कोणार्क' तथा 'आषाढ़ का एक दिन' से मिथकीय नाटकों की नई परंपरा शुरू होती है तो 'अंधायुग' से काव्य नाटकों की और 'मादा कैक्टस' से यथार्थवादी सामाजिक नाटकों की। इन चार नाटकों के बलबूत्ते 1950 से 1960 के दशक को एक युग कहना मुश्किल ज़रूर लगता है, पर वास्तविकता यही है। इस दशक के शेष

[1]डॉ.सुरेशचंद्र शुक्ल - आधुनिक हिंदी नाटक, प्र.सं. 1981, पृ.85

सैकड़ों नाटक परंपरा का अनुपालन ही करते रहे। 1960 से 1970 के बीच ऐसे नये प्रयोगशील नाटकों की परंपरा में बारह नाटक और जुड़ जाते हैं- काव्यनाटकों की परंपरा में 'सूखा सरोवर' (1960), 'एक कंठ विषपायी' (1963), 'उत्तर प्रियदर्शी' (1967) । मिथकीय नाटकों की परंपरा में 'लहरों के राजहंस' (1963), 'सूर्यमुख' (1968), 'पहला राजा' और 'कलंकी' (1969) तथा यथार्थवादी सामाजिक नाटकों की परंपरा में 'दर्पण' (1960), 'रक्तकमल', और 'रातरानी' (1962) तथा 'आधे-अधूरे' (1969) आते हैं। इस 60 से 70 के बीच की अवधि में एक दर्जन नये प्रयोगशील नाटक सामने आए जिनमें नाट्यमूल्यों को तलाशने और पाने की सच्ची ललक दिखाई पड़ती है। शेष नाटककार इस परंपरा का ही अनुकरण करते नज़र आते हैं। 1970 से आज तक स्थिति बहुत बदली है। वर्तमान युग में एक नया रंगदर्शन विकसित हुआ है और उसके साथ नाट्यसृजन भी परिपक्व होता गया। आज 'शुतुरमुर्ग', 'चरणदास चोर', 'सिंहासन खाली है', 'बकरी' जैसे कई नाटक हिंदी के पास हैं जिनके सैकड़ों प्रदर्शन हो चुके हैं। नाट्यरचना के रंगमंचीय पक्ष को लेकर भी नित नये प्रयोग होने लगे हैं-जैसे मूक नाटक, नुक्कड़ नाटक, एकल नाट्य, कहानियों का रंगमंच, मनोशारीरिक रंगमंच, टेरेस थियेटर, महाकाव्यात्मक रंगमंच, और असंगत नाटक आदि।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों ने दर्शकों को रंगमंचीयता की ओर अभिमुख करने के लिए नये नाटकों में कथ्य, शिल्प, शैली और रंगमंचीय धरातल पर अनेक प्रयोग कर प्रत्येक रचना में नवीनता की सृष्टि करने और इसप्रकार दर्शकों को रंगमंच की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया। इस प्रयास में वैज्ञानिक तकनीकों, पश्चिमी प्रयोगों और नवीन मौलिक उद्भावनाओं का सहारा भी लिया गया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों का अप्रत्याशित विकास हुआ है और कथ्य, शिल्प, शैली और रंगमंचीयता के स्तर पर आकर्षक, अनूठे एवं अद्भुत प्रयोग संभव हुए हैं जिनका अध्ययन-अनुशीलन करने का प्रयास आगे के उपशीर्षकों और अध्यायों में किया गया है।

## 2.4 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता के विविध आयाम

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य साहित्य ने विरासत में मिली रंगपरंपराओं - संस्कृत, लोक, पाश्चात्य नाट्य, भारतेंदु युग से लेकर प्रसादोत्तर युग तक की विभिन्न रंगपद्धतियों

और शैलियों से प्रभाव ग्रहण कर नाटकों में जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति खींचने तथा विविध नाट्यप्रयोगों द्वारा एक सशक्त नाट्यरूप को तलाशने का प्रयास किया है। वस्तुतः हिंदी नाट्यसाहित्य में प्रयोगशीलता का वास्तविक उन्मेष स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही हुआ। इसी समय राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में व्यापक स्तर पर आये परिवर्तनों ने परंपरागत मान्यताओं, मानव मूल्यों और संबंधों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। विभाजन की विभीषिका, बेरोज़गारी, भूख, गरीबी, भ्रष्टाचार, संत्रास और मूल्य विघटन की जटिल स्थितियों ने आम आदमी की सोच और ज़रूरतों को पूरी तरह से बदल दिया जिसके फलस्वरूप साहित्य और विशेषकर नाटक साहित्य में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। स्वतंत्रता के उपरांत जन जीवन में महायुद्धोत्तर काल की परिस्थितियों, डार्विन, मार्क्स, फ्रायड़ और नीत्शे के दार्शनिक विचारों, वैज्ञानिक आविष्कारों, पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभावों तथा पाश्चात्य नाट्यजगत की रंगमंचीय गतिविधियों के प्रभाव से हिंदी नाटक का चरित्र पूर्ण रूप से बदलने लगा। इसके साथ ही स्वातंत्र्योत्तर भारत में उपनिवेशवाद के दुष्प्रभावों के कारण मूल्यों और स्वस्थ परंपराओं के ह्रास तथा उसके प्रतिरोध में कला, संस्कृति, साहित्य और दर्शन की विभिन्न विधाओं के द्वारा भारतीय अस्मिता की खोज की प्रवृत्ति ने भी नाट्यकारों को पारंपरिक लोकनाट्य और भारतीय रंगपरंपरा की तलाश की ओर उन्मुख किया है, जिसके कारण हिंदी नाटक में पिछले कुछ दशकों में प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से नयी चेष्टाएँ हुई हैं।

इस युग में नाटककार ने कथानक और चरित्र-सृष्टि में प्राचीन मानदंडों के कठघरे से निकलकर युगीन जीवन को अपना कथ्य बनाया जिसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए उसे रचना के पुरातन मानदंड असमर्थ प्रतीत हुए। इसीलिए शिल्प के नये उपादानों की खोज में उसने कभी विसंगत नाट्यधारा का आश्रय लिया तो कभी प्राचीन परंपरा का पुनः अन्वेषण किया। रीताकुमार के श्ब्दों में ''अपने युग को सजीव और सक्षम अभिव्यक्ति देने के अर्थ में ही स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक प्रयोगशील है। भारतेंदु ने नाटक को युग-सत्य से जोड़ा था, प्रसाद ने उसे विशिष्ट धरातल दिये, किंतु मनुष्य और उसकी ज्वलंत समस्याओं का चित्रण सन् 1950 के बाद आनेवाले नये नाटकों में ही मिलता है।''[1] वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक दर्शक को प्राचीन मान्यतानुसार आनंद प्राप्ति नहीं कराता, ना ही पुराने नाटक की तरह कोई समाधान प्रस्तुत करता है वरन् उसे विक्षुब्ध व विचलित करता है। आज का नाटक व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करके दर्शक को आत्म-साक्षात्कार करने के लिए विवश करता है। इसी अर्थ में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक

[1] रीताकुमार - स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकः मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में ,प्र.सं. 1980, पृ.50

प्रयोगशील है। युग के विसंगत परिवेश और उनमें छटपटाते मनुष्य की पीड़ा को स्वर देना इन नाटककारों का लक्ष्य है, जिसकी पूर्ति के लिए कथानक, शिल्प और रंगमंचीय धरातल पर अनेक प्रयोग किए जा रहे हैं। यद्यपि इस प्रयोगशील नाट्य-परंपरा का प्रारंभ जगदीशचंद्र माथुर के 'कोणार्क' (1951) के प्रकाशन और मंचन के साथ होता है। फिर भी कालक्रम की दृष्टि से भुवनेश्वर इस प्रयोगशील परंपरा के संवाहक के रूप में सामने आते हैं। भुवनेश्वर ने 'ताँबे के कीड़े' (1946) और 'ऊसर'(1938) जैसे नाटकों की रचना के द्वारा आंतरिक यथार्थ की पकड़ और नाटकीय भाषा की खोज का उस समय परिचय दिया जब हिंदी नाट्य साहित्य पर लेखन के स्तर पर छायावादी प्रभाव छाया हुआ था और रंगमंचीय सक्रियता की दृष्टि से शून्यता थी।

संभवतः प्रयोगधर्मिता स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक की एक अनिवार्य यात्रा है, जिसके माध्यम से वह एक सशक्त नाट्य-परंपरा तलाश रहा है। हिंदी नाटक को कथ्य, शिल्प और मंचीय स्तर पर नूतन आयामों से समृद्ध करने की इस प्रयोग यात्रा में दो पीढ़ियों और दो परंपराओं के अनुयायी नाटककारों का योगदान है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत उन नाटककारों को रखा जा सकता है जो प्रसाद-युग या प्रसादोत्तर काल के नाटककार थे और अपने युगीन संस्कार लिए हुए स्वतंत्रता के बाद भी नाट्य लेखन में उतने ही सक्रिय रहे। पं.लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंद दास, डॉ.रामकुमार वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क तथा विष्णु प्रभाकर जैसे नाटककारों को इस वर्ग में रखा जा सकता है। इनमें से अश्क और विष्णुप्रभाकर को छोड़कर शेष नाटककार अधिकांशतः अपनी पारंपरिक शैली के द्वारा ही आज़ादी के बाद की जड़ता की स्थिति का चित्रण करते रहे।

दूसरे वर्ग के नाटककारों में उन रचनाकारों को रख सकते हैं, जिनका नाटककार के रूप में साहित्यिक जीवन वस्तुतः आज़ादी के बाद प्रारंभ हुआ और जिन्होंने रचना विधान के किसी भी धरातल पर अपनी जागरूकता, प्रयोगशीलता अथवा अभिव्यक्ति के नये रूप के अनुसार अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनमें जगदीश चंद्र माथुर, धर्ववीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, दयाप्रकाश सिन्हा, डॉ.शंकर शेष, रमेश बक्षी, मणि मधुकर, रेवतीसरन शर्मा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, सुरेंद्रवर्मा, कुसुम कुमार, सुशील कुमार सिंह, ब्रजमोहन शाह, हमीदुल्ला, मुद्राराक्षास, सक्सेना, मृणाल पांडे, गिरिराज किशोर, विपिन कुमार अग्रवाल, प्रभाकर श्रोत्रिय तथा हबीब तनवीर जैसे अनगिनत नाटककारों की रचनाएँ इस विधा को बहु आयामीय रूप प्रदान करती हुई सशक्त व समृद्ध बनाती है।

कुल मिलाकर यह काल हिदी नाटक और रंगमंच की अनवरोध परंपरा को जन्म देने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अतः स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक और रंगमंच का प्रयोगात्मक

धरातल पर अध्ययन भी आवश्यक है। सृजनात्मक क्षेत्र में प्रयोगधर्मिता के कई आयाम हो सकते हैं। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता लगभग तीन आयामों में व्यक्त हुई है। इसका पहला आयाम कथ्य के स्तर पर व्यक्त हुआ है, जिसमें नाटककारों ने नाटक को सामाजिक ज़िंदगी से जोड़ते हुए कथ्य के क्षेत्र में भारी बदलाव उपस्थित किया तथा विषय के नये क्षेत्रों को ग्रहण करते हुए मानव-संवेदना को उभारने का प्रयास किया, मानव के सोच तथा शक्ति को विश्लेषित किया। प्रयोगधर्मिता का दूसरा आयाम है, शिल्प की नवीनता, जिसमें नाटककार परंपरागत शास्त्रीय मानदंडों को अस्वीकार करके नये नाट्य रूपों की खोज करते हैं और कथ्य को नये शिल्प में ढ़ालकर अपने संप्रेष्य की सूक्ष्म अभिव्यक्ति देते हैं। प्रयोग का तीसरा और नया आयाम मंचीय निर्देशन से संबंधित है। प्रयोग के स्तर पर हिंदी रंगमंच की नवीन खोज और स्थापना स्वातंत्र्योत्तर नाट्य साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जा सकती है।

वस्तुतः नाटक की उत्कृष्टता की पहचान प्रयोग के उक्त तीनों प्रकारों से समन्वित प्रयोगधर्मिता के द्वारा होती है। नाट्य कृति के समग्र मूल्यांकन के लिए इन तीनों के पारस्परिक अंतः संबंध को दृष्टि में रखनी चाहिए। अतएव न तो केवल वस्तुगत प्रयोगों से कोई नाट्य कृति श्रेष्ठ बन सकती है, न केवल शिल्पगत, न रंगमंचीय प्रयोगों से ही, अपितु इन तीनों का समान रूप से प्रकर्ष किसी नाटक की श्रेष्ठता का मानदंड हो सकता है। यदि किसी नाटक में मौलिक दृष्टि से वस्तुगत प्रयोग हुए है तो वह नाटककार उनके अनुरूप नाट्य शिल्प और रंगशिल्प की भी नवीन ढ़ग से परिकल्पना करेगा। इसीलिए विश्व के सभी श्रेष्ठ नाटककारों में तीनों प्रकार के प्रयोगों का समान रूप से निर्वाह पाते हैं। फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए स्वातंत्र्योत्तर हिदी नाटक और रंगमंच को इन तीनों आयामों के निकष पर परखना समीचीन होगा।

### 2.4.1 कथ्यगत प्रयोग

कथ्य नाटक का महत्वपूर्ण अंग है, बल्कि कथ्य को नाटक की आधारशिला कहना अतिशयोक्ति न होगी। कोई भी नाटककार अपनी रचना के माध्यम से जो विषय, तथ्य, या भाव दर्शकों तक संप्रेषित करना चाहता है, वही वस्तु है, वही अनुभूति है और वही कथ्य है। भिन्न-भिन्न घटनाओं का क्रमिक संयोजन ही कथानक है जिसके द्वारा नाटक की भाववस्तु को रूप मिलता है। समीक्षक नेमिचंद्र जैन के शब्दों में ''नाटक का कथानक केवल घटनाओं का समूह मात्र नहीं, वह घटनाओं का ऐसा क्रमबद्ध संयोजन है जो किसी

सत्य का उद्‌घाटन करे, जिसके माध्यम से कथा से संबद्ध पात्रों की अनुभूति के स्तर इसप्रकार खुलते जायें कि वे स्वयं तथा दर्शक अपने सच्चे स्वरूप की उपलब्धि करें। ''[1]

नाटक में कथ्य का संबंध केवल कथा मात्र से न होकर नाटक के अन्य तत्वों से भी है जो देश और काल के आयाम ग्रहण करते हुए कई नाटकीय उपादानों को विभिन्न अंतःसूत्रों में परस्पर जोड़कर रखता है। स्वातंत्र्योत्तर नाटककार कथ्य को लेकर कई प्रयोग कर रहे हैं। वर्तमान समय में नाटक जीवन का दर्पण बन गया है अर्थात् जीवन का प्रत्येक क्षेत्र नाट्य विषय बन चुका है। वर्तमान युग के राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में उत्पन्न विसंगतियों, मानवीय संबंधों की हास्यास्पद स्थिति, औद्योगिक युग के भ्रष्टनीति, दो पीढ़ियों के संघर्ष, आर्थिक वैषम्य के दुष्परिणामों, नारी-पुरुष संबंधों, युवा पीढ़ी की दिशा भ्रांत स्थिति आदि को कथ्य के रूप में अपना कर नाटक को प्रत्यक्ष जीवन के सन्निकट लाने के प्रयोग किए हैं। विषयवस्तु चाहे ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं जिसे रचनाकार ने न छुआ हो। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार की विशेषता यह है कि परिवेशगत प्रतिबद्धता और रंगमचीय प्रतिबद्धता दोनों को साथ लिए वह नाट्य-सृजन कर रहा है। कथ्य के अनुरूप कथानक गढ़ने के क्रम में नाटककार अनेक प्रकार के प्रयोगों का परिचय देता है ताकि उसका कथ्य प्रभावशाली ढ़ंग से संप्रेषित हो जाए। यहाँ कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए माध्यम के रूप में वर्तित प्रयोग की विभिन्न प्रवृत्तियों को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जिनसे प्रभाव, आकर्षण, नयापन और अभिव्यक्ति कौशल का परिचय मिलता है।

**2.4.1.1 आधुनिकता के अतीतोन्मुखी नाटक**:स्वतंत्रता के पश्चात् सबसे बड़ा प्रयोग अतीत अर्थात् इतिहास-पुराण-मिथक से संबंधित पात्रों-घटनाओं-स्थितियों-मूल्यों एवं प्रसंगों को आधुनिकता से समन्वित करने का रहा है। ऐसे ही नाटकों को आधुनिकता के अतीतोन्मुखी नाटक की संज्ञा से अभिहित किया है। इस समय के नाटककारों की मूल निष्ठा इतिहास, पुराण या मिथक के प्रति न होकर अपने कथ्य के प्रति ही रही है। ये नाटककार इतिहास, पुराण और मिथक का सहारा लेकर नये भावबोध और नवीन संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं। पूर्व परंपरा की भाँति ये अतीतकालीन या अतीतोन्मुखी घटनाओं, प्रसंगों, स्थितियों, पात्रों और मूल्यों को साध्य रूप में स्वीकार नहीं करते। बल्कि इसको साधन रूप में ग्रहण करते हुए अनूठी कल्पना द्वारा आधुनिक, नवीन और

[1]नेमिचंद्र जैन- रंगदर्शन, तीसरा सं. 1993, पृ. 26

विस्मयकारी संदर्भों में इसका रचनात्मक उपयोग किया है। कुछ नाटक जीवन के परिवर्तित मूल्यों और विचारों को व्यंजित करने के लिए, वर्तमान को प्रभावशाली ढ़ंग से संप्रेषित करने के लिए अतीत का आश्रय लेकर इतिहास के कल को आज से जोड़ते हैं। डॉ.नरनारायण राय के शब्दों में ''ऐतिहासिक - पौराणिक कथानक पर आश्रित पारंपरिक नाटकों की तरह ये नाटक केवल इतिवृत्त या महापुरुषों का चरितगान प्रस्तुत नहीं करते अपितु समकालीन जीवन और जगत से संबद्ध अनेक समस्याएँ और विसंगतियाँ इन नाटकों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। ऐतिहासिक - पौराणिक कथानक के प्रयोग की यह सर्वथा नवीन प्रवृत्ति है जो नये नाटकों में और नये नाटकों के साथ विकसित हुई है।''[1]

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार ने जीवन के परिवर्तित मूल्यों को प्रकट करने के लिए और अपने युग के यथार्थ को प्रामाणिक बनाने के लिए अतीत का आश्रय लिया है जहाँ आधुनिक जीवन की जटिलताओं, कुंठाओं और अंतर्द्वन्द्व का चित्रण ऐतिहासिक, पौराणिक परिप्रेक्ष्य में किया गया है। जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क' (1951) इस परंपरा का पहला प्रयोगशील नाटक है जो कलाकार के अंतर्दहन की कथा कहता है, शोषण का विरोध करता है और नये और पुरानी पीढ़ी के द्वंद्व को प्रस्तुत करता है। धर्मवीर भारती की बहुचर्चित और बहुमंचित अंधा युग (1954),इस अंधेयुग में प्रकाश की कथा कहता है। युद्धजन्य अंधी संस्कृति और उससे उत्पन्न अनास्थावादी स्वरों को भारती अपनी मिथकीय सूझ-बूझ से अतीत एवं वर्तमान दोनों धरातलों पर एक साथ बाँधते हुए बड़े मार्मिक, और प्रभावी ढ़ंग से उद्घाटित करते हैं। इसी तरह मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' (1958) का आधार ही ऐतिहासिक है, पर वह बनते - बिगड़ते मानवीय संबंधों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करता है। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मिस्टर अभिमन्यु' (1971) में महाभारत के ऐतिहासिक पात्र अभिमन्यु के माध्यम से समकालीन चक्रव्यूह में फंसे मनुष्य की विडंबनात्मक स्थिति को बखूबी दर्शाया है। भीष्म साह्नी के 'माधवी'(1984) नाटक में ययाति की पुत्री माधवी के माध्यम से स्त्री पर होनेवाले शोषण की गाथा का वर्णन है।

---

[1]डॉ.नरनारायण राय- नया नाटक : उद्भव और विकास, प्र.सं. 2001, पृ. 241

इस नये प्रयोग के अनेक नाटक उपलब्ध हैं। पुराण-मिथकों की यह विशेषता है कि इसमें अतीत और वर्तमान के सूत्रों को जोड़ने में अधिक छूट रहती है। यही कारण है कि डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल ने 'नरासिंह कथा', 'गुरू','यक्ष प्रश्न', 'एक सत्य हरिश्चंद्र', 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'सब रंग मोह भंग' तथा 'कथा विसर्जन' में; दयाप्रकाश सिन्हा ने 'कथा एक कंस की' में, भीष्मसाहनी ने 'हानूश', 'कबिरा खड़ा बाज़ार में', नरेंद्र कोहली ने 'शम्बूक की हत्या' तथा सुरेंद्र वर्मा ने 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक','आठवां सर्ग' तथा 'छोटे सैयद बड़े सैयद' जैसे कई नाटकों में मिथकों अथवा इतिहासाश्रित कथाओं का उपयोग किया है।

**2.4.1.2 यथार्थबोध के सामाजिक नाटक :**स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव के फलस्वरूप परंपरागत नाट्यादर्शों को पुराना समझकर नयी परिपाटी का विधान किया। वे जीवन की समग्रता और यथार्थता की बात करते हैं और इब्सन, शाँ जैसे विख्यात पाश्चात्य नाटककार उनके प्रेरणास्रोत बन गये। इन नाटककारों ने नाटकों को समसामयिक, समकालीन जीवन के साथ जोड़ा। डॉ.गिरिशचन्द्र ने यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए लिखा है-"यथार्थवाद जीवन के प्रति एक दृष्टि है, जिसमें अलौकिकता और ईश्वरीय विधान के प्रति निषेध का भाव तो निहित होता ही है, उसमें बौद्धिक विचार, वैज्ञानिक विश्लेषण और मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ की भी अभिव्यक्ति होती है। रोमानी, भावुकता इसमें कोई महत्व नहीं रखती।"[1] स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने यथार्थवाद के इस स्वरूप को अपने नाटकों में भिन्न-भिन्न प्रयोगों के साथ विशेषतः उभारा है।

पूर्व स्वतंत्रता युगीन नाटकों में भी सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया जाता था। किंतु वहाँ यथार्थ के साथ साथ आदर्श की भी स्थापना की जाती थी और समाज सुधार की भावना अहम होती थी। परंतु स्वातंत्र्योत्तर युग में आकर सामाजिक मनुष्य की समस्याओं और मनोवृत्तियों को केंद्र बनाकर नाट्य रचना की गई और नाटक में आदर्श का चित्रण न करके यथार्थ स्थिति को ही दर्शाया गया है। नरनारायण राय स्वातंत्र्योत्तर नाटकों के संदर्भ में मनुष्य के भीतरी यथार्थ की चर्चा करते हुए कहते हैं-''बाह्य यथार्थ से आंतरिक यथार्थ की ओर रचयिताओं ने अपनी यात्रा शुरू

---

[1]रमेश गौतम (सं)- दिल्ली का हिंदी नाटक और रंगमंच- डॉ.गिरिशचंद्र-दिल्ली का आधुनिककालीन नाटक-साहित्यः स्वतंत्रता काल(1947) से आपात्काल (1974) तक, प्र.सं. 2000, पृ.94

की। नाटक के क्षेत्र में इस नयेपन को अब इन रूपों में देखा जा सकता है। रंगमंच के प्राचीन बंधनों को अस्वीकार करते हुए चमत्कारों का आश्रय लिये बिना अब नाटककार दर्शकों के जीवन में गहरे पैठ कर उनके आंतरिक यथार्थ की खोज करने लगे। हिंदी नाटकों में यह प्रयोग साठोत्तरी रहा है।"[1] वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने समसामयिक युग की अभिव्यक्ति देने के लिए सामयिक संदर्भों को भी अपनाया। अपने चारों ओर के परिवेश से कथानक और पात्रों-चरित्रों को लेकर नाटककारों ने सामाजिक परिवेश की यथार्थ और कलात्मक अभिव्यक्ति करते हुए मानव-मन की सूक्ष्म जटिल अनुभूतियों, मनःस्थितियों को उजागर किया और समसामयिक मुहावरे के बीच से ही व्यक्ति और परिवेश के आंतरिक व सूक्ष्म यथार्थ की खोज की। कहीं इस खोज में समसामयिक जीवन की समस्याओं, अभाव तथा आम आदमी की विडंबित स्थिति को सटीक संप्रेषण देने की खातिर नवीन प्रतीकों को चुना गया तो कहीं आधुनिक मनोविश्लेषण का सहारा लेकर व्यक्ति के आंतरिक यथार्थ को उजागर किया गया। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने जिस विघटन और संकट के कुहासे को झेला है तथा पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सभी स्तरों पर जिस यथार्थबोध को आत्मसात किया है, उस सत्य की जीवंत और सार्थक अभिव्यंजना उनकी कृतियों में मौजूद है। यथार्थ बोध के सामाजिक हिंदी नाटकों की रचना करनेवालों में विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण लाल, दयाप्रकाश सिन्हा, रमेश बक्षी, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मुद्राराक्षस, कुसुम कुमार, मृदुला गर्ग, मन्नू भंडारी, मृणाल पांडे, मीरा कांत, नरेंद्र कोहली, गोविंद चातक, रमाशंकर निशेष, प्रताप सहगल, राजेंद्रकुमार, सारंग भृगु आदि महत्वपूर्ण नाटककार हैं।

डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'मादा कैक्टस'(1959) अपने कथ्य, शिल्प व रंगतत्व की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर युग की एक ऐसी अभिनव सामाजिक रंगोपलब्धि है जिसमें नर-नारी के प्राकृतिक संबंधों को वनस्पति-जगत की एक प्रसिद्ध दंतकथा के ब्याज से विश्लेषित करने का प्रयास हुआ है। इस नाटक में चित्रित प्रमुख स्त्री-पुरुष पात्र नर या मादा कैक्टस के प्रतीक हैं। कैक्टस को नये इंसान के प्रतीक रूप में ग्रहण करते हुए नाटककार आत्मकेंद्रित आधुनिक बैद्धिक प्रेम पर गहरा व्यंग्य करता है। वस्तुतः इसमें व्यक्तित्व के संघटन की समस्या को उठाया गया है। लाल का ही 'अब्दुल्ला दीवाना'

[1]डॉ.नरनारायण राय- आधुनिक हिंदी नाटकः एक यात्रा दशक, प्र.सं. 1979, पृ.39

(1973) नाटक स्वातंत्र्योत्तर परिवेश में फैली सामाजिक अराजकता, अव्यवस्था और अनैतिकता के प्रश्न को बखूबी उठाता है। सामाजिक मूल्यों और नैतिक चेतना के प्रतीक अब्दुल्ला की हत्या कर दी जाती है। इसकी हत्या का मुकद्दमा ही प्रस्तुत नाटक का केंद्र है। ललित सहगल का 'हत्या एक आकार की' नाटक आधुनिक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में प्राचीन सांस्कृतिक विचारों में परिवर्तन के कारण धर्म की नयी व्याख्या प्रस्तुत करता है।अमृतराय कृत 'चिंदियों की एक झालर',रमेश बक्षी का'तीसरा हाथी', बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु', गिरिराज किशोर का 'घास और घोड़ा' आदि नाटक भी उल्लेखनीय हैं।

राजेश जैन का 'कोयला चला हंस की चाल' नाटक वर्तमानकालिक प्रदूषण जैसी ज्वलंत समस्या को लेकर लिखा गया। प्रदूषण जैसे विषय को नाटक का कथानक अब तक के नाट्य साहित्य में कम ही बनाया गया था। इस विषय को लेकर नाट्य-रचना करना नाटककार की प्रयोगधर्मिता को स्पष्ट करता है। नाटक में श्यामराज प्रकृति के पाँच तत्वों के असंतुलन से पर्यावरण के बिगड़ने का संकेत करता है। मनुष्य की विद्युत पर बढ़ती निर्भरता को संकेतित करते हुए वातावरण में बढ़ते प्रदूषण की मात्रा के बारे में भी बताया गया है जो आज का सामाजिक यथार्थ ही है। कृष्ण बलदेव वैद का 'भूख आग है', अजय शुक्ला का 'दूसरा अध्याय', हमीदुल्ला का 'आधार शिला', सुरेश चंद्र का 'आकाश झुक गया', राजेंद्रकुमार शर्म का 'नीलाम घर', त्रिपुरारी शर्मा का 'रेशमी रुमाल', जगदीश चतुर्वेदी का 'पीली दोपहर', सारंग भृगु का 'भूख तन की, प्यास मन की', स्वदेश दीपक का 'काल कोठरी', इंद्रजीत भाटिया का 'अपनी-अपनी दुनिया' आदि नाटक सामाजिक नाटकों की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर नाटक अपने परिवेश और देशकाल की गहरी समझ से जुडे हैं जिनमें सामाजिक यथार्थ की त्रासद स्थितियों और सामाजिक अंतर्विरोधों का यथार्थ एवं सजीव चित्रण हुआ है।

**2.4.1.3 दलित चेतना और सांप्रदायिकता :** ये नाटककार अपने नाटकों के द्वारा सांप्रदायिकता और जातिगत संकीर्णता को मिटाने तथा शोषकों के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा देते हैं। देश विभाजन की पार्श्वभूमि में रचित असगर वजाहत का बहुचर्चित और प्रासंगिक नाटक 'जिसलाहौर नई देख्या ओ जन्म्याई नईं' (1990) नाटक धार्मिक मेल-मिलाप को महत्व देते हुए असहिष्णु तथा कट्टरवादी लोगों पर तीखा प्रहार करता है। विभाजन के

दौरान एक हिंदू औरत जिसे लाहौर से बड़ा प्रेम है, शहर छोड़ना ही नहीं चाहती और पीछे रह जाती है। यही से पूरा नाटक आगे बढ़ने लगता है जो दिखाता है कि हर मज़हब इंसानियत सिखाता है, वह इंसान ही है जो इस सच्चाई को अनदेखा करता है। इसी बात को एक त्रासदी के माध्यम से नाटक में दिखाया गया है। उपेंद्रनाथ अश्क का नाटक 'तूफान से पहले', ख्वाजा अहमद अब्बास कृत 'मैं कौन हूँ' , ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'दंगा' आदि भी सांप्रदायिक वैमनस्य पर केंद्रित नाटक हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में दलित वर्ग की पीड़ा का भी यथार्थ चित्रण किया है। इन नाटकों में मन्नू भंडारी के 'महाभोज' और स्वदेश दीपक के 'कोर्ट मार्शल' का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। 'महाभोज' उत्तर प्रदेश की एक सच्ची घटना पर आधारित है, जिसमें दलितों की एक बस्ती में उच्च वर्ग के लोगों ने आग लगा दी थी और दर्जनों लोग, जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, तड़प-तड़प कर मर गये थे। नाटक में उस घटना के विरोध में एक दलित युवक ने आवाज़ उठायी और फलस्वरूप उसकी लाश एक दिन गाँव से बाहर एक पुलिया पर पड़ी मिली। इन घटनाओं को लेकर शासक, विरोधी दल, अफसर और पत्रकार किस प्रकार अपना अपना उल्लू सीधा करते हैं, यही इस नाटक का कथ्य है।

स्वेश दीपक का 'कोर्ट मार्शल' भी दलित उत्पीड़न की कहानी है, जो सेना के परिवेश से जुड़ी है। इस नाटक से पहले फौज से संबंधित विषय को किसी नाटक में नहीं उठाया गया है। नाटक का विषय प्रयोग के धरातल पर एक नया मुहावरा है। यह नाटक निम्न वर्ग का उच्च वर्ग द्वारा हो रहे शोषण का यथार्थ चित्रण करते हुए, स्वाधीन भारत की उस सच्चाई का दर्शन कराता है जहाँ निम्नवर्गीयों के लिए समान अधिकार केवल संविधान के कागज़ी पन्नों तक सीमित है। जयदेव तनेजा के शब्दों में ''सदियों से तथाकथित 'छोटी जाति' पर 'ऊँची जाति' वालों द्वारा किये जानेवाले बहुस्तरीय अन्याय, अत्याचार, अपमान और शोषण के विरुद्ध सहनशीलता और अनुशासन के बांध को तोड़कर विद्रोह कर उठनेवाले सेना के एक मामूली जवान सवार रामचंदर के खिलाफ चलाए गए मुकदमे (कोर्ट मार्शल) की ऐसी दिलचस्प और उत्तेजक नाट्य कथा है, जो अंततः एक रूपक या मैटाफर का स्तर प्राप्त कर लेती है। देशकाल की सीमाओं को लांघकर यह नाटक सारे संसार में व्याप्त अंधी, भ्रष्ट और अन्यायी न्याय वस्था के

खिलाफ चल रही लगातार लडाई का प्रतीक बन जाता है।''[1] लाल के 'एक सत्य हरिश्चंद्र' (1976), राकेश के 'रामलीला' (1985) भीष्म साहनी के 'मुआवजे', जावेद अख्तर के 'दूर देश की कथा' आदि कई नाटकों में जातिगत संकीर्णता और सांप्रदायिकता जैसे ज्वलंत सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों को उठाया गया है।

**2.4.1.4 राजनीतिक चेतना के नाटकः** राजनीतिक चेतना की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर नाटक भारतीय राजनैतिक परिवेश की तमाम विसंगतियों, विकृतियों व भ्रष्ट आवरणों से आप्लावित है। स्वतंत्रता पूर्व हमारे राष्ट्रीय जीवन में राजनीति एक दर्शन थी, स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत वह स्वार्थ लिप्सा का एक घिनौना साधन मात्र बनकर रह गयी। वर्तमान युग राजनीति-प्रधान है, जिसकी भ्रष्ट और विषैली नीतियाँ हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन पर भी छा गयी हैं। भारतेंदु और प्रसाद युग में सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं को उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत करना ही उद्देश्य रहता था, किंतु आज के नाटकों में जीवन के किसी क्षेत्र से कोई भी प्रसंग उठाकर उसपर नाट्य रचना कर दी जाती है और समस्या ज्यों का त्यों दर्शकों को झकझोरने के लिए छोड़ दी जाती है।

इसका प्रारंभ हमें विपिन अग्रवाल के 'तीन अपाहिज' (1963) से मिलता है, जहाँ युग की विसंगति को विसंगत कथ्य व संवादों से व्यक्त किया गया है। ज्ञानदेव अग्निहोत्री कृत 'शुतुरमुर्ग' (1968) सत्ता के लालच और उसके चालाक एवं खोखले चरित्र की विडंबना पर आधारित प्रयोगवादी नाटक है। प्रस्तुत नाटक में आज की राजनीति के उसी स्वरूप पर व्यंग्य किया गया है जहाँ बड़ी-बड़ी योजनाएँ, आश्वासन और झूठी उम्मीदें, निर्माण के दिखावे हैं और जनता की ज़िंदगी के साथ खिलवाड़ है। 'शुतुरमुर्ग' वस्तुतः मनुष्य की उस प्रवृत्ति का प्रतीक है, जिसके कारण मनुष्य सदैव कटु सत्य और यथार्थ का सामना करने की अपेक्षा पलायन की वृत्ति को अपनाता है और इसकी परिणति आत्मविनाश में होती है। मनुष्य की यह प्रवृत्ति ही शासन तंत्र की सहायक बन जाती है। नाटक का राजा इसी शुतुर दृष्टि से परिचित है। वह शुतुर-नीति को अपनाकर मंत्रियों से लेकर जन सामान्य तक को प्रचुर धन से खरीदकर सत्य को नकारने के लिए विवश कर देता है, जिससे उसका सिंहासन सुरक्षित रहे। चौबीस वर्षों की लंबी अवधि तक निरीह जनता का सुनहरे भविष्य की आशा में शोषण किया जाता रहा। शुतुरमुर्ग का निर्माण उन योजनाओं का प्रतीक है, जो वर्तमान सरकार जनता को हर चुनाव पर देती रही है, पर

[1]जयदेव तनेजा -हिंदी नाटकःआज कल, प्र.सं. 2000, पृ. 140

सिर्फ कागज़ी रूप में। संभवतः यह नाटक स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन के खोखलेपन और दिवालियेपन को व्यंग्यात्मक भंगिमा के साथ उसकी समग्रता में उभारता है।

सक्सेनाके 'बकरी',अब गरीबी हटाओ', भीष्म साहनी का नाटक 'मुआवज़े', कुसुम कुमार का'दिल्ली ऊँचा सुनती है', मुद्राराक्षस कृत 'डाकू', मणिमधुकर के 'बुलबुल सराय', 'रस गंधर्व', 'खेला पोलमपुर' और 'इकतारे की आँख', नरेंद्र मोहन कृत 'सींगधारी', 'नो मेन्स लैंड', रमेश उपाध्याय का 'भारत भाग्य विधाता', प्रताप सहगल का 'अन्वेषक', रामेश्वर प्रेम का 'कैंप', सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है', बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु' तथा गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' जैसे कई नाटक राजसत्ता की खोखली नीतियों तथा शाश्वत क्रूर चेहरे को अनावृत कर देते हैं। इसतरह स्वांतत्र्योत्तर हिंदी नाटक में राजनीतिक विसंगतियों को बड़े चुभते लहजे में बेनकाब किया गया है जो हमें आज के यथार्थ के भीतर की तह तक ले जाता है।

**2.4.1.5 अनेक कथ्यों की योजना :** रंगमंचीय सुविधा ने नाटकों के रचना-विधान में एक साथ कई कथ्यों के अभिव्यंजन के एक नये प्रयोग को जन्म दिया है जिसके कारण स्वातंत्र्योत्तर नाटक, कथ्य को कई स्तरों पर उद्घाटित करते हैं। नाट्य वस्तु का चयन और संयोजन अब इतना नया और प्रयोगशील हो उठा है कि एक ही नाटक अपनी अलग-अलग प्रस्तुतियों में अलग-अलग अर्थ ध्वनित करता है। आज का नाट्य प्रयोग वस्तुतः अर्थ की संभावनाओं का प्रयोग है। पारंपरिक नाटकों के कथ्य अर्थ की दृष्टि से इकहरे, एकार्थी तथा अभिधाश्रित होते थे। प्रसाद के नाटक भारतीय संस्कृति के गौरवमय अतीत की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए प्रख्यात हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक किसी एक समस्या को प्रस्तुत करते रहे हैं। वहाँ प्रदर्शन या नाट्यालोचन के धरातल पर एक से अधिक अर्थ का अन्वेषण सर्वथा कठिन था। परंतु आज के नाटकों में एक साथ अर्थ की परतों का निरूपण भी होता है और एकाधिक कथ्यों की योजना से रचना में आकर्षण और सौंदर्य भी बढ़ता है।

मणिमधुकर का 'बुलबुल सराय' एक धरातल पर व्यवस्था और शोषण का नाटक है, दूसरे धरातल पर आत्मा की तलाश का और तीसरे धरातल पर बंधन से मुक्ति के प्रयास का नाटक है। भीष्म साहनी का 'हानूश' एक स्तर पर एक कलाकार की दुर्दमनीय

सिसृच्छा का नाटक है, दूसरे स्तर पर धर्म और शासन के गठबंधन के विरुद्ध सामाजिक संघर्ष का नाटक है, तीसरे धरातल पर मध्ययुगीन सामंती परिवेश की मानवीय दशा का निरूपण है। शंकरशेष कृत 'अरे मायावी सरोवर' नाटक एक स्तर पर रोचक कथा है, दूसरे स्तर पर समकालीन परिवेश की विभिन्न विसंगतियों का उद्घाटन है, तीसरे स्तर पर देहांतर के अनुभवों का जीवंत दस्तावेज़ है। लाल का 'राम की लड़ाई', मणिमधुकर का 'रस गंधर्व', शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'लड़ाई', जगदीशचंद्र माथुर के 'कोणार्क' और 'पहला राजा', हमीदुल्ला का 'दरिन्दे', ब्रजमोहन शाह का 'त्रिशंकु', तथा सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है' आदि लगभग सभी प्रयोगशील नाटकों में एकाधिक कथ्यों का प्रयोग किया गया है।

**2.4.1.6 कथ्य को दृश्यत्व प्रदान करने का प्रयोग :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों का कथ्य संवादों के माध्यम से व्यक्त नहीं होता बल्कि दृश्य के रूप में संप्रेषित किया जाता है। अर्थात् नाटककार जो कुछ कहना चाहता है, उसके नाटक को देखकर दर्शक उस बात को स्वयं समझ जाएँ। कथ्य को शब्दों में कहने की ज़रूरत न पड़े। नाट्य विधान के द्वारा नाटककार जो कहना चाहता है, उसे दृश्य बनाना होता है। कथ्य का यही आंतरिक दृश्यत्व रंगमंच के रूप में उभरता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के 'बकरी' नाटक में बकरी को रसगायन और नृत्य, बंदूक और दानपेटी, चुनाव अभियान और गाँधी बाबा की बकरी के नाम पर मतदान आदि विभिन्न दृश्य अवयवों को एक लय में संगठित करते हुए ग्रामीण जीवन के वर्तमान को आज़ादी से जोड़कर उस प्रजातांत्रिक व्यंग्य को उभारता है जिसका संप्रेषण नाटककार करना चाहता है। गोविंद चातक के 'काला मुँह' नाटक का कालापन केशी के मृत, जले और काले पड़े शरीर में दृश्य बनकर प्रत्यक्ष होता है और ठेकेदार द्वारा ज़बरदस्ती पेड़ कटवाना, मृत गोबर का अंगूठा दिखाना आदि जैसे दृश्य भी कथ्य को प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देते हैं। इसीप्रकार रमेश बक्षी के नाटक 'तीसरा हाथी' में उपस्थित ज़ीना, पीकदान, आराम कुर्सी, अनुपस्थित पिता और उसके प्रभाव को पिताग्रस्त चरित्रों के दर्द को एक साथ उभरता है। मणिमधुकर के 'दुलारी बाई' नाटक के फटे-पुराने जूते वस्तुतः फटे-पुराने, अनुपयोगी, पारंपरिक रूढ़ विचारों और सिद्धांतों के प्रतीक हैं जो घटना-दुर्घटनावश बार-बार हमसे आकर जुड़ते रहते हैं जबकि इनमें समयानुसार परिवर्तन ज़रूरी है। लगभग सभी नये नाटक इस प्रयोग के उदाहरण हैं।

2.4.1.7. **पशु प्रतीकों का प्रयोग :** स्वातंत्र्योत्तर युग के नाटकों में कथ्य के स्तर पर एक महत्वपूर्ण प्रयोग पशु-पक्षी प्रतीकों के माध्यम से किया गया है। इसके द्वारा नाटकों में आज के मानव की हिंसक, क्रूर, नीच और बर्बर प्रवृत्तियों के प्रकाशन के साथ कथ्य में इस प्रवृत्ति का चित्रण किया गया है। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' के प्रकाशन के साथ कथ्य में यह प्रयोग विशेष रूप से प्रारंभ होता है। इसके पश्चात् मुद्राराक्षस के 'तिलचट्टा', 'तेंदुआ', सक्सेना का 'बकरी', रमेश बक्षी का 'तीसरा हाथी', शरद जोशी का 'एक था गधा', 'अंधों का हाथी', हमीदुल्ला का 'दरिंदे', गिरिराज किशोर का 'घास और घोड़ा', सुशील कुमार सिंह का 'नागपाश', आदि मौलिक हिंदी नाटकों में वन्य जीवन के इन प्रतीकात्मक शीर्षकों के माध्यम से मानव के चारित्रिक नैतिक पतन एवं मूल्यहीनता को अभिव्यक्त किया गया है।

2.4.1.8 **कथ्यहीनता :** स्वातंत्र्योत्तर युग में कथ्यहीनता को भी एक प्रयोग का रूप प्रदान किया गया है। पश्चिम के एब्सर्ड थियेटर से हिंदी का आधुनिक नाट्य लेखन प्रभावित हुआ है और कतिपय नाटककारों द्वारा कथ्यहीन और अर्थहीन असंगत नाट्य के प्रयोगशील उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें किसी सुदृढ़ कथानक का एकांत अभाव होता है। ऐसे नाटकों में या तो कथातत्व विश्रृंखल होते हैं या होते ही नहीं। नाटककार केवल एक स्थिति का चुनाव करता है और विभिन्न संकेतों के माध्यम से अपनी बात कहने की कोशिश करता है। पारंपरिक नाटकों में सुदृढ़ कथानक प्रायः अनिवार्य-सा होता है जबकि नये नाटकों में कथ्य के स्तर पर यह सर्वथा नया प्रयोग साबित होता है। विपिनकुमार अग्रवाल के 'तीन अपाहिज', 'लोटन', लक्ष्मीकांत वर्मा के 'रोशनी एक नदी है', सत्यव्रत सिन्हा के 'अमृतपुत्र', रामकुमार भ्रमर के 'विकल्प', लक्ष्मीनारायण लाल के 'सबरंग मोहभंग', मुद्राराक्षस के मरजीवा, तिलचट्टा, तेंदुआ, मणिमधुकर के 'रसगंधर्व' जैसे कई नाटकों में पश्चिम की असंगत नाट्य शैली के प्रयोग किए गए हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने कथ्य की दृष्टि से वर्तमान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और अनुभव को नाटक से जोड़ने, परंपराओं के औचित्य पर प्रश्नचिह्न लगाने और मनुष्य के विसंगत परिवेश को मुखरित करने के विविध प्रयोग किये हैं। कथानक में इन नवीन क्षेत्रों का परिवेश और कथ्य के स्तर पर किए गए नए-नए कौशल एक सार्थक प्रयोग ही कहलाएँगे। नरनारायण राय के शब्दों में - ''हिंदी नाटक आज जिस प्रकार आम आदमी की विभिन्न जीवन स्थितियों का आकलन

प्रस्तुत कर रहा है - कथ्य की नवीनता कि दृष्टि से ये सभी नाटक कहीं न कहीं प्रयोगशील ठहराए जाएँगे।'' [1]

## 2.4.2 शिल्पगत प्रयोग

शिल्प वह माध्यम है जिससे रचनाकार की रचनात्मकता एक रूप-रंग पकड़ पाती है। अर्थात् रचनाकार की सार्थक अभिव्यक्ति को कलात्मक मोड़ देना ही शिल्प है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक में शिल्पपक्ष पर विशेष बल दिया जाता है क्योंकि यह दृश्य काव्य है। शिल्पविधान के द्वारा ही कोई नाटककार अपने नाटक को रंगमंच और समय के अनुरूप बनाकर पाठकों तथा दर्शकों पर अपेक्षित प्रभाव डालने के योग्य बना पाता है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों ने कथ्य की नयी परतों का संस्पर्श ही नहीं किया है अपितु शिल्पगत क्षेत्र में भी प्रयोग के नए आयाम प्रस्तुत किए हैं। इन नाटकों का शिल्प जहाँ एक ओर अपने पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में एकदम भिन्न, बहुआयामी, प्रयोगशील और दृश्यत्व गुण प्रधान हैं, वहीं दूसरी ओर इसपर पाश्चात्य नाट्य शिल्प और अखिल भारतीय स्तर पर फैले रंग आंदोलन का भी पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। वास्तव में नाटक का रंगमंचीय क्षमता से भरा होना ही उसके शिल्पगत प्रयोग की नवीन संभावनाएँ खोल देता है। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ज्यों-ज्यों रंगमंच की क्षमता का विकास होता गया शैली और शिल्प के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग उपस्थित होते गए।

हिंदी में प्रचलित 'शिल्प' शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के 'टेकनीक' शब्द के पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। शिल्पविधि का शाब्दिक अर्थ है, किसी चीज़ के बनाने या रचने का ढ़ंग अथवा तरीका। 'बृहत् हिंदी कोश' में शिल्प का अर्थ है - ''वह उपादान जिसके द्वारा रचनाकार अपनी भावनाओं को किसी विशेष ढ़ंग से व्यक्त कर पाता है।'' [2]इसतरह किसी वस्तु के रचने की जो-जो विधियाँ अथवा प्रक्रियाएँ हैं, उनके समुच्चय को ही शिल्पविधि के नाम से पुकारा जाता है। इस रूप में शिल्पविधि से तात्पर्य कृति की रचना पद्धति में है। डॉ. शांति मलिक शिल्प को अस्पष्ट आत्मानुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति मानते हुए लिखती है, ''शिल्पविधि शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के 'टेकनीक' शब्द के पर्यायवाची के रूप में होता है। टेकनीक का सरल एवं स्पष्ट अर्थ है - कला के विभिन्न उपकरणों की योजना का वह विधान, वह प्रक्रिया, वह ढ़ंग व वह तरीका जिसके माध्यम से नाटककार अपनी अमूर्त अनुभूति व विचारधारा को नाटक के रूप में सर्वथा स्पष्ट,

---

[1]डॉ.नरनारायण राय - नटरंग विवेक , प्र.सं. 1981, पृ. 16

[2]कालिका प्रसाद (सं) - बृहत् हिंदी कोश, सप्तम् परिवर्धित संस्करण - 1992, पृ. 1130

मूर्त, व्यवस्थित एवं निश्चित रूप प्रदान करता है अर्थात् अस्पष्ट आत्मानुभूति को स्पष्ट, सुंदर एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति देकर अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल होता है।'' [1]इसतरह कहा जा सकता है कि शिल्प अभिव्यक्ति का कौशल है। कथ्य की दृश्याभिव्यक्ति के लिए नाटककार जिसप्रकार का विधान करता है या अपनी बात को अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप से संप्रेषित करने के लिए जो विधियाँ अपनायी जाती हैं, वही टेकनीक या शिल्प विधान है।

स्वातंत्र्योत्तर काल के हिंदी नाटकों के शिल्प विधान का लक्ष्य कथ्य को सशक्तता के साथ अभिव्यंजित करना, नाटकीयता को तीव्रता से उभारना तथा कलात्मक कुशलता प्रदर्शित करना रहा है। इसके लिए स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार प्राचीन भारतीय नाट्य परंपरा और पाश्चात्य नाट्य चिंतन से भी नाट्य तत्त्वों को ग्रहण कर अपने संप्रेष्य को सूक्ष्म अभिव्यक्ति दे रहे हैं। इस प्रवृत्ति को अपनाने के बाद नाटकों में कई सुंदर प्रयोग किए जाने लगे हैं। डॉ. माधव सोनटक्के के अनुसार - ''समकालीन नाट्य साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह रही कि वह मंच से जुड़कर रंग-चेतना की नयी-नयी संभावनाओं को तलाशता रहा है। इस तलाश में वह एक ओर पाश्चात्य नाट्य साहित्य तथा संस्कृत नाट्य साहित्य की शिल्प-शैलियों की उपलब्धियों को देख-परख अपना रहा है, तो दूसरी ओर लोकधर्मी नाट्य-शिल्प शैली की संभावनाओं को तलाशता हुआ अपनी मिट्टीगत रंग-तत्वों को अपने में संजोता है। स्थूल रूप में समकालीन नाट्य-साहित्य में एब्सर्ड, प्रतीक तथा लोकधर्मी नाट्य-शिल्प की बहुलता देखी जाती है।'' [2]इसप्रकार हिंदी की प्रयोगधर्मी नाट्य परंपरा हिंदी नाटक को शिल्प के स्तर पर नये आयामों से समृद्ध करने की एक सार्थक तलाश है। बंगला, मराठी और कन्नड़ के प्रयोगशील नाटकों से अनेक शिल्पगत प्रयोगतत्त्वों को प्राप्त करता हुआ आज का हिंदी नाटक समसामयिक युग जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रतिबिंबित करने की क्षमता से पूर्ण है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों के कतिपय शिल्पगत प्रयोग निम्न तत्त्वों से रचित है :

**2.4.2.1 प्रतीकात्मकता :** प्रतीक को अभिव्यक्ति के एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रतीक के महत्व पर प्रकाश डालते हुए श्रीपति शर्मा ने लिखा है - ''प्रतीकों के द्वारा थोडे से शब्दों में जो भाव व्यक्त हो सकता है, वह व्याख्यात्मक शैली द्वारा कदापि

---

[1]डॉ. शांति मलिक - हिंदी नाटकों की शिल्पविधि का विकास - प्र.सं. 1971, पृ. 4

[2]डॉ. माधव सोनटक्के - समकालीन नाट्य-विवेचन , प्र.सं.2008, पृ. 12

नहीं हो सकता। झंडा सारे राष्ट्र की पूज्य भावनाओं का प्रतीक है, जिसके एक आह्वान पर राष्ट्र के करोड़ों नर-नारी प्राणों की होली खेलने को तैयार हो जाते हैं।''[1] वस्तुतः साहित्य में प्रतीक विधान का महत्त्व अनुभूति को व्यवस्थित करके भाव प्रसार में सहयोग देने के कारण है। आज मानव की संवेदनाएँ, विचार और जीवन दशा इतनी जटिल और विकृत हो गयी है कि वह अभिव्यक्ति के प्रचलित सरल माध्यमों से अपनी बात ठीक-ठीक संप्रेषित नहीं कर पाता। इसलिए अपनी रूक्ष जीवनदृष्टि, कटुता, संत्रास, विघटन और मूल्यहीनता को सही रूप और भाषा देने में वह अनायास ही प्रतीकों का आश्रय ग्रहण कर लेता है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अपनी संवेद्य बात को गहरी व्यंजकता और प्रभावशाली ढ़ंग से कहने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है।

प्रतीकों के उपयोग से जहाँ नाटकीय प्रभाव सघन हो जाता है वहीं नाटककार कथ्यगत उद्देश्य में भी सफल हो जाता है। कहीं संपूर्ण कथा या सभी पात्रों को प्रतीक रूप में उपस्थित किया गया है (उदा : पहला राजा, लहरों के राजहंस, अंधायुग आदि) तो फिर कहीं केवल नाटकीय शीर्षक, कुछ पात्र, स्थल, घटनाएँ तथा दृश्य विधान आदि की आंशिक रूप में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की गई है। (उदाः आधे-अधूरे, मिस्टर अभिमन्यु, त्रिशंकु, द्रौपदी, एक और द्रोणाचार्य आदि)। प्रतीकों के स्वरूप के आधार पर प्रतीकात्मक नाटकों की दो कोटियाँ निर्धारित की गयी हैं - (1) ऐतिहासिक-पौराणिक प्रतीक नाटक (यथा - आषाढ़ का एक दिन, कोणार्क, एक सत्य हरिश्चंद्र आदि) (2) यथार्थवादी शैली के प्रतीक नाटक (जैसे - अंधा कुआँ, मादाकैक्टस, बकरी, शुतुरमुर्ग आदि)।

प्रतीकात्मक नाटकों में कथावस्तु प्रतीकात्मक नहीं होता अपितु प्रतीकात्मक पात्र, घटनाएँ और दृश्य संयुक्त रूप से कथावस्तु को प्रतीकार्थता प्रदान करते हैं। वर्तमान युग की जटिलता को पकड़ने के लिए साहित्य ने प्रतीकों का अधिकाधिक आश्रय लिया है।

**2.4.2.2 लोक-नाट्य शिल्प :** लोकनाट्यों के शिल्पगत लचीलेपन, सादगी, उसकी जीवंतता तथा मिट्टी से उसके जुड़ाव ने नाटककार को उसकी तरफ आकर्षित किया है। हमारे देश में प्राचीन समय से ही लोक नाटकों की एक लंबी परंपरा विद्यमान रही है। उत्तर एवं मध्य भारत के हिंदी भाषी प्रदेश में रास-लीला, रामलीला, माच, नाचा, ख्याल, नौटंकी आदि लोकनाट्य प्रचलित हैं। संगीत और नृत्य लोकनाट्य शैली के अनिवार्य अंग

[1]डॉ. श्रीपति शर्मा - हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव , प्र.सं. 1961 , पृ. 222

हैं। हिंदी के प्रयोगशील नाटक और रंगमंच ने भी लोक जीवन में व्याप्त एवं प्रचलित इन लोक शैलियों और रूढ़ियों को स्वीकार किया। भारतेंदु के नाटक इसके प्रमाण हैं। किंतु भारतेंदु के बाद एक लंबे समय तक हिंदी नाटक लोक नाट्य से दूर ही रहा। इसके पश्चात् स्वातंत्र्योत्तर युग में ब्रेष्ट जैसे पश्चिमी रंगकर्मियों के प्रभाव से प्रयोगधर्मी नाटककारों का ध्यान लोक नाट्य परंपराओं की ओर गया।

समकालीन जीवन से संबंधित विषयों पर लोकनाट्य शैली में लिखते हुए स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अपने नाटकों में यथार्थ और परंपरा का बखूबी समन्वय किया है। 'वीरगति' (असगर वजाहत), और 'जो राम रचि राखा' (मृणाल पांडे) इन दोनों ही नाटकों में राजस्थान की एक ही खोजी कथा का आश्रय लिया गया है। मणिमधुकर का 'खेला पोलमपुर' एक रूसी लोक कथा पर आधारित नाटक है। हमीदुल्ला का 'उत्तर उर्वशी' लोकनाट्य शैली पर मानवीय इच्छाओं, स्वप्नों और जीवनी शक्ति के सनातन संघर्ष को आधुनिक एवं पौराणिक धरातल पर बड़े कौशल से जोड़ता और उनकी सनातनता सिद्ध करता है। रामकुमार भ्रमर का 'तमाशा', तमाशा लोक नाट्य के तत्वों और तमाशा करनेवाले कलाकारों के जीवन को लेकर लिखा गया नाटक है। डॉ. सरयू प्रसाद मिश्र का नाटक 'नारद मोह' रामलीला शैली का अभिनव प्रयोग है।

**2.4.2.3 असंगत नाट्यशिल्प :** पश्चिम के एब्सर्ड थिएटर से प्रभावित होकर हिंदी में अनेक नाटक इस शैली में लिखे गए हैं। यद्यपि इसके बीज सन् 1930-35 के मध्य भुवनेश्वर प्रसाद की एकांकी रचनाओं में देखे गए हैं फिर भी पूर्णांगी असंगत नाट्य शैली की रचनाएँ वस्तुतः 1960 ई. के बाद ही सामने आई हैं। असंगत नाटक मुख्य रूप से मनुष्य के भीतरी यथार्थ को, कुंठा, निराशा, ऊब और विसंगतियों को व्यक्त करने के कारण आक्रामकता, अस्वाभाविकता, क्रूरता एवं बीभत्सता का भाव भी पैदा करता है। जीवन की विसंगतियों के चित्रण के द्वारा वह दर्शक को उनके बारे में सोचने के लिए विवश करता है। डॉ.माधव सोनटक्के ने असंगत नाट्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है- ''एब्सर्ड एवं परंपरागत नाटक के मुहावरे में मूलभूत अंतर यह है कि जहाँ परंपरागत नाटक बाह्य विश्व का वस्तुनिष्ठ चित्रण करने का प्रयत्न करता है, वहीं एब्सर्ड नाटक मनोदशा के रूप को मंच पर पेश करने की कोशिश करता है। अतएव परंपरागत

नाटक कथा कहता है, एब्सर्ड नाटक रूप का अथवा बिंबों का एक-एक पैटर्न विकसित करता है।"[1]

भाषा एवं संवाद का बंधन इन नाटककारों को मान्य नहीं है। उनके अनुसार भाषा ऐसी होनी चाहिए जो जीवन यथार्थ को उसी रूप में प्रस्तुत कर सके। इन नाटकों की भाषा एवं संवाद योजना ऊटपटांग एवं अतुकांत तथा कभी-कभी अश्लील एवं अर्थहीन होती है। इसलिए असंगत नाटककार जो कहता है वह भाषिक चेतना एवं संवादों के माध्यम से न कहकर रंगमंच के माध्यम से ही कहने की स्थिति में अधिक होता है।

वर्तमान युग की विसंगति दिखाने के लिए नाटक के बने बनाए शिल्प को त्यागकर पश्चिमी नाट्य साहित्य के असंगत शिल्प को अपनानेवाली रचनाओं में 'तीन अपाहिज', 'लोटन' (विपिन कुमार अग्रवाल), 'रोशनी एक नदी है' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'अमृत पुत्र' (सत्यव्रत सिन्हा), 'मरजीवा', 'तिलचट्टा' (मुद्राराक्षस), 'कैंप' (रामेश्वर प्रेम), 'शह ये मात' (ब्रजमोहन शाह) आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त अनेक नाटककार ऐसे भी हैं जिनके कई-कई नाटकों में असंगत नाट्य शैली का मिश्रण अन्य शैलियों के साथ किया गया है। मणिमधुकर के नाटक 'रसगंधर्व' और 'बुलबुल सराय', लक्ष्मीनारायण लाल के 'अब्दुल्ला दीवना' और 'व्यक्तिगत', गिरिराज किशोर के 'चेहरे चेहरे किसके चेहरे', रामकुमार भ्रमर के 'विकल्प' और ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'अनुष्ठान' जैसे कई नाटक इसके जीवंत उदाहरण हैं।

**2.4.2.4 काव्य-नाट्य शिल्प :** काव्य और नाटक या नाट्य और काव्य में पारस्परिक संघात से जिन नाट्यरूपों का विकास हुआ है, आधुनिक नाट्यालोचकों ने उन्हें गीति नाट्य, पद्यनाटक, एवं काव्य नाटक आदि संज्ञाओं से अभिहित किया है। डॉ. सिद्धनाथ कुमार की मान्यता है कि, "काव्यत्व और नाटकत्व इसमें ऐसे दृश्य की योजना कर देते हैं कि काव्यत्व के कारण मानव जीवन का राग-तत्व-भावनाएँ और अनुभूतियाँ अपनी तीव्र और वेगवती धारा में पाठक को बहा ले जाती हैं तथा नाटक-तत्व भी काव्य-नाटक के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योग देता है।" [2] स्वातंत्र्योत्तर काल काव्य नाटक का प्रौढ़ काल ही माना जाएगा। धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' (1955) को इस परंपरा का बीज नाटक स्वीकार किया गया है। इसके पूर्व जो भी काव्य नाटक हिंदी में लिखे गए

---

[1]डॉ. माधव सोनटक्के - समकालीन नाट्य-विवेचन , प्र.सं.2008, पृ. 13

[2]डॉ. सिद्धनाथ कुमार - सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक , प्र.सं. 1954 , पृ. 7-8

(करुणालय 1913 से) वे एकांगी थे तथा भावप्रधान और काव्य पक्ष की प्रबलता के कारण काव्य-भर रह गए थे। उनमें नाटकीयता के तत्त्व कम ही थे। इसलिए ये काव्य नाटक के रूप में लिखे जाकर भी रंगमंचीय नहीं बन पाए। काव्यत्व और दृश्यत्व के संतुलन के निर्वाह के साथ-साथ अन्य नये प्रयोग भी सर्वप्रथम 'अंधायुग' में ही किए गये। 'अंधायुग' के आविर्भाव के पूर्व के काव्य नाटक मुख्यतः ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथा-प्रसंगों पर आधारित एकायामी काव्य नाटक रहे। अंधायुग से जिस प्रयोगशील रंगमंचीय काव्य नाटकों की परंपरा प्रारंभ हुई उस परंपरा में आगे चलकर 'सूखा सरोवर' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता), 'एक कंठ विष पायी' (दुष्यंत कुमार), 'उत्तर प्रियदर्शी' (अज्ञेय), 'अग्निलीक' (भारतभूषण अग्रवाल), 'काठमहल' (प्रभातकुमार भट्टाचार्य), 'एक प्रश्न मृत्यु' (विनय) तथा 'खंड-खंड अग्नि' (दिविक रमेश) जैसे काव्यनाटक लिखे गए।

**2.4.2.5 व्यंग्य:** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों ने शिल्प के स्तर पर विविध भंगिमाओं को अपनाया है। इस युग के नाटककार समसामयिक परिवेश और युगबोध के प्रति अति संवेदनशील रहे हैं। ''मानव के निरंतर अमानव में बदलने एवं विसंस्कृतीकरण के नये दमघोंटू परिवेश ने अनेक नाटककारों को गहरे प्रभावित किया। इस समस्त परिवेश से उपजी तीखी संवेदना ने नाटक के जहाँ कथ्य को बदला, वहाँ उसकी अभिव्यक्ति भंगिमाएँ भी तीव्र रूप से सामने आयीं। तत्फलतः नाटकों में व्यंग्य का समावेश होने लगा। व्यंग्य ही एक ऐसा औज़ार है जो उन स्थितियों को छील सकने में समर्थ हो सकता है। अतः विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों, औद्योगिक सभ्यता के अभिशापों, आर्थिक वैषम्य के दुष्परिणामों, युवापीढ़ी की दिग्भ्रांति और जीवन के मूल्य विघटन को नाटककारों ने अपना कथ्य बनाकर व्यंग्य के माध्यम से उस पर प्रहार का रुख अपनाया।'' [1]

बृजमोहन शाह का 'त्रिशंकु' तेज एवं कटु व्यंग्य नाटक है। मंच के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग, पूँजीपति, अफसर, पुलिस, मध्यवर्ग, निम्नवर्ग की स्थितियों का पर्दाफाश करता है। नेताओं की मात्र भाषणबाजी एवं दल बदल पर एक व्यंग्य दृष्टव्य है-

''लीडर : हम आज़ादी के लिए फाँसी चढ़े, हमने सीनों पर गोलियाँ खाई, हम....

थियेटरवाला : आज़ादी के बाद क्या किया?

---

[1] डॉ. बनवीर प्रसाद शर्मा - आधुनिक हिंदी नाटक , प्र.सं. 2001, पृ. 177

लीडर : बड़े-बड़े मन्सूबे बनाये।

थियेटरवाला : उनको पूरा करने के लिए क्या किया?

लीडर : लोकसभा, राज्यसभा, विधान सभा में बहस करते हैं।

थियेटरवाला : दल बदल के चक्कर में पडे रहते हैं।

लीडर : सिर्फ देश की खुशहाली के लिए।

थियेटरवाला : दल बदल से देश की खुशहाली?

लीडर : अरे भाई, यही तो राजनीति के पैंतरे हैं, जब-जब हम देखते हैं इस दल सेदेश का भला नहीं होगा तो हम झट से दल-बदलकर दूसरे दल में चलेजाते हैं।'' [1]

सुशील कुमार सिंह का नाटक 'सिंहासन खाली है' भी एक सशक्त व्यंग्य नाटक है। संपूर्ण नाटक एक सिंहासन के प्रतीक यानी राजनीतिक स्थितियों, नेताओं के कुचक्रों एवं उनके पर्दाफाश से जुड़ा है। भारतीय राजनीतिक स्थितियों के विघटन से जन्मी विश्वासहीनता और दिशामूढ़ता व्यंग्य के माध्यम से आकार ग्रहण करती है। 'शुतुरमुर्ग' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री), 'बकरी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ', 'अंधों का हाथी' (शरद जोशी), 'काला राजा' (ललित मोहन थपल्याल), 'चिंदी मास्टर' (राजेश जैन), 'दिल्ली ऊँचा सुनती है' (कुसुम कुमार), 'दरिन्दे' (हमीदुल्ला), 'एक और राजा' (सुरेंद्र कुमार तिवारी) आदि कई नाटक सामयिक समस्याओं को व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त करते हैं।

**2.4.2.6 दोहरे कथा प्रयोग :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों के शिल्प का एक पक्ष, दोहरे कथा प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है। पूर्व-स्वातंत्र्य हिंदी नाटकों का रचना शिल्प सदैव इकहरा रहा है। किंतु आज के आदमी की मुखौटे वाली ज़िन्दगी अर्थात् उसकी दुहरी ज़िंदगी की शिल्पगत अभिव्यक्ति नाट्य रचना-शिल्प में दुहरे कथानक के उपयोग द्वारा की गयी दिखती हैं। 'ठहरी हुई ज़िन्दगी' (लक्ष्मीकांत वर्मा), 'एक सत्य हरिश्चंद्र', 'राम की लड़ाई', 'पंच पुरुष' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'रावण लीला' (कुसुम कुमार), 'नारद मोह' (सरयूप्रसाद मिश्र), 'एक और द्रोणाचार्य' (शंकर शेष), 'दीवारें' (सुरेंद्र तिवारी), 'आज नहीं कल' (गंगाप्रसाद विमल) आदि नाटक इसप्रकार के शिल्पगत प्रयोग है। इस शिल्पगत प्रयोग पर प्रकाश डालते हुए नरनारायण राय ने लिखा है - ''अब तक जो नाटक होते थे, उसमें अभिनेता-

[1] बृजमोहन शाह - त्रिशंकु , प्र.सं. 1973 , पृ. 26-27

अभिनेत्री अभिनेय चरित्रों की भूमिका ओढ़ लेते थे, जो वे होते थे भूमिका उससे कुछ और निभाते थे। आज वही सब हम रोज़मर्रे की ज़िंदगी में निभाते चलते हैं। नाटक पहले हमारे बाहर था आज हमारी ज़िंदगी में शामिल हो गया है। नाटक है होने से बनने की दिशा। अभिनेता जो होता नहीं, वह बने होने का अभिनय करता है। आज हम सभी वही तो करते हैं। चरित्र का यह दुहरापन पहले के इकहरे शिल्प के नाटक में कभी भी व्यक्त नहीं हो सकता था। आज के चरित्र हैं 'एक सत्य हरिश्चंद्र' के चरित्र जो लौका भी है, राजा हरिश्चंद्र भी।आज का चरित्र है 'एक और द्रोणाचार्य' का चरित्र जो द्रोणाचार्य और अरविंद की ज़िंदगी एक धरातल पर जीता है और कहीं फर्क महसूस नहीं करता, 'अरे मायावी सरोवर' के राजा की तरह जो एक साथ स्त्री और पुरुष होने के दुहरे अनुभव और एहसास में जीता है।'' [1]

दोहरे कथा-प्रयोग दो रूपों में नाटककारों द्वारा व्यवहृत हुए हैं। एक तो नाटकों के भीतर नाटक की योजना, दूसरे नाटक में दो कथाओं का समानांतर बिंब, प्रतिबिंब भाव से प्रयोग। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'रक्त कमल' में भारत माता का नाटक, 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में राजा हरिश्चंद्र की नौटंकी, 'चतुर्भुज राक्षस' में कठघोड़वा का नाच, कुसुम कुमार के 'रावणलीला' में रामलीला के दृश्य आदि ऐसे ही प्रयोग है जिनमें नाटक के भीतर एक और नाटक की योजना की गयी है। सुरेंद्र तिवारी के नाटक 'दीवारें' में एक नाटक निर्देशक का और एक नाटक नायक का साथ-साथ चलता है। गिरिराज किशोर के 'घास और घोड़ा' में जज साहब के जीवन की कथा और उनकी अदालत में चल रहे एक गरीब ग्रामीण की कथा बदलते दृश्यों के समानांतर गति से चलती है। शंकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' में द्रोणाचार्य और प्रो. अरविंद की कथा समांतर भाव से चलता है और अपने-अपने रूपबंध में स्वतंत्र होकर भी बिंब-प्रतिबिंब भाव से एक दूसरे के अर्थ की परतें खोलता है। इसप्रकार दुहरे शिल्प का रचना विधान कहीं गहरे प्रयोग भी है और इससे नाटक की अभिव्यंजना शक्ति भी दुहरी हो गई है।

**2.4.2.7 पारंपरिक शिल्प विधान का खंडन :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों को विरासत में जो परंपरा मिली थी, वह शास्त्रीय थी जिसके अनुसार एक नाटक को संधियों, अर्थ-प्रकृतियों और अंक, दृश्य की योजना का अनुपालन करना था, युद्ध, प्रेम, मृत्यु जैसे वर्जित दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं किए जाते थे और विशिष्ट गुण संपन्न तथा धीरोदात्त नायक और नायिका का चयन किया जाना था। किंतु स्वातंत्र्योत्तर युग के प्रयोगशील नाटकों में शास्त्रीय परंपरा का खुले तौर पर उल्लंघन करके अंक-दृश्य योजना का तिरस्कार किया

[1]नरनारायण राय - नाट्य विमर्श, प्र.सं. 1984 , पृ. 12

गया, साधारण से साधारण व्यक्ति को नायक-नायिका के रूप में प्रतिष्ठित किया गया जिसमें पारंपरिक नाटक के नायक का एक भी लक्षण ढूँढ़ना मुश्किल काम है। वर्जित दृश्यों को भी रचना विधान में अंतर्युक्त किया और मंच पर भी प्रयुक्त किया गया, जैसे प्रेम के प्रसंग में स्त्री-पुरुष के उन्मुक्त काम संबंधों का खुला प्रदर्शन।

प्रयोग के क्रम में नाट्य शिल्प में अंक एवं दृश्य योजना की उपेक्षा की गई। आज ऐसे नाटकों की रचना हो रही है जिसमें पंचसंधि, दृश्य-अंक आदि का विभाजन नहीं, केवल एक घटना की तरह नाटक शुरू होता है और खत्म हो जाता है। 'दुलारी बाई' (मणिमधुकर), 'योर्स फेथफुली' (मुद्राराक्षस), 'कहें ईसा सुने मूसा' (विभुकुमार) जैसे नाटकों में किसी प्रकार का भी विभाजन नहीं है। निर्देशक चाहे तो कहीं भी मध्यांतर करे या न करे। ऐसे भी नाटक लिखे गए जिनमें केवल दृश्य संख्याएँ भर हैं। डॉ. लाल के 'व्यक्तिगत', 'सबरंग मोहभंग' और गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' इसके सशक्त उदाहरण हैं। दूसरी ओर 'तीसरा हाथी' (रमेशबक्षी), 'एक और अजनबी' (मृदुला गर्ग) 'ताश का घर' (यादवेंद्र शर्मा), 'एक और द्रोणाचार्य' (डॉ. शंकर शेष), 'बुलबुल सराय' (मणिमधुकर) में या तो केवल मध्यांतर का विधान है या मध्यांतर को ध्यान में रखते हुए नाटक को दो अंकों में विभाजित किया गया है। परंतु कुछ नाटकों में अंक और दृश्य की विविधता पूर्ण व्यवस्था है जैसे 'कालापहाड़' (सुदर्शन चोपड़ा) में कोई अंक नहीं है किंतु दृश्य 16 हैं। 'पंचपुरुष' (लाल) के तीसरे अंक में आठ दृश्य हैं तो चौथे अंक में कोई दृश्य नहीं है। 'संतोला' (मुद्राराक्षस) में केवल काल अंतराल दिया गया है। 'युगे-युगे क्रांति' (विष्णुप्रभाकर) और 'आधे-अधूरे' (मोहन राकेश) तो अंकों में विभक्त न होकर मात्र संवादों के बल पर धाराप्रवाह रूप से आगे बढ़ते चले जाते हैं। आजकल नाटककारों में एक ही अंक में बिना दृश्यों के समाप्त हो जानेवाले नाटकों के लेखक की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। नाटकों की इस दृश्य योजना में आया हुआ बदलाव वस्तुतः प्रकाश संयोजन की सुविधा उपलब्ध होने के कारण है क्योंकि प्रकाश व्यवस्था के अंतर्गत 'फेड इन, फेड आउट' पर्दा उठाने गिराने का स्थान ले चुके हैं।

**2.4.2.8 चरित्रसृष्टि के धरातल पर प्रयोग :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में चरित्र निरूपण के धरातल पर भी कई नये प्रयोग हुए हैं जो अवश्य नाटक की अपनी उपलब्धि है। नाटक में सर्वगुण संपन्न, धीरोदात्त नायकों का स्थान मानवीय गुण दोष युक्त चरित्रों ने ले लिया। नायक, नायिका, खलनायक, विदूषक जैसा वर्गीकरण सब गायब हो चुका है। आज के नाटकों में अदना से अदना आदमी भी नायक बन जाता है और केवल नायक ही नहीं नाटक का प्रत्येक पात्र एक अद्वितीय चरित्र बनकर प्रस्तुत होता है। क्योंकि इसके बिना

जन साधारण की वस्तुस्थिति और उनके जीवन-संघर्ष का चित्रण संभव ही नहीं है। 'कोणार्क' के धर्मपद, 'पहला राजा' का कवष, 'अंधायुग' के प्रहरी, 'एक कंठ विष पाई' का सर्वहत, 'मरजीवा' का आदर्श, 'कलंकी' का हेरूप, 'बकरी' का युवक, 'लड़ाई' का सत्यव्रत - ये सब आम आदमी के प्रतिनिधि हैं जिनके शब्दों में जनवादी चेतना मुखरित है। अतः जनसामान्य की संघर्ष भरी एवं पीड़ामय ज़िंदगी को मुखरित करने के लिए नाटकों में लघुमानव की प्रतिष्ठा करना, चरित्र निरूपण के धरातल पर अवश्य एक प्रयोगात्मक उपलब्धि है।

पारंपरिक नाटकों में चरित्रों की भूमिका इकहरी होती थी। लेकिन स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में एक ही चरित्र से अनेक प्रकार के काम लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए लाल के 'सगुन पंछी' के पंछी एक साथ कभी पहरेदार, कभी जेल की दीवार, कभी दूत आदि बनकर अनेक भूमिकाएँ निभाते हैं। इसीतरह स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने पात्रों के नामकरण में भी अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है। कहीं-कहीं पात्रों का नामकरण ही समाप्त कर दिया है तो कहीं व्यक्तिवाचक संज्ञा से जातिवाचक संज्ञाओं की ओर प्रयाण मिलता है। अब पात्र क, ख, ग, या स्त्री, एक स्त्री, दो पुरुष, एक पुरुष, दो लड़का-लड़की भी हो सकते हैं। वस्तुतः जिन स्थलों पर नाटककारों को ऐसा महसूस हुआ है कि वह जो कुछ दिखलाना चाहता है वह एक व्यक्ति की बात न होकर पूरे मानव समुदाय की बात है वैसे स्थलों पर उसने चरित्रों को नामहीन रखा है। आज आदमी के नाम का, व्यक्तिवाचक संज्ञा का कोई महत्व या अर्थ नहीं रह गया है क्योंकि व्यक्ति भीड़ में शामिल हो गया है। अर्थात् उसकी अपनी पहचान खो गयी है। जीवन के इसी भाव का चित्रण करने के लिए मणिमधुकर ने अपने 'रसगंधर्व' और 'बुलबुलसराय' जैसे नाटकों में पात्रों के नाम अ, ब, स, द रखे हैं ताकि वह लोगों की खोयी पहचान को व्यंजित करें और ऐसे लोगों की भीड़ (वर्ग) को भी प्रतिनिधित्व दे। 'तालों में बंद प्रजातंत्र' (विभुकुमार), 'सावधान पुरूरवा' (किरन चंद्रशर्मा), 'कहे ईसा सुने मूसा' (विभु कुमार), 'पाँचवाँ सवार' (बलराज पंडित), 'फीनिक्स' (स्वयं प्रकाश), 'चिंदी मास्टर' (राजेश जैन), 'असुरक्षित' (गिरीश रस्तोगी), 'विकल्प' (रामकुमार भ्रमर), 'अनुष्ठान' (ज्ञानदेव अग्निहोत्री), 'वामाचार' (रमेश बक्षी), 'व्यक्तिगत', 'सबरंग मोहभंग' (लक्ष्मीनारायण लाल) आदि अनेक नाटकों में इस प्रयोग की उपस्थिति एक परंपरा के रूप में देखी जा सकती है।

**2.4.2.9 मिश्र शिल्प :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में शिल्प का कोई नियमित मानदंड प्राप्त नहीं होता। यहाँ कथ्य को अपने अनुरूप स्वरूप धारण करने की स्वतंत्रता दी गयी है। यही कारण है कि इस कालावधि के नाटकों के शिल्प में एब्सर्ड, लोककथा, प्रतीक, यथार्थवाद, संस्कृत और प्राचीन लोक नाट्य शिल्प आदि का मिलाजुला प्रयोग दिखाई देता है। मिश्र शैली के प्रयोग की दृष्टि से लाल का 'एक सत्य हरिश्चंद्र' उल्लेखनीय है। इसमें परंपरा और आधुनिकता का अपूर्व समन्वय है। प्रस्तावना के अतिरिक्त सात दृश्यों में विभाजित इस नाटक का रूपबंध संस्कृत नाटकों का सा है। इसमें संगीत, नृत्य और गान का भी समावेश है। भाषा के स्तर पर भोजपुरी, संस्कृत, खड़ीबोली एवं लोकभाषा के साथ उर्दू, अंग्रेज़ी का यथावसर प्रयोग करके एक मिश्र शिल्प का प्रयोग नाटककार ने कियाहै, जिसमें शास्त्रीयता के साथ लोकनाट्य शैली के तत्व एकाकार हो उठे हैं। इस दृष्टि से 'रस गंधर्व' (मणिमधुकर), 'रोशनी एक नदी है' (लक्ष्मीकांत वर्मा), त्रिशंकु (बृजमोहन शाह) 'अब्दुल्ला दीवाना' (लाल) के नाट्यशिल्प लक्षणीय हैं। इन नाटकों का मिश्रित शिल्प आरोपित न लगकर कथानक की मांग लगता है।

**2.4.2.10 नाट्यभाषा :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक की भाषिक संरचना एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। नाटक एक ऐसी विधा है जिसका संबंध केवल शब्दों तक सीमित न रहकर क्रिया-व्यापार भी उसका महत्वपूर्ण हिस्सा बन जाता है। नाट्यभाषा पर प्रकाश डालते हुए गोविंद चातक ने लिखा है "भाषा ही वह तत्त्व है जो नाटक को रूपायित करता है। उसी के माध्यम से नाटक का ढाँचा खड़ा किया जाता है और उस ढ़ाँचे के बीच घटना क्रम के विकास के साथ कथावस्तु का उद्घाटन, देश-काल का निर्धारण और चरित्रों की स्थापना होती है। क्रिया-व्यापार की प्रक्रिया, चरित्रों के पारस्परिक संबंध और उनकी भावनाओं तथा प्रतिक्रियाओं का अहसास भी उस भाषिक संरचना से ही होता है जो नाट्यपाठ का निर्माण करती है। नाटककार उससे एक ओर उसकी ऊपरी संरचना करता है, दूसरी ओर वह आंतरिक संरचना जो भावों, विचारों और मनःस्थितियों को द्योतित करती है। इसप्रकार भाषा नाटक के ढांचे का अहसास कराती है; पर साथ ही उन युक्तियों का भी जो कथानक रूढ़ि, नाटकीय विडंबना, बिंब, प्रतीक, नाट्य-ग्रंथियों आदि को भी निर्मित करती हैं। नाटक के विभिन्न तत्वों का ग्रंथन भी एक तरह से भाषा की देन है।"[1] नाट्य भाषा मात्र लिखी गई या बोली गई भाषा नहीं है बल्कि की गयी भाषा है। अर्थात् नाटक में

[1] गोविंद चातक - नाटक की साहित्यिक संरचना, प्र.सं. 1994, पृ.111

नाटककार द्वारा लिखे शब्दों के द्वारा ही नहीं बल्कि उन्हें उच्चरित करनेवाले अभिनेता, निर्देशकीय दृष्टि, प्रकाश व्यवस्था, संगीत योजना तथा मंच-सज्जा के द्वारा भी नाटक की भाव-वस्तु तथा नाटककार के मंतव्य को दर्शक तक संप्रेषित किया जाता है।

भाषा की दृष्टि से पूर्ववर्ती नाटकों का युग जड़ता और अवरुद्धता से भरपूर था। भारतेंदु को छोड़कर उस समय के लगभग सभी नाटककारों ने रंगमंच के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए ऐसी भाषा का सृजन किया था जो मात्र साहित्यिक शोभा से अद्वितीय थी। ''नए नाटककारों ने इस तथ्य को समझा कि पूर्ववर्ती नाटकों में जिस तरह की शुष्क, वादविवादपूर्ण जनजीवन से दूर पुस्तकीय भाषा का प्रयोग हो रहा था उस भाषा में समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ने की शक्ति नहीं के बराबर थी। तो नए नाटककार भाषा को जीवन की स्थितियों के रू-ब-रू रखकर इसमें अर्थ की नई छवियों की तलाश करने लगे। पूर्ववर्ती भाषा जो एक आयामी थी बहुआयामी हो गई। हिंदी नाटक के लिए विशेष सौभाग्य की बात है कि नए नाटककारों की भाषा की भंगिमाएँ इतनी बदल चुकी हैं कि पाठकों और दर्शकों को बहा ले जाती है।'' [1]

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों की भाषा अतिशय काव्यमयी, अलंकरण प्रधान या भावुकतापूर्ण नहीं है अपितु जीवन की तीखी अनुभूतियों को मूर्त करनेवाली आज की रोजमर्रा की भाषा है। आज के नाटकों के पात्र आम आदमी हैं जो अंधा, अपाहिज, आवारा और चोर भी हो सकता है। इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी पात्रानुकूल ही है। कहीं यह हरकत की भाषा है तो कहीं शारीरिक क्रिया से उत्पन्न भाषा है। भाषा को प्रयोग के स्तर पर एक सर्जनात्मक उपलब्धि के रूप में स्वीकार करने की शुरुआत सर्वप्रथम राकेश के नाटकों से होती है। ''यद्यपि उनसे पूर्व भुवनेश्वर अपने एकांकी संग्रह में हरकत की भाषा पर बल दे चुके थे, किंतु स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक में नाटकोचित भाषा का प्रयोग, शब्द की गहराई, हरकत की भाषा तथा मौन का शब्दातीत अर्थ राकेश के नाटकों के पश्चात् ही दिखाई देने लगता है।'' [2] स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में भाषा और संवादों के प्रयोगों के कई स्तर खुलते हैं। उदाहरण के लिए

''अंबिका : कैसी विचक्षणता
निक्षेप : विचक्षणता?
अंबिका : विचक्षणता ही तो है।

---

[1]डॉ. पी.ए. शमीम अलियार - समकालीन हिंदी नाटक : नई संवेदना , प्र.सं. 2008 , पृ. 58
[2]रीताकुमार - स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक : मोहन राकेश के विशेष संदर्भ में , प्र.सं. 1980 , पृ. 158

निक्षेप : इनमें विचक्षणता क्या है अंबिका!

अंबिका : राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदम्बा के मंदिर में साधनानिरत है। राज्य के प्रतिनिधि मंदिर में आकर कवि की अभ्यर्थना करते हैं। कवि धीरे-धीरे आँखें खोलता है। .....इतना बड़ा नाटक करना विचक्षणता नहीं है?''[1]

यहाँ 'विचक्षणता' शब्द के उच्चारण में अंबिका की सारी घृणा, आक्रोश, कालिदास के प्रति पूरा मनोभाव, अपनी संपूर्ण भाव-भंगिमा के साथ इस शब्द में मूर्त हो उठता है। एक शब्द की आवृत्ति के प्रयोग से अर्थ की सघन व्यंजना होती है।

राकेश के बाद भाषा की बहुमुखी तलाश में लगे हुए नाटककारों में लाल, सुरेंद्र वर्मा, मुद्राराक्षस, लक्ष्मीकांत वर्मा, शंकर शेष, सक्सेना आदि कई नाटककारों के नाम उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककार, नाटक की भाषा को कथ्यगत एवं शिल्पगत आवश्यकताओं के अनुसार नये आयाम और आस्वाद देने का प्रयास कर रहा है। नाट्य-भाषा को केवल 'पुस्तकीय भाषा' तक सीमित न रखकर उसे 'मंचीय भाषा' का रूप देते हुए हिंदी नाटककार ऐसी भाषा को पाने का प्रयास कर रहा है जो पात्र की तथा कथ्य की परिवेशगत आवश्यकता को भी पूरी करे, आम दर्शक की समझ में भी आए, और काव्यात्मकता, गहनता तथा संवेदनशीलता से भरपूर होकर साहित्यिक एवं कलात्मकता की कसौटी पर भी खरी उतरे।

स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में शिल्प संबंधी इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त ऐसी बहुत सारी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ भी देखी जा सकती हैं जिन्हें नाटककार अपने नाटकों में अपना रहे हैं। प्रयोगशीलता की इन कतिपय विशिष्ट प्रवृत्तियों को नाट्य समीक्षक नरनारायण राय निम्न बिंदुओं में बाँटकर प्रस्तुत करते हैं-[2]

**1. स्थिरीकरण की तकनीक के प्रयोग की प्रवृत्तिः** स्थिरीकरण की तकनीक से अभिप्राय है नाट्य प्रदर्शन के दौरान दृश्य विशेष में नाट्य निदेशक का संकेत पाकर नाटक में भाग ले रहे पात्र अचानक स्थिर या जड़ हो जाते हैं। 'इकतारे की आँख', 'उत्तर मृच्छकटिकम्' आदि नाटकों में इस तकनीक का उपयोग किया गया है।

---

[1]मोहन राकेश - आषाढ़ का एक दिन, संस्करण 2001 , पृ. 30-31

[2]नरनारायण राय - नया नाटक : उद्भव और विकास , प्र.सं. 2001, पृ. 252-254

**2. समानांतर दृश्यों की योजना की प्रवृत्ति** : इसमें मंच को एक से अधिक भागों में विभाजित करके एक साथ दो या तीन दृश्यों का विधान किया जाता है। इस तकनीक का उपयोग कर नाटककार अलग-अलग स्थानों में चल रहे कार्य व्यापार को मंच पर एक ही समय में उपस्थित कर देता है। 'गंगा माटी', 'समय संदर्भ में' दो समानांतर दृश्यों की योजना की गई थी तो 'प्रजा ही रहने दो' नाटक में समानांतर तीन दृश्य हैं।

**3. पूर्वदीप्ति की तकनीक के शिल्पगत प्रयोग की प्रवृत्ति** : इस शिल्पगत प्रयोग द्वारा वर्तमान दृश्य को अतीत के किसी दृश्य विधान के साथ उपस्थित कर जोड़ा जाता है। वस्तुतः इस प्रकार का प्रयोग वर्तमान दृश्य की व्याख्या या उसे अधिक संवेदनीय बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। 'व्यक्तिगत', 'एक और युद्ध', 'अग्निपुत्र', 'कथा एक कंस की', 'काठमहल' आदि नाटकों में इस शिल्पगत प्रयोग को देखा जा सकता है।

**4.अभिनटन शैली के प्रयोग की प्रवृत्ति :**अभिनटन शैली के अभिनय से अभिप्राय है कि मंच पर अभिनय करने वाले पात्र अपनी विभिन्न क्रियाओं द्वारा अप्रस्तुत को प्रस्तुत बनाने का विधान करते हैं। यहाँ जिन वस्तुओं का व्यवहार पात्र करते हैं वह मंच पर मौजूद नहीं होतीं परंतु अभिनय द्वारा उनके मौजूद होने का अहसास पात्रों द्वारा करवाया जाता है।'सबरंग मोहभंग', 'फन्दी', 'आवाज़' जैसे कई नये नाटकों में इस शैली का प्रयोग किया गया है।

**5. मुद्रा विशेष के प्रयोग की प्रवृत्ति** : नवीन नाटकों में यह शिल्प की विशिष्ट प्रवृत्ति है, इसमें पात्र अभिनय मुद्राओं द्वारा दर्शकों का ध्यान किसी भाव या विचार विशेष की ओर आकर्षित करते हैं।'अनुष्ठान', 'आज नहीं तो कल', एवं 'नरमेध' जैसे नाटकों में मुद्राओं के उपयोग किये गये हैं।

**6. मुखौटे के उपयोग की प्रवृत्ति** : मुखौटे का प्रयोग व्यक्तित्व को छुपाने के लिए, प्रतीकात्मकता को उभारने के लिए, मानवेतर चरित्रों के व्यक्तित्व को गढ़ने के लिए किया जाता है। 'सूर्यमुख', 'काठमहल', 'कथा एक कंस की', 'द्रौपदी', 'सगुन पंछी','नरसिंह कथा', 'दरिन्दे' आदि नाटकों में मुखौटे का प्रयोग किया गया है।

**7. फंतासी दृश्यों की योजना की प्रवृत्ति** : फंतासी शैली से प्रभावित होकर नाटकों में भी इस प्रवृत्ति का प्रयोग किया जा रहा है। 'मिस्टर अभिमन्यु', 'कर्फ्यू', 'रसगन्धर्व' आदि नाटकों में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

**8. विश्रृंखल दृश्यों की योजना की प्रवृत्ति** : इसमें नाटककार अनेक दृश्यों की परिकल्पना करता है किंतु दृश्य योजना किसी सुसंबद्ध कथानक के अनुरूप नहीं होते। इस कारणवश एक दृश्य दूसरे दृश्य से पूरी संवेदनीयता से जुड़ नहीं पाता, दृश्यों के बीच में विश्रृंखलता पायी जाती है। ऐसे नाटकों में अर्थ संपूर्ण प्रभाव के रूप में, पूरा नाटक देखने के बाद ही गृहीत होता है। इसप्रकार के शिल्प को 'डॉक्यूमेंट्री शिल्प' या 'कटपीस शिल्प' भी कहा जाता है। 'युद्धमन', 'एक और बुद्ध', 'अग्निपुत्र' आदि नाटकों में इस प्रयोग को देखा जा सकता है।

इसके अलावा कई ऐसे विशिष्ट प्रयोग भी हुए हैं जिनसेनये नाटककारों द्वारा अपनी रचना को विलक्षण बनाने की प्रवृत्ति की पुष्टि होती है जैसे ' काठमहल' नाटक में कठपुतली का प्रयोग, 'सबरंग मोहभंग' और 'अपरिभाषित' नाटकों में ठहराव (पॉज) का प्रयोग आदि। लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने कुछ नाटकों में एक और नाटक अन्तरनाटक के रूप में शिल्प के स्तर पर पिरोने की कोशिश की है। 'रक्तकमल' में भारत दुर्दशा का रूपक, ' रातरानी' में आत्मा का रूपक इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

उपर्युक्त जिन शिल्पगत विशिष्ट प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है इनसे नाट्य प्रस्तुतिकरण के आयाम बहुत हद तक बदल गए हैं। वस्तुतः युगीन आवश्यकताओं के अनुसार नाट्य रचना के शिल्प में नये-नये प्रयोग किए जाते रहे हैं जिसके फलस्वरूप कुछ नए नाट्य रूप भी आकार लेते दीखते हैं जो कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य की निजी खोज हैं। राकेश ने 'शायद हाँ' और 'छतरियाँ' में एकांकी की परंपरा को 'लघुनाटक' की नयी विधा का रूप दिया। लघु नाटक ''एक नये प्रकार का शिल्प विधान है जिसमें न पूर्णांगी नाटकों का विस्तार है और न एकांकी नाटकों की संक्षिप्तता । एकांकी की तुलना में कुछ व्यापक जीवन स्थितियों का चित्रण करनेवाले लघुनाट्य पूर्णांगी नाटकों के घटना-विस्तार , चरित्र और अंक दृश्यादि विधान से कुछ दूर होते हैं। एक दृश्य, एक जीवन स्थिति और पूरी एकतानता के साथ यह नाटक प्रस्तुत होते हैं।"[1] 'बकरी'(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना), 'सिंहासन खाली है' (सुशील कुमार सिंह), 'यक्षप्रश्न', 'सगुन पंछी' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'बुलबुल सराय', 'दुलारी बाई' (मणि मधुकर), 'संतोला' (मुद्राराक्षस), 'इतिहास चक्र' (दयाप्रकाश सिंहा) आदि अनेक नाटकों को इस श्रृंखला में

[1]नरनारायण राय- नटरंग विवेक, प्र.सं. 1981, पृ.21

परिगणित किए जा सकते हैं। इसके साथ ही इस काल में नृत्यनाट्य, एकनाटक, कहानी का रंगमंच, मनोशारीरिक रंगमंच आदि अनेक नए रूप भी दृष्टिगोचर होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि स्वातंत्र्योत्तर युग में जनमानस पर पड़नेवाले विभिन्न दबावों के फलस्वरूप साहित्य की विभिन्न विधाओं की भाँति नाट्य-रचना की शिल्प-चेतना में मौलिक परिवर्तन आए और पूरे नाटक का ढ़ाँचा जड़मूल से एकदम बदल गया। इस समय के नाटकों में समकालीन बदलती संवेदना को नये शिल्प के माध्यम से प्रदर्शित करके परंपरा को प्रयोग की ओर मोड़ दिया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों में अपने कथ्य को नया रूप देने, अभिव्यक्ति का नया माध्यम ढूँढने और कथ्य के लिए उपयुक्त शिल्प का प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वस्तुतः शिल्पगत प्रयोग वहीं तक सार्थक है जहाँ तक वह कथ्य की मांग को पूरा करता हो। केवल चौंकाने के लिए या प्रयोग की धुन में अपनायी गयी नवीनता आरोपित बनकर कथ्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर सकती है। इसका सबसे बड़ा दृष्टांत पारसी रंगमंच के नाटक है जो अपने युग में व्यापक लोक-प्रसिद्धि पाकर भी आज विस्मृत हो चुके हैं। उसका एकमात्र कारण उनका चमत्कारपूर्ण एवं आडंबरपूर्ण तड़क-भड़क शिल्प पर आश्रित होना है। तथापि, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी के नये प्रयोगशील नाटक शिल्पगत क्षेत्र में सार्थक प्रयोग कर रहे हैं, जो निस्संदेह हिंदी की एक समर्थ नाट्य-परंपरा का निर्माण करेंगे।

### 2.4.3 रंगमंचीय प्रयोग

नाटक का माध्यम रंगमंच है। नाटककार को इसी रंगमंच के आधार पर अपने नाटक की रूपरेखा बनानी पडती है। नाटक की सफ़लता रंगमंच पर ही मुख्यतया निर्णीत होती है। केवल लिखित रूप में नाटक सार्थक नहीं होता अपितु प्रदर्शित होने पर होता है। वस्तुतः"नाटक को संपूर्णतः रंगमंच पर ही प्राप्त होती है।"[1]

'रंगमंच' का कोशगत अर्थ है –"वह स्थान जहाँ नाटकादि का अभिनय, नृत्य, खेल, जलसा इत्यादि हो।"[2] नाटक एवं रंगमंच के संबंध पर प्रकाश डालते हुए विकल गौतम ने लिखा है –"नाट्य कला सामाजिक कला है। रंगमंच ही वह मध्य कड़ी है जो नाटक और जनता का संबंध जोड़ती है। नाटककार, रंगमंच के माध्यम से ही समाज की विभिन्न समस्याओं, मनुष्य के चरित्र, सभ्यता, संस्कृति के स्वरूप और सुधार के उपाय

---

1 नेमिचंद्र जैन, रंगदर्शन, तीसरा सं, 1993, पृ.22

2 कालिका प्रसाद (सं), बृहत् हिन्दी कोश, सप्तम् संस्करण - 1992, पृ.935

दर्शकों के सन्मुख प्रस्तुत करता है।"[1] वस्तुतः रंगमंच शब्द का प्रयोग सीमित और व्यापक दोनों अर्थों में किया जाता है। अपने सीमित अर्थ में रंगमंच नाट्य मंडप या रंगशाला का बोध कराता है जबकि व्यापक अर्थ में रंगभवन और उसके स्थूल उपादानों के साथ उस नाट्य कृति के समस्त रंग कर्म, उसकी रूढियों और प्रदर्शन में निहित शिल्प, भाव-बोध, और सर्जनात्मक धरातल भी उसी में सम्मिलित हो जाता है। अंग्रेज़ी में इसके लिए दो शब्दों का प्रयोग होता है - स्टेज और थियेटर। स्टेज सीमित अर्थ में और थियेटर व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इस संदर्भ में गोविंद चातक का कहना प्रासंगिक है - "वस्तुतः रंगमंच कोई स्थान विशेष नहीं है। यह किसी स्थापत्य की तरह कोई ठोस वस्तु हो न हो पर वह प्रेक्षकों के सम्मुख घटित होनेवाला क्रिया-व्यापार अवश्य है। रंगमंच साहित्य की नाटक विधा पर आश्रित अवश्य है, क्योंकि नाटक उसको एक शाब्दिक ढ़ाँचा प्रदान करता है। किंतु रंगमंच का कार्य जीवन की जीवंत सृष्टि करना है। यह सृष्टि बाहर से देखने पर स्थूल लगती है, किंतु अवधारणा के स्तर पर यह बहुत सूक्ष्म और भावमयी है।

रंगमंच एक स्थान ही नहीं, एक कला और कला माध्यम भी है। वह अभिव्यक्ति और अनुभव, साध्य और साधन दोनों है। रंगमंच की कला मुख्यतः अभिनय की कला है। जिसमें कई कर्मियों का योगदान होता है। उसके दो महत्वपूर्ण अंग होते हैं - नाटक को प्रस्तुत करनेवाले रंगकर्मी और प्रेक्षक। इसके अतिरिक्त प्रदर्शन के वे सब माध्यम होते हैं जो नाटक को मंच पर रूपायित करते हैं। उसके लिए नाटक रंगमंच को पाठ के द्वारा आधार प्रदान करता है।"[2]

हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास में नया उन्मेष वस्तुतः स्वतंत्रता के पश्चात् ही दिखाई दिया। स्वातंत्रता प्राप्ति के बाद से ही नाट्य प्रस्तुति को पुरानी और परंपरागत विधि की अपेक्षा नयी तकनीक और शैली का संधान हुआ। गिरीश रस्तोगी के अनुसार "सही रंग-चेतना और नाट्य लेखन स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही सामने आया। एक ओर 'नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा', 'संगीत-नाटक अकादमी', 'दिशांतर' जैसी संस्थाएँ, दूसरी ओर अल्काज़ी और मोहन महर्षि जैसे निर्देशकों, मोहन राकेश, लक्ष्मी नारायण लाल, सुरेंद्र वर्मा जैसे नए नाटककारों ने नाट्य की मूल सत्ता की खोज की। अल्काजी ने हिन्दी रंगमंच को भारतीय गौरव दिया; मोहन राकेश ने नाटककार की खुली दृष्टि, सहयोग

[1] डॉ. विकल गौतम- हिन्दी नाटकः रंग, शिल्प दर्शन, प्र.सं. 2000, पृ.7
[2] गोविंद चातक- नाटक की साहित्यिक संरचना, प्र.सं. 1994, पृ. 139

मनोवृत्ति और 'नाटक की मौलिकता की समझ' का परिचय दिया, ओम शिवपुरी जैसे अभिनेताओं ने अभिनय को कला और मर्यादा दी, लक्ष्मीनारायण लाल स्वयं निर्देशक, अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता, समीक्षक बनकर रंगमंच की गतिविधियों के साथ रहे।"[1]"यह सत्य है कि हमारे नये नाटक और रंगमंच ने आज ड्राइंग-रूम वाले सीमित यथार्थवादी दृश्यबंध से मुक्ति पा ली है और इब्राहिम अल्काज़ी, ब.व.कारंत, राजिन्दर नाथ, बादल सरकार, हबीब तनवीर, श्यामानंद जालान, सत्यदेव दुबे, अमोल पालेकर, रंजीत कपूर, एम.के.रेना जैसे अनेक प्रतिभा संपन्न नाट्य निर्देशकों ने इसे पर्याप्त व्यापकता, विस्तार, गति और स्वतंत्रता प्रदान की है।"[2]

कहा जा सकता है कि वर्तमान हिन्दी नाटक की सबसे बड़ी उपलब्धि रंगमंच सापेक्षता है जो वर्षों तक विस्मृत, उपेक्षित रहने के कारण हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास को अवरुद्ध करती रही। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक और रंगमंच लेखन, अभिनय, निर्देशन, मंच परिकल्पना एवं प्रकाश व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में प्रयोगशीलवृत्ति अपनाकर एक सशक्त नाट्य शैली की खोज करने का प्रयत्न कर रहे हैं। सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष की सशक्त अभिव्यक्ति के साथ, परंपरागत और आधुनिक नाट्य शैलियों के उपयोगी तत्व अपनाकर आज हिन्दी में नये प्रयोग हो रहे हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के मंचगत प्रयोगतत्व को निम्नवत विश्लेषित किया जा सकता है-

**2.4.3.1. नयी रंग-दृष्टि का विकासः** हिन्दी नाट्य प्रयोग का पहला चरण रंगमंच आंदोलन ने प्रस्तुत किया। रंग आंदोलन ने नयी रंग दृष्टि का विकास किया, लोगों को रंगमंच पर सोचने-विचारने के लिए विवश किया और रंग धर्म के अन्वेषण द्वारा नाट्य प्रयोग की संभावनाएँ उद्घाटित कीं। स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच की उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि इसने रंगमंच और नाटक की अभेदता को समझने-समझाने की एक नयी दृष्टि दी और इस अभेदता की एक नयी व्याख्या करने में सफ़लता पायी है।

हिन्दी में ऐसे कई नाटक लिखे गए हैं जो केवल लेखन के स्तर पर ही चर्चित नहीं हुए बल्कि उन्होंने अपने अनेकानेक प्रदर्शनों के माध्यम से भी अपनी अलग पहचान बनाई है। उदाहरण के लिए- धर्मवीर भारती का 'अंधायुग', मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे अधूरे', लक्ष्मीनारायण लाल का 'अब्दुल्ला दीवाना', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'करफ़्यु', भीष्म साहनी का 'हानुश', 'कबिरा खडा बज़ार में', शंकर शेष का 'एक और

[1] डॉ. गिरीश रस्तोगी- मोहन राकेश और उनके नाटक, तृतीय सं. 2002, पृ. 9
[2] जयदेव तनेजा- समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, प्र. सं. 1978, पृ. 73

द्रोणाचार्य', 'कोमल गांधार', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', शरद जोशी का 'एक था गधा उर्फ़ अलादाद खाँ', 'अंधों का हाथी', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग', मणि मधुकर का 'रस गंधर्व', हबीब तनवीर का 'आगरा बाज़ार', 'चरणदास चोर', त्रिपुरारी शर्मा का 'काठ की गाडी', स्वदेश दीपक का 'कोर्ट मार्शल', 'सबसे उदास कविता', असगर वजाहत का 'जिस लहौर नई देख्या ओ जन्म्याई नईं', प्रभाकर श्रोत्रिय का 'इला' आदि उल्लेखनीय हैं।

स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है रंगमंचीयता की दृष्टि का विकास जिसके फलस्वरूप आज के रंगमंच पर बहुदृश्यीय नाटकों की जगह एक दृश्यीय नाटकों का प्रदर्शन किया जा सकना संभव हुआ है और दृश्य-बंध निर्माण की कला का भी क्रमशः विकास होता गया। अतः हिन्दी रंगमंच ने पारसी रंगमंच शैली के परदों वाली मंच व्यवस्था को अब लगभग त्याग दिया है। इसलिए रंगशिल्प के स्तर पर एक ही दृश्यबंध पर खेले जा सकनेवाले नाटकों को अपनाया जा रहा है। इससे बार-बार मंच सज्जा से मुक्ति मिल पायी है। 'आषाढ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' जैसे कुछ नाटकों में हल्के परिवर्तनों के साथ तीन अंकों में दृश्यबंध एक ही रहता है। दृश्यबंध की यह एकरूपता स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच की एक बडी उपलब्धि मानी जाएगी जिसने नाटकों के प्रदर्शन को मांसल स्वरूप प्रदान किया। यह प्रयोग हिन्दी रंगमंच की नवीन रंगदृष्टि और नाटककारों की मंचीय समझ को व्यंजित करता है।

**2.4.3.2 रंग निर्देशों की उपेक्षा और निर्देशकीय प्रयोगः** बर्नार्ड शॉ और इब्सन से प्रभावित होकर लक्ष्मीनारायण मिश्र और उनके समकालीन अन्य यथार्थवादी नाटककार अपने नाटकों में विस्तृत रंग-निर्देश दिया करते थे जिसके फलस्वरूप नाटकों के प्रदर्शन एक जैसे, बिना किसी नवीनता के हुआ करते थे। नाट्यालेखों को नाटककार द्वारा दिये गये निर्देशों के आधार पर ही मंचित किया जाता था। निर्देशक का अपना अलग सर्जनात्मक योगदान प्रस्तुति में नहीं दिखाई देता था। किंतु आज़ादी के बाद रंगमंचीय दृष्टि में आए बदलाव के परिणाम स्वरूप हिन्दी रंगमंच के निर्देशक की भूमिका में व्यापक परिवर्तन दिखाई दिया जो हिन्दी रंगमंच के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण साबित हुआ। रंगनिर्देश की रूढ़ परंपरा टूट गयी और अब निर्देशक नाट्यालेख को ज्यों का त्यों मंचित नहीं करता बल्कि वह अपनी सूझ-बूझ, प्रतिभा, अनुभव और कल्पनाशक्ति के द्वारा नाटक को निर्देशक की रीति से और भी आकर्षक एवं प्रभावी रूप में प्रस्तुत करने लगे।

निर्देशकों की सर्जनशीलता को स्वीकारते हुए नाटककार अपने नाटकों में कम रंग-निर्देश देने लगे और लचीला नाट्य-शिल्प बनाने लगे, जिससे निर्देशक के लिए कई प्रकार की शैलियों तथा विभिन्न प्रकार की नाटकीय रूढियों एवं व्यवहारों के प्रयोग करना सुलभ हो गया।

निर्देशकीय पहल के कारण स्वतंत्रता काल तक की रंगमंचीय गतिविधि की शून्यता को इस नये रंगमंच ने काफ़ी हद तक भरा और मंचोपयोगी अच्छे नाटकों की रंगमंचीय जटिलताओं को दूर कर स्वतंत्रता पूर्व के नाट्यधर्मी रचनाओं के प्रदर्शनों का आयोजन भी किया गया। निर्देशकों की सूझ-बूझ तथा सृजनात्मक दृष्टि के कारण मंच के लिए अनुपयुक्त समझे जानेवाले जयशंकर प्रसाद के नाटक आज मंचीयता की दृष्टि से सफ़ल सिद्ध हो रहे हैं।

**2.4.3.3. रंगशिल्प में प्रयोगः** स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों के शिल्प एवं संवेदना में आये बदलाव के अनुरूप, रंगमंचीय संवेदना में भी अपेक्षित बदलाव दिखाई दिया। आज के नाटकों की जटिल संवेदना को व्यक्त करने के लिए नए साधन और उपकरणों की तलाश प्रारंभ हुई। वैज्ञानिक विकास, तकनीकी ज्ञान के साथ-साथ रंगकर्मियों की सर्जनशीलता ने इस तलाश को सफ़ल बनाते हुए हिन्दी रंगमंच को समृद्ध किया। निर्देशकीय दृष्टि में नवीनता का प्रादुर्भाव, हिन्दी रंगमंच में ताज़गी तथा जीवंतता बनाए रखने का महत्वपूर्ण माध्यम साबित हुआ। रंगद्वारी यानी प्रोसीनियम मंच की अपेक्षा मुक्ताकाशी मंच का उपयोग बढ़ने लगा। कभी मंच के दोनों, तीनों या फिर चारों ओर दर्शकों को बिठाकर प्रदर्शन किये जाने लगे। कभी-कभी प्रस्तुति दर्शकों से ऊपर के धरातल पर होने की अपेक्षा, उन्हीं के समानांतर धरातल पर की जाती है। वास्तव में दर्शकों के साथ अधिक तादात्मय एवं लगाव स्थापित करने के उद्देश्य से ही प्रोसीनियम पद्धति को छोड़, समकालीन हिन्दी निर्देशक ऐसी युक्तियाँ खोजने की कोशिश करने लगा था जिससे नाटक के कार्य-व्यापार के अंतर्गत दर्शक भी शामिल हो सके। पारंपरिक रंग-शैली में निहित इस तत्व की शक्ति को पहचानकर हबीब तनवीर जैसे कई निर्देशकों ने अपनी प्रस्तुतियों में सफ़लता से लोक-नाट्य शैलियों का खुलकर प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए 'एक सत्य हरिश्चंद्र' नाटक में लाल द्वारा प्रयुक्त नौटंकी शैली, मणिमधुकर के 'बुलबुलसराय' में कुचामणि ख्याल और माँच की शैली का प्रयोग, सरयूप्रसाद मिश्र के 'नारद मोह' में रामलीला का प्रयोगात्मक संयोजन देखा जा सकता है। इस दिशा में ब्रेष्ट जैसे पश्चिमी

रंगकर्मियों की विचारधारा ने भी हिन्दी रंगकर्म को प्रभावित किया है। रंगकर्मियों का समग्र या टोटल थियेटर की ओर रुझान बढ़ने लगा जिससे हमारी पुरानी परंपरा के अनुरूप ही संगीत, नृत्य, कविता, गीत, संवाद, अभिनय सबको एकत्रित करने के प्रयास हुए। ग्रोटोव्स्की के विचारों से प्रभावित बादल सरकार 'तीसरे रंगमंच' की अपनी अवधारणा को लेकर आए जहाँ दर्शक रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण का एक महत्वपूर्ण घटक बनकर सामने आया है।

दर्शक और नाटक के बीच से रंगशाला की दीवारों को हटाकर नाटक को लोक-जीवन से संबद्ध करना, स्वातंत्र्योत्तर रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाएगी। उदाहरण के लिए इब्राहिम अल्काज़ी द्वारा फ़िरोजशाह कोटला, तालकटोरा के खंडहर में और एम.के.रैना द्वारा लोक शैली में दिल्ली के पुराने किले के विराट मंच पर प्रस्तुत किया गया 'अंधायुग', आगरा के खुले बाज़ारों में हबीब तनवीर द्वारा प्रस्तुत किया गया 'आगरा बाज़ार', पटना, दिल्ली, जबलपुर आदि शहरों की विभिन्न छोटी बडी नाट्य संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत किये गए नुक्कड नाटक आदि। इन सभी नाटकों ने परंपरा से चली आई रंगमंच की दीवारों वाली रंगशाला की अवधारणा को ठुकरा दिया और नाटक को दर्शकों तक बिना किसी अवरोध के पहुँचा देने मे सफ़लता प्राप्त की। श्री नरनारायण राय ने लिखा है –"'ओपन एयर थियेटर', 'टेरेस थियेटर','आँगन रंगमंच' और 'नुक्कड नाटक' जैसे रंगमंचीय प्रयोग वस्तुतः इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'अब्दुल्ला दीवाना' नाटक के साथ रंगशाला और सड़क की दूरी खत्म करने की कोशिश शुरू कर दी। सुरेशचंद्र शुक्ल ने कुछ 'नुक्कड़' नाटक प्रस्तुत किए और नाटक को चौराहे पर ला खडा किया। रमेश बक्षी ने 'टेरेस थियेटर' के लिए 'गधे-घोडे' काफ़ी हाउसों और तलघरों के लिए 'रामबाण' आदि नाट्य प्रस्तुत किए। 'बकरी' और 'सिंहासन खाली है' जैसे नाटक रंगशाला की दीवारों की कैद से आज़ाद हो चुके हैं। ये सारे नाट्य प्रयोग इस दशक के रंगमंचीय प्रयोग के नमूने हैं। आज का रंगमंच सडक, लॉन, पार्क, काफ़ी हाउस, छत, तलघर, चौराहा - कहीं भी पाँच-दस मिनटों की मामूली तैयारी के साथ खडा हो जाता है। यह हिन्दी रंगमंच की एक प्रयोगात्मक उपलब्धि है जिसने परंपरा के

सभी प्रकार के बंधनों को नकार कर आदमी के जीवन से आनेवाले नाटक को वापस फिर से उन तक पहुँचा दिया है।"[1]

नये रंगदर्शन के फलस्वरूप आज के नाटकों का नायक या अन्य चरित्र सामान्य जन से लिये जाते हैं। रंग शिल्प के धरातल पर सबसे बडा प्रयोग यह है कि कभी-कभी नाटक में अभिनय करनेवाले चरित्र खुद दर्शक होते हैं या दर्शकों के बीच से आकर अभिनय करते हैं। उदाहरण के लिए "राधाकृष्ण सहाय के 'खेल जारी खेल जारी' जीवन का सीधा ड्रामा है। 'आदमी रे आदमी' गीत से प्रारंभ इस नाटक के पात्र दर्शक ही हैं जो गीत गाने के दौरान ही बहस करने मंच पर चढ़ जाते हैं और शुरू होता है एक इन्स्टेंट नाटक। आदमी ने जितने भी मुखौटे अपने चेहरों पर फ़िट कर रखे हैं यह नाटक उन सभी की यातना गाथा है।"[2] वस्तुतः आम आदमी की कथा और व्यथा, आम दर्शकों से अभिनेताओं का उठकर आना और फ़िर उन्हीं में वापस जाकर बैठना, रंगशाला की दीवारों से नाटक को मुक्त करके जन-जन तक पहुँचाना, रात और शाम की जगह दिन-दहाड़े नाटक प्रस्तुत करना आदि कई ऐसे प्रयोग हैं जो स्वातंत्र्योत्तर नाटक की बदली हुई शिल्प चेतना और रंग-संरचना का एहसास कराते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने नई रंग-दृष्टि के प्रभाव के कारण अपनी नाट्य रचना के शिल्प को लचीला बना दिया है ताकि नाटक कहीं भी किसी भी स्थिति मे मंचित हो सके। कुछ समय पहले तक नाट्य लेख को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देना ही बडी बात समझी जाती थी। किंतु आज एक ही नाटक को अलग-अलग निर्देशकों द्वारा अलग-अलग शैलियों में प्रस्तुत किया जाता है और नाटक के भिन्न-भिन्न अर्थ को भिन्न भिन्न प्रदर्शनों में अभिव्यक्ति दी जाती है। नाटक को हर बार एक नया व्यक्तित्व प्राप्त होता है। सक्सेना के 'बकरी' नाटक का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहा जा सकता है क्योंकि इसका प्रदर्शन अब तक लोक नाट्य शैली, नौटंकी शैली, यथार्थवादी शैली, प्रतीक शैली - कई शैलियों में किया जा चुका है। इसके अलावा 'रस गंधर्व', 'उत्तर युद्ध', 'एक था गधा उर्फ़ अलादाद खाँ' आदि कुछ नाटक ऐसे ही लचीले शिल्प के नाटक हैं जिनकी भिन्न शैलियों की प्रस्तुति ने रंगमंचीय विकास के नये प्रतिमान निर्धारित किये।

---

[1] नरनारायण राय- नटरंग विवेक, प्र. सं. 1981, पृ. 13

[2] डॉ. वीणा गौतम- हिन्दी नाटकःआज तक, प्र.सं. 2002, पृ. 399

श्री आनंद प्रकाश शर्मा के अनुसार, "रंगमंच के प्रति नयी सोच एवं नाटक और रंगमंच की नयी समझ ने आधुनिक युग में आकर नाटकों के रचना शिल्प को लचीला बना दिया। लचीले शिल्प की योजना के कारण ऐसे नाटकों की रचना और प्रदर्शन संभव हुए जो हिन्दी रंगमंच की नयी उपलब्धि बन गए। इस शिल्प के कारण एक ही नाटक को अलग-अलग निर्देशक ने अलग-अलग शैलियों मे प्रस्तुत कर यह सिद्ध कर दिया कि किसी नाट्यालेख को अनेक रंग व्यक्तित्वों में ढ़ाला जा सकता है। हर प्रदर्शन पहले की अपेक्षा नया सर्जन लगने लगता है। आधुनिक युग में संवेदना के अनुरूप शिल्प का यह साधारणीकरण रंगमंच की अपनी निजी उपलब्धि है।"[1]

विभिन्न निर्देशकों ने अपनी रुचि, बुद्धि, कौशल एवं सर्जनात्मक ज़रुरत के अनुसार एक ही नाटक की कई-कई भिन्न-भिन्न दृश्य व्याख्या प्रस्तुत की है जिससे उस नाटक की नयी-नयी संभावनाएँ उजागर हो सके। लाल के नाटक 'कर्फ़्यु' की क्रूरता को अधिक प्रखरता के साथ उभारने के लिए निर्देशक श्री टी. पी. जैन ने दृश्य बंध को एक पिंजरे के रूप में प्रस्तुत करते हुए आलेख के भीतर एक नवीन संभावना की उपस्थिति समझा दी है। इसी प्रकार लाल के ही दूसरे नाटक 'यक्षप्रश्न' के पांडवों को आधुनिक वेशभूषा में मंच पर अवतरित करते हुए समकालीन पीढ़ी की निष्क्रियता और नपुंसकता पर नाटककार के व्यंग्य को तीखापन तथा पैनापन प्रदान करने का रंगकौशल सर्वथा नवीन शिल्प की अभिव्यक्ति है।

**2.4.3.4 मंचीय सज्जा में प्रयोगः** स्वातंत्र्योत्तर नाट्य-प्रयोगों में मंचीय-सज्जा की सादगी की विशेषसर्तकता दिखाई देती है, साथ ही मंच उपकरणों का प्रतीकात्मक उपयोग रहता है। पूर्व युगीन मंचीय सज्जा अतिरंजना पूर्ण, भड़कीली और चमत्कारपूर्ण होती थी। उस समय साधनों का प्रयोग दर्शक को विस्मय की स्थिति में डालने के लिए किया जाता था। किंतु स्वातंत्र्योत्तर मंचीय सज्जा यथार्थवादी हो गई है। अतः मंच पर उपस्थित सामग्री भी नाटक के अभिनेता के संवादों के समानांतर कथ्य को व्यंजित करती है। मंचीय सज्जा यहाँ केवल पृष्ठभूमि या सुसज्जित स्थान प्रस्तुत करने के लिए नहीं होती अपितु उसकी सारी परिकल्पना एक विशेष संप्रेषण के उद्देश्य से पूरक होती है। मोहन राकेश ने विशेष रूप से अपने नाट्य प्रयोगों में सारे रंगतंत्र का इस्तेमाल नाटकीय संप्रेषण के लिए किया

[1] रमेश गौतम (सं)- दिल्ली का हिन्दी नाटक और रंगमंच- आनंद प्रकाश शर्मा- दिल्ली के हिन्दी रंगमंच का इतिहास, प्र. सं. 2000, पृ. 180

है। इनके नाटकों में सभी मुख्य मंच उपकरण रंग प्रतीकों की तरह प्रयुक्त हुए हैं। 'लहरों के राजहंस' में उपस्थित झूला, मत्स्याकार आसन पात्रों की आंतरिक स्थिति और मनोभावों के व्यंजक है। 'कोणार्क' में तो माथुर जी ने नाटक के परिशिष्ट के अंतर्गत मंच सज्जा हेतु स्पष्ट संकेत दिए हैं। मंचीय सज्जा में यह नया परिवर्तन स्पष्ट करता है कि स्वातंत्र्योत्तर नाटककार दृश्य रचना में अधिक सूक्ष्म संवेदनशील कल्पना और सर्जनात्मक दृष्टि का प्रयोग कर रहा है।

**2.4.3.5 वेशभूषा और रूप-सज्जा का प्रयोगः** मंच अभिकल्पन एवं दृश्यांकन में जिस प्रकार नयापन दिखाई दिया उसी प्रकार, रूप-सज्जा एवं वेशभूषा में भी प्रयोगशील दृष्टि अपनायी गयी। यथार्थवादी प्रस्तुतियों में जहाँ यथार्थपरक रूप-सज्जा या वेशभूषा कराने की प्रवृत्ति रही वहीं यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने की अपेक्षा पात्रों की रूप-सज्जा एवं वेशभूषा उनकी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व कराती हुई सांकेतिक रूप धारण करने लगी। इस दृष्टि से मुखौटों का उपयोग उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। गिरीश कर्नाड के 'हयवदन' जैसे नाटकों में मुखौटे का सफ़ल प्रयोग किया गया है। 'ताजमहल का टेंडर' नाटक में अजय शुक्ला ने वेशभूषा का प्रयोग व्यंग्य के समान एक चोट करनेवाले हथियार के रूप में किया है। नाटक में नाटककार ने वेशभूषा संबंधी निर्देश देते हुए कहा है –"शाहजहाँ की वेशभूषा ऐतिहासिक रूप की हो। नाटक के प्रारंभ में उसकी आयु 40-45 वर्ष की प्रतीत हो। फि र हर नयी प्रवृष्टि पर उसकी आयु कुछ वर्ष अधिक होती रहे तथा अंतिम दृश्य में वह पूर्णतः वृद्ध लगे। नाटक के अन्य पात्र वर्तमान काल की वेशभूषा में हों।"[1] प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने पच्चीस वर्षों में केवल शाहजहाँ को बूढ़े होते दिखाया है, अन्य पात्रों को नहीं। इसमें नाटककार द्वारा वर्तमान समाज की परिस्थितियों को दिखाने का प्रयास किया गया है। भ्रष्ट, बेईमान, स्वार्थ में अंधा इंजीनियर गुप्ता जिसे ताजमहल बनाने के लिए नियुक्त किया जाता है और उसके सहयोगी पी.ए.सुधीर व ठेकेदार भैयाजी अमर हैं,बूढ़ेनहीं होंगे। बूढ़ा होगा केवल ताजमहल को पूरा होते देखनेवाला शाहजहाँ। समाज में भ्रष्ट और अपनी स्वार्थ लिप्सा को सरकारी पैसे से पूरा करनेवाला व्यक्ति कभी बूढा नहीं होगा और न ही मरेगा क्योंकि भ्रष्टाचार, बेइमानी, स्वार्थ व लालच की भावना अमर है, यह भावना व्यक्तियों में सदा बनी रहेगी। वस्तुतः इस नाटक में शाहजहाँ के ऐतिहासिक

[1] अजय शुक्ल- ताजमहल का टेंडर, प्र.सं. 1999, पृ. 12

प्रसंग को लेकर वर्तमान समस्याओं को व्यंग्य द्वारा दिखाया गया है। शाहजहाँ की वेशभूषा ऐतिहासिक और अन्य पात्रों की वेशभूषा आधुनिक रखी गई है। इस प्रकार की वेशभूषा एक प्रकार से नया प्रयोग है। नाटक में "बीसवीं सदी के अन्त में पैंट-टाई वाले चरित्रों के बीच अपने शाही लिबास और परिवेश के बावजूद अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग करता शाहजहाँ यहाँ ज़रा भी अटपटा और अजीब नहीं लगता।"[1] इसप्रकार वेशभूषा के प्रयोग से प्राचीन और वर्तमान समय को जोड़कर एक नया प्रभाव उत्पन्न किया गया है।

**2.4.3.6 रंगदीपन का प्रयोगः** प्रकाश व्यवस्था भी रंगरचना प्रस्तुत करने का एक कलात्मक माध्यम बन गई है। सातवें दशक से पूर्व तक नाटकों में प्रकाश का उपयोग मंचबंध को आलोकित रखने तक सीमित था ताकि दर्शक नाटक के क्रियाव्यापारों को स्पष्टतः से देख सके। किंतु आज तकनीक के विकास के फलस्वरूप रंगदीपन में क्रांतिकारी परिवर्तन दिखाई दिया। तरह तरह के विद्युत उपकरणों की उपलब्धि ने रंग - प्रस्तुति को और भी प्रभावी बनाने में मदद की। विशेष प्रभाव , वातावरण निर्माण या भाव दशा को उजागर करने में रंगदीपन आधुनिक वैज्ञानिक युग की प्रयोगात्मक उपलब्धि सिद्ध हुआ है। प्रकाश - योजना की सहायता से कई दृश्यों वाली प्रस्तुतियों में भी बिना पर्दा गिराये केवल मंच पर अंधेरा करने से पर्दे की उपयोगिता भी कम होने लगी। श्री नरनारायण राय ने लिखा है –"आठवें दशक के नाटकों ने प्रकाश के विभिन्न शिल्पगत अभियोजन की संभावनाएँ प्रस्तुत कीं। पर्दा गिराने - उठाने की जगह दृश्य-परिवर्तन के लिए, मंचीय क्रिया व्यापार को अलग-अलग धरातल में बाँटने के लिए, स्मृति दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए, किसी घटना या चरित्र विशेष के अभिनय एवं मनोभावों की ओर दर्शकों का ध्यान केंद्रित करने के लिए, मंच पर फ़ंतासी दृश्यों या अति नाटकीय स्थितियों को प्रस्तुत करने के लिए, प्रकाश व्यवस्था का शिल्पगत उपयोग किया गया है।"[2] साथ ही प्रकाश व्यवस्था का प्रयोग वातावरण निर्माण तथा समय आदि के संकेत के लिए भी किया जा रहा है। आज मंच पर प्रातः, रात्रि, सूर्यास्त आदि सभी प्रकार के दृश्य प्रकाश व्यवस्था के माध्यम से प्रस्तुत करने संभव हो सके हैं।

हिन्दी के अधिकांश नाटककार रंगमंच के इस तकनीकी पक्ष के प्रति बेहद सजग हैं। विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण लाल, दयाप्रकाश सिन्हा, सुरेंद्र वर्मा, भीष्म साहनी,

---

[1] अजय शुक्ल- ताजमहल का टेंडर-जयदेव तनेजा -भूमिका, प्र.सं. 1999, पृ. 12

[2] नरनारायण राय- नाट्य विमर्श, प्र. सं. 1984, पृ. 19

नरेंद्र मोहन, प्रताप सहगल प्रभृतिनाटककारों ने अपने नाटकों में प्रकाश व्यवस्था का अच्छा प्रयोग किया है। दयाप्रकाश सिन्हा कृत 'इतिहासवृत्त नाटक' में प्रकाश प्रयोग की दृष्टि से नाटककार ने कुछेक प्रयोग किए हैं। नाटक में किसी विशिष्ट राजनीतिक घटना क्रम में किसी राजनीतिक नेता विशेष के जैसे महात्मा गाँधी, सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, मदनलाल ढींगरा, सर सैय्यद अहमद खाँ, क्लेमेंट एटली आदि के चरित्रों की प्रभावोत्पादकता तथा व्यंजकता को बढ़ाने के लिए प्रकाश वृत्त का प्रयोग किया गया है।

2.4.3.7. **ध्वनियों का प्रयोगः** मंच पर प्रकाश व्यवस्था के साथ-साथ ध्वनि और संगीत को लेकर भी अनेक प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। नाटक के संवेदनात्मक प्रभाव को तीव्र करने के लिए यथावसर मंच पर संगीत, नेपथ्य संगीत या कुछ विलक्षण ध्वनियाँ उत्पन्न की जाती हैं। पाशर्व की ध्वनियों द्वारा वातावरण का निर्माण तथा संगीत के द्वारा अंतराल को व्यक्त करने के प्रयोग किए जा रहे हैं। मंच पर पात्रों के संवादों के बीच और साथ संगीत का लयात्मक उपयोग उन भावों को मूर्तता एवं अर्थवत्ता प्रदान करता है जो नाटक में अप्रत्यक्ष होते हुए भी प्रत्यक्षीकरण की अपेक्षा करते हैं। नाट्य समीक्षक नरनारायण राय ध्वनि प्रभावों के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं –"ध्वनि विस्तारक यंत्र की नयी एवं उन्नत व्यवस्था ने संवाद भाषण की परिपाटी बदल डाली है। साथ ही साथ विभिन्न ध्वनियों का नाटकीय क्रिया व्यापार के साथ इस प्रकार व्यंजक प्रयोग आज की रंग-संरचना के नये शिल्प में संभव हो गया कि उससे संपूर्ण प्रदर्शन का प्रभाव निर्धारित होता है। ध्वनि एवं प्रकाश-व्यवस्था यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति से संबद्ध है और वैज्ञानिक तकनीक से जुडा है तथापि इन वैज्ञानिक उपलब्धियों की जानकारी और उनके प्रयोग की संभावनाओं के ज्ञान ने नये नाटककार के नाट्य रचना शिल्प को इस अर्थ में प्रभावित किया है कि वे अपने शिल्प विधान में इन सब प्रयोगों के उपयोग की संभावनाओं के लिए स्थान और अवकाश का सायास अभियोजन कर लेते हैं।"[1] 'पहला राजा' (जगदीशचंद्र माथुर) में ध्वनि प्रभावों और वाद्य- यंत्रों के नाटकीय प्रभाव का विशेष महत्व है। 'अंधायुग' (धर्मवीर भारती) में गिद्धों के परों की फड़फड़ाहट के ध्वनि प्रभाव से ही मंच पर युद्ध के विनाशकारी भयंकर दृश्यात्मक प्रभाव को उत्पन्न किया गया है। राकेश का अंतिम प्रयोग 'छतरियाँ' मुख्यतः ध्वनियों के माध्यम से किया गया रंगमंचीय संप्रेषण का प्रयोग है।

[1] नरनारायण राय- नाट्य विमर्श, प्र. सं. 1984, पृ. 19

**2.4.3.8 सूत्रधार संबंधी नये प्रयोगः** भारतीय नाट्यशास्त्र में सूत्रधार को नाटक के निर्देशक अथवा रंगमंच-संचालक के रूप में चित्रित किया गया है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में सूत्रधार एक अनिवार्य पात्र था, किंतु स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में परंपरागत सूत्रधार का रूप ही बदल चुका है। आज सूत्रधार को नाटकीय स्थितियों से जोड़ने के शिल्प का नया प्रयोग किया गया है। इस तरह का प्रयोग माथुर ने 'पहला राजा' में किया है। उन्होंने सूत्रधार और नटी का प्रयोग प्रारंभ की प्रस्तावना और अंत के आशीर्वचन के लिए ही नहीं, बीच बीच में घटनाओं की श्रृंखलित कड़ियों के जोड़ने, समय बीतने की सूचना देने, प्रसंगों तथा पात्रों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए भी किया है। 'आधे-अधूरे' का काला सूट वाला व्यक्ति भी सूत्रधार की नयी भूमिका में आता है। 'बकरी' (सक्सेना), 'सिंहासन खाली है' (सुशील कुमार सिंह), 'द्रौपदी' (सुरेंद्र वर्मा), 'गंगा माटी' (लाल) आदि नाटकों में भी सूत्रधार का अभिनव प्रयोग किया गया है।

स्पष्ट है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक पर सर्वाधिक प्रभाव नयी रंगदृष्टि का रहा है जिसने नाट्य रचना के शिल्प को और उसकी आंतरिक संरचना को सर्वाधिक प्रभावित किया है। संस्कृत रंगमंच की शास्त्रीय नाट्य-पद्धति तथा लोक रंगमंच को जानने समझने का प्रयास करते हुए, अपनी सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए इन नाट्य शैलियों का उपयोग करके, प्रयोगधर्मी हिंदी रंग-निर्देशकों ने स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच को अपनी जड़ों से जोड़ने का प्रयास किया है। यथार्थवादी रंग-शैली, जापान की नोह और काबुकी, ब्रेष्ट की महाकाव्यात्मक एवं अलगाववादी रंग-शैली, एब्सर्ड नाट्य पद्धति, ग्रोटोव्स्की की देह-प्रयोग शैली, रिचर्ड शेखनर की पर्यावरण रंग-शैली के साथ-साथ अनेक रंग प्रयोग यहाँ देखने को मिले हैं। स्वातंत्र्योत्तरहिंदी रंगमंच ने पाश्चात्य रंग-दर्शन से प्रभाव ग्रहण तो अवश्य किया है, परंतु जो प्रस्तुतीकरण की शैली बनी उसमें भारतीयता का पुट समाया हुआ था। पश्चिमी तथा शास्त्रीय-पारंपरिक लोक-शैलियों के साथ-साथ निर्देशक की अपनी मौलिक सर्जन-शैली का परिचय देते हुए स्वतंत्र रंग-शैली में भी प्रस्तुतीकरण देखे गए हैं, जो हिंदी रंगमंच की प्रयोगात्मक उपलब्धियाँ सिद्ध हुए हैं। इन सबके फलस्वरूप आज समकालीन रंगमंच पर कई नये प्रयोग, रूप और आकार ग्रहण करने लगे हैं जैसे नृत्यनाट्य, कहानी, उपन्यास और कविता का रंगमांच, भाषा विहीन कथ्य का दृश्य संप्रेषण करनेवाला मनोशारीरिक रंगमंच, एकल नाट्य प्रयोग, बाल रंगमंच और नुक्कड़ नाटक आदि।

**2.4.3.9 नृत्यनाट्य :** नृत्य मुद्राओं की भाषा में भाव और नाट्य वस्तु का संप्रेषण करनेवाली हिंदी नृत्यनाट्य शैली का आविर्भाव उदयशंकर के साथ हुआ। 1930 से

1945 तक नाट्य और विभिन्न नृत्य शैलियों की शिक्षा प्राप्त कर अभ्यास करते हुए उन्होंने जिन नृत्य-मुद्राओं की भाषा का निर्माण किया वह स्वतंत्र भारत में मृणालनी साराभाई, शांतिवर्द्धन, गुलवर्द्धन, बिरजू महाराज एवं अन्य लोगों की परंपरा में अभिव्यक्त हुआ है। अस्तु, यह स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच का एक अभिनव प्रयोग है। नृत्यनाट्यों के आलेख दुर्लभ है क्योंकि इनका प्रकाशन कम ही होता है। हाथरस (उ.प्र.) के संगीत कार्यालय से प्रकाशित मासिक पत्र 'संगीत' के जनवरी 1964 में प्रकाशित नृत्य नाट्य विशेषांक में तेरह नृत्य नाट्य प्रकाशित हुए हैं। श्रीमती कुंथा जैन का नृत्यनाट्य 'दिव्यध्वनि छंद' उनके संग्रह 'वर्द्धमान रूपायन' (1975) में और 'महाप्राण बाहुबली' (1981) में प्रकाशित है। आधुनिक नृत्य नाट्य भारतीय, शास्त्रीय और पश्चिमी बेले के सम्मिश्रण से तैयार एक सर्वथा नवीन प्रयोग माना जाता है। अब तो यह हिंदी रंगमंच का एक विशेष आकर्षण बन चुका है और कई संस्थाएँ केवल नृत्यनाट्य ही प्रस्तुत करती है।

**2.4.3.10 रूपांतरित रंगमंच :** स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक की नवीन रंग दृष्टि, रंगमंच पर उसके प्रदर्शन की विभिन्न स्थितियों को उभारकर उसके दृश्यत्व गुण की सार्थकता को बनाए रखती है और रंगमंच को समृद्ध, प्रयोगधर्मी तथा गतिशिल बनाती है। 'रूपांतरित रंगमंच' नाट्यानुभूति के आविष्करण की प्रक्रिया में कथ्य की अभिव्यक्ति पद्धति में अंतर आ जाने के कारण बननेवाला रंगप्रयोग है। रूपांतरित रंगमंच अर्थात् कथा एवं काव्य साहित्य का मंचावतार। कुछ प्रयोगधर्मी निर्देशकों ने उपन्यास, कहानी और कविता में छिपे नाटकीय तत्व को पकड़कर उनके सफल मंचन के द्वारा आज एक नई परिभाषा बनायी है कि कहानी, उपन्यास, कविता जैसी साहित्यिक विधायें केवल पढ़ने- सुनने के लिए ही नहीं होती बल्कि दृश्यत्व का अनुभव देने के लिए भी हो सकती हैं। कहानियों, उपन्यासों, व कविताओं के भीतर छिपे कथा-तत्व को क्षति पहुँचाये बिना उसे ध्वनियों और अभिनय मुद्राओं में ढ़ालकर रंगमंच पर प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम प्रयोग 1975 में देवेंद्रराज अंकुर ने किया था। उन्होंने निर्मल वर्मा की तीन कहानियों की एकल प्रस्तुतियों के दौरान जो रंगानुभव प्राप्त करने की कोशिश की, उसे 'कहानी का रंगमंच' की संज्ञा दी। इसके बाद अब तक भिन्न विधाओं के ऐसे लगभग तीन दर्जन प्रदर्शन प्रस्तुत किये जा चुके हैं। इनमें प्रेमचंद का 'कफन', 'ईदगाह', 'पूस की रात', प्रसाद की 'आकाशदीप', गुलेरी की 'उसने कहा था', अमरकांत की 'हत्यारे' आदि कहानियों, मन्नू भंडारी का 'महाभोज',

कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी', प्रेमचंद का 'गोदान' जैसे उपन्यासों तथा धर्मवीर भारती के 'अंधायुग', अज्ञेय के 'उत्तर प्रियदर्शी', नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' जैसे काव्य नाटकों और अज्ञेय की 'असाध्य वीणा', मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में', धूमिल की 'मोची राम' जैसे कविताओं के मंचन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अंकुर के साथ ही राजिंदरनाथ, ब.व.कारंत, सत्यदेव दुबे, प्रतिभा अग्रवाल, गिरीश रस्तोगी आदि कई निर्देशकों ने रूपांतरित रंगमंच को आगे बढ़ाया है।

2.4.3.11 **एकल नाट्य :** 'एकल नाट्य' दसवें दशक में विकसित हुआ एक नया नाट्य प्रयोग है जिसमें एक ही पात्र के एकालाप और अभिनय मुद्राओं का आश्रय लिया जाता है। निर्मल वर्मा की तीन कहानियों का नाट्य रूपांतर 'तीन एकांत', रमेश बक्षी का 'रामबाण', शरण कुमार लिंबाले की आत्मकथा 'अक्करमाशी' आदि एकल नाट्य प्रयोग के अच्छे उदाहरण हैं।

2.4.3.12 **मनोशारीरिक रंगमंच :** स्वातंत्र्योत्तर और समकालीन रंगमंच पर विकसित होनेवाला नव्यतम प्रयोग है 'मनोशारीरिक रंगमंच', अर्थात् भाषा विहीन कथ्य का दृश्य संप्रेषण। हॉलेंड के बहुचर्चित रंगकर्मी ग्रोटोव्स्की के 'पोलिश लैब थियेटर' अथवा 'पुअर थियेटर' के अनुकरण पर भारत में 1977 ई. में इस रंग शैली के प्रदर्शन प्रारंभ हुए। भारत में लखनऊ की नाट्य संस्था 'लक्रीस' ने और संस्था के निर्देशक दो युवा रंगकर्मी शशांक बहुगुणा एवं विजय सोनी ने इसकी शुरुआत की। "मुक्तिबोध की लंबी कविता 'अंधेरे में' के प्रदर्शन से शुरू होनेवाली इस परंपरा में आगे चलकर 'जॉन बुल', 'खाडिया का घेरा', 'तुगलक', और 'चतुरी शाह' जैसे नाटक भी प्रस्तुत किये गये। इसे भारत में 'मनोशारीरिक रंगमंच' का नाम दिया गया है। इस प्रदर्शन शैली के अंतर्गत ऐसा माना जाता है कि अभिनेता के शरीर का उपयोग भाषा के रूप में अथवा भाषा के स्थान पर किया जाता है क्योंकि शरीर खुद एक भाषा है। कविता, कहानी और नाटक सभी प्रकार की रचनायें इस शैली में प्रस्तुत की जा सकती हैं क्योंकि भाषा की दीवार हट जाती है।"[1]

2.4.3.13 **नुक्कड़ नाटक :** हिंदी रंगमंच में विकास और परिवर्तन की दृष्टि से आम आदमी की अपनी भाषा तलाशते हुए एक प्रयोगात्मक नाट्यांदोलन के रूप में नुक्कड़ मंच का आरंभ हुआ। "नुक्कड़ नाटक का संबंध स्वभावतः राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से, आम आदमी के प्रति अन्याय और अत्याचार करनेवाली जन-विरोधी शक्तियों के घृणित रूप और कृत्यों से, उन्हें भेदनेवाली अटूट इच्छा से जुड़ता गया। तात्कालिक

[1]राजमल बोरा,नारायण शर्मा (सं) - हिंदी नाटक और रंगमंच-डॉ.नरनारायण राय- समकालीन रंगमंच, प्र.सं. 1988, पृ.159

प्रश्न उसका अंग होते गये।''[1]इसप्रकार नुक्कड़ नाटक आम आदमी को अन्याय, अत्याचार, और शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने केलिए प्रेरित करने के उद्देश्य से किसी भी खुले स्थान पर सामान्य जन के बीच उन्हीं की भाषा और उन्हीं के मुहावरों में सामयिक, सार्थक और उत्तेजक कथ्य के द्वारा प्रस्तुत होते हैं। इसका वर्तमान स्वरूप हमारी लोक नाट्य परंपरा से प्रभाव ग्रहण करने के साथ-साथ, कहीं न कहीं ग्रोटोव्स्की, ब्रेष्ट और प्रत्यक्षतः बादल सरकार के तीसरे रंगमंच की अवधारणा से भी काफी प्रभावित रहा है। नुक्कड़ नाटक के विभिन्न प्रदर्शनों के बीच एम.के.रैना के निर्देशन में 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' (भीष्म साहनी) और एम.एस.सथ्यू के निर्देशन में 'बकरी' (सक्सेना) जैसी कृतियाँ नये रूप में जनता के बीचों बीच उभरकर आयी हैं। शंकर शेष का 'पोस्टर', शरद जोशी का 'अंधों का हाथी', गुरुशरण सिंह का 'इंकलाब जिन्दाबाद', रमेश उपाध्याय का 'गिरगिट', सफदर हाशमी के जननाट्य मंच का 'हल्ला बोल', सुदर्शन मजीठिया का 'चौराहा', अजित पुष्कल का 'प्रजा इतिहास रचती है', राजेश कुमार का 'जनतंत्र के मुर्गे' और अन्य लेखकों की भी बहुत सी कृतियाँ नुक्कड़ विधा की तीव्रता और बुनावट लिये लिखी गयी और खेली गयी हैं।

**2.4.3.14 बाल रंगमंच :** बच्चों की क्षमता, समझ, उसके मनोरंजन एवं मनोवैज्ञानिक विकास को ध्यान में रखते हुए उनके लिए शिक्षाप्रद और मनोरंजक नाटक लिखने की तथा स्तरीय एवं आकर्षक प्रदर्शनों का आयोजन करने की प्रवृत्ति स्वतंत्रता के पश्चात् ही प्रारंभ हुई। आज बाल रंगमंच के महत्व को पहचानते हुए, उसके विकास को बढ़ावा देने की दृष्टि से ठोस कदम उठाये जा रहे हैं। आज़ादी के बाद, कलकत्ता में समर चटर्जी द्वारा 1952 में स्थापित सी.एल.टी यानी 'चिल्ड्रन लिटिल थियेटर' संभवतः इस क्षेत्र में पहला महत्वपूर्ण प्रयास था। दिल्ली में 1954 में स्थापित 'चिल्ड्रन्स लिटिल थियेटर' ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये जिसने 1971 में 'अखिल भारतीय बाल नाट्य महोत्सव' का आयोजन किया। इसके साथ ही कई बाल नाट्य मंडलियों का जन्म हुआ और कई रंगकर्मी निर्देशक ने इस के साथ जुड़कर पूरे देश में इसका व्यापक प्रचार भी किया। रेखा जैन के 'पूपू दीदी', 'वाल्मीकि प्रतिभा', 'खेल खिलौनों का संसार', इन्दर राज़दान के 'भौंडी बतख', चंद्रकांत सिन्हा के 'मेरा बचपन', नरेंद्र शर्मा के 'तितली' तथा 'चित्र और चित्रकार', बलराज पंडित निर्देशित 'बुद्धू राजकुमार', सुषमा सेठ निर्देशित 'राजा मांगे

[1]डॉ.गिरीश रस्तोगी-बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 2004, पृ.143

पसीना' और रवि शर्मा निर्देशित 'इन्द्र का आसन', 'नारद की चोटी' जैसे कई प्रदर्शन बाल रंगमंच की प्रयोगात्मक उपलब्धि कहे जा सकते हैं।

## 2.5 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं शताब्दी तक आते-आते स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच पर मंचीयता की दृष्टि से अनेकानेक सार्थक प्रयोग किए गए हैं। पहले यह प्रयोग प्रदर्शन से जुड़ा, फिर रंगशाला की दीवारों को तोड़कर जनगण से जुड़ गया। इसी क्रम में प्रस्तुति शैली, प्रदर्शन-विधि, मंच-शिल्प आदि में किए गए विभिन्न प्रयोगों के फलस्वरूप आज का हिंदी रंगमंच इतना उन्नत हो चुका है कि वह आज विश्व के किसी भी रंगमंच के समक्ष खड़े होने की ताकत रखता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक कथ्य, शिल्प और रंगमंच के सभी धरातलों पर प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति से भरा हुआ है और इस नाट्य धारा ने नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध को स्थापित करते हुए रंगमंच एवं दर्शकों से जुड़ने की नयी और आकर्षक पहल की है। प्रयोग ने नाटक में नवीनता की सृष्टि की है, नाटक को आकर्षक है बनाया है और हिदी नाटक की बहुमुखी संभावनाओं का संकेत दिया है। निस्संदेह स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य और रंगमंच, युग सत्य और युग बोध के साक्षात्कार का सशक्त माध्यम बनकर उभर रहा है और प्रयोग की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुज़रता हुआ निरंतर समृद्धि की ओर अग्रसर है।

.....ൠൠൠ.....

अध्याय तीन

# स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य नाटकों और मिथकीय नाटकों में प्रयोगधर्मिता

## 3.0 प्रस्तावना

नाट्यशास्त्र की परंपरा में भारतीय मनीषियों ने काव्य को नाटक से कभी भी पृथक नहीं समझा है। नाटक का जन्म ही संगीत, नृत्य और काव्य से हुआ है। नाटक को दृश्य काव्य के रूप में काव्य की ही विधा स्वीकारा गया था। संसार के सभी देशों के प्राचीनतम नाटक काव्य-प्रधान थे। लेकिन बीच में यथार्थवादी दृष्टिकोण के प्रभाव से काव्य को पद्य में सीमित रखकर नाटक पूर्णतः गद्य प्रधान होने लगे। गद्य नाटक जीवन को उसकी समग्रता में पूर्णतः प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं है। जीवन में बहुत कुछ है जो गद्य की क्षमता से परे है। इसलिए यदि नाटक के तत्वों के साथ काव्य रस को समाहित कर दिया जाए तो रचनाकार अपने भावों और विचारों को एक साथ ही कई विभिन्न स्तरों पर पूर्णतः अभिव्यक्त करने में समर्थ होगा। इसी के चलते युगीन स्थितियों तथा विभिन्न वादों के फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में काव्य रूप की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग हुए। काव्य-रूपों के प्रतिमान बदल गए। इनमें से काव्यनाटक का प्रयोग अत्याधिक सफल सिद्ध हुआ है। स्वातंत्र्योत्तर काल में कई प्रतिभाशाली रचनाकार इस काव्य रूप की ओर आकृष्ट हुए हैं। परिणामतः इसकी परंपरा समृद्ध हो रही है और आज तक प्रवहमान है।

## 3.1 काव्य नाटक : परिभाषा एवं स्वरूप

स्वातंत्र्योत्तर काव्य नाटक के लिए नाट्य-काव्य, गीति-नाट्य, संगीतिका, काव्य-रूपक, पद्य-नाटक, तथा नाट्य-काव्य आदि नाम प्रचलित हैं। इसके स्वरूप का विश्लेषण करते हुए समीक्षकों ने इसे उपर्युक्त कई नामों से संबोधित किया है। इस विधा को काव्य-नाटक कहें या नाट्य-काव्य इसके संबंध में आलोचकों में मतैक्य नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें काव्य और नाटक इन दो विधाओं का समन्वय रहता है। कभी-कभी इसमें इन दो विधाओं के तत्व इतने घुल-मिल जाते हैं कि इनका पार्थक्य सूक्ष्म अन्वेषण की माँग करता है। सच तो यह है कि "काव्य संवेदना, शिल्पगन नवीनता, भाषा सौष्ठव की स्वायत्तता तथा माध्यम की स्वतंत्रता के कारण नयी कविता काव्य और दृश्य को समन्वित एकरूपता से लेकर आयी है। कभी वह काव्य की ओर मुखरित होती है तो कभी नाटक की ओर। इसलिए कभी वह 'काव्य-नाटक' कहलाती है तो कभी 'नाट्य-काव्य'।"[1]

---

[1] डॉ. राजेश्वरी देवलिया-काव्य नाटकों का अभिव्यंजना-शिल्प, प्र. सं.1997, पृ.28

काव्य-नाटक को परिभाषित और विश्लेषित करते हुए भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। डॉ. सिद्धनाथ कुमार की मान्यता है कि, 'काव्यत्व और नाटकत्च इसमें ऐसे दृश्य की योजना कर देते हैं कि काव्यत्व के कारण मानव जीवन का राग-तत्व-भावनाएँ और अनुभूतियाँ अपनी तीव्र और वेगवती धारा में पाठक को बहा ले जाती हैं तथा नाटक-तत्च भी काव्य-नाटक के निर्माण में अपना महत्वपूर्ण योग देता है।"[1] वे आगे कहते हैं—"काव्य-नाटक में एक साथ ही मनुष्य का अन्तर्जीवन भी है, संघर्षों की कठोरता भी, व्यक्तिगत जीवन भी है, सामाजिक जीवन भी।"[2] प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, लय-तुक और अभिनेयता, 'काव्य-नाटक' की भाषा के प्रधान गुण हैं। काव्य-नाटक मूलतः स्वच्छंदतावादी चेतना एवं प्रस्तुतिकरणात्मक प्रदर्शन का वाहक है। काव्य-नाटक का यही वैशिष्ट्य उसके शिल्प को अन्य नाटकों से पृथक करता है तथा व्यापक, वास्तविक और विश्वसनीय बनाता है।

डॉ. बच्चन सिंह का कथन है कि गीति-तत्व के भीतर से ही नाटक सिरजा जाता है, अतः काव्यगत लय के कारण गीति-नाट्य पाठकों की संवेदनाओं और संवेगों के गहन स्तरों को उद्घाटित करने में अधिक समर्थ होता है।[3] वस्तुतः काव्य नाटक नाट्य साहित्य का वह रूप है जिसमें काव्यत्व और नाट्यत्व का एकीकरण है। यहाँ काव्य तत्व नाटक की आत्मा का निर्माण करता है और नाट्य तत्व उसके स्वरूप और कलेवर का। काव्य नाटक न तो ऐसा नाटक है जिसका माध्यम काव्य है और न ही केवल ऐसा नाटक है जिसकी विधि नाटक है। वह एक साथ ही ऐसी नाट्यकृति है जिसका धरातल और स्तर काव्यात्मक है और ऐसा काव्य है जिसकी अनिवार्यता नाटक है। काव्य नाटक में काव्यमयता और नाटकीयता दोनों तत्व इस तरह एक साथ घुल-मिल जाते हैं कि दर्शक अथवा पाठक को काव्य व नाटक दोनों का आनन्द एक साथ प्राप्त होता है। यहाँ नाट्य तत्व काव्यत्व से अभिषिक्त रहता है और काव्य तत्व भी नाटकीयता से अनुप्राणित रहता है। यहाँ कविता अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर अपने आपको नाटकीयता में विलीन कर देती है। इन नाटकों में कविता नाटकीयता की सहचरी बनकर आती है। कितनी भी उच्चस्तर की, मधुर व कोमल कविता क्यों न हो यदि वह नाटकीय प्रवाह में बाधक है तो वह व्यर्थ

---

[1] सिद्धनाथ कुमार-सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य नाटक-अपना दृष्टिकोण, प्र.सं.1954, पृ.7-8

[2] सिद्धनाथ कुमार-सृष्टि की सांझ और अन्य काव्य नाटक-अपना दृष्टिकोण, प्र.सं.1954, पृ.16

[3] श्रीकृष्ण सिहंल- हिन्दी गीतिनाट्य-भूमिका, प्र. सं.1964, पृ.11

है जैसा कि टी.एस.इलियट ने लिखा है – "यदि कविता केवल संभार और अलंकरण है और वह सहृदय को जब वह नाटक देख रहा हो, मात्र कविता सुनने का आनंद देती है तो वह सर्वथा व्यर्थ है।"[1] काव्य-नाटक में नाटक की आत्मा, उसकी कथावस्तु उसके पात्र सबके सब काव्यमय होते हैं। यहाँ काव्य और नाटक एक दूसरे में घुल मिल कर ही सौंदर्य की सृष्टि कर पाते हैं। यदि दोनों को एक दूसरे से पृथक कर दें तो काव्य नाटक का समस्त सौंदर्य ही विनष्ट हो जाता है। फिर भी काव्य नाटक है तो नाटक ही और इन काव्यनाटकों में अभिनेयता का तत्व भी महत्वपूर्ण होता है, ये श्रव्य या पाठ्य ही नहीं अभिनेय भी होते हैं, इनमें नाटकीयता भी होती है।

भारतीय एंव पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार भाव-नाट्य, गीति-नाट्य, पद्यनाट्य, नाटक-काव्य, संगीतिका, रूपक, नाटक-काव्य, काव्य-नाटक आदि सभी भेद अथवा प्रकार उस रचना के लिए किए गए हैं जिसके रूप बंध में काव्य और नाटकीयता का अन्योन्याश्रित समन्वय हो। कविता मूलतः पढ़ने और सुनने की विधा है। अतः यह श्रुति से संबंधित है और नाटक दृश्य और अभिनय से जुड़ी हुई कला है जिसका संबंध रंगमंच से है। दूसरे शब्दों में जिस कृति को उसकी अपरिवर्तनशीलता में ही मंचित किया जा सके या जिसे दृश्यबंध में उतारा जा सके अथवा जिसे लोग देख सकते हों वह कृति काव्य-नाटक या नाट्यकाव्य कही जा सकती है।

काव्य नाटक मानव के अंतर्जीवन तथा भावानुभूतियों को लेकर चलते हैं। इसलिए इनके नाटककार प्रायः पौराणिक या ऐतिहासिक कथानकों का चयन करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि काव्य नाटक युगीन समस्याओं से असम्बद्ध रहता है। काव्य नाटकों की विशेषता यह भी है कि उसमें बाह्य विस्तारों का उद्‌घाटन नहीं होता बल्कि इनका विषय आन्तरिक चिन्तन होता है। बाह्य संघर्षों का चित्रण भी मनः जगत के सत्यों का, अंतर्जगत के सघर्षों का उद्‌घाटन करने के लिए ही होता है। डॉ. लाल भी काव्य नाटकों की इसी विशेषता की ओर इंगित करते हुए लिखते हैं कि – "जो विशेष बात इस प्रसंग में आती है वह यह है कि इसमें बाहरी क्रियाशीलता और संघर्ष के स्थान पर मानसिक चित्रों का दृश्य ज़्यादा अभिव्यक्त है।"[2]

---

[1] T.S.Eliot-Selected Prose, First Published 1953, P.No.68

[2] डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल-आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 1973, पृ.10

काव्य नाटक के संवादों में गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग होता है। यों नाटक में गद्य या पद्य साधन मात्र है साध्य नहीं, किन्तु काव्य नाटक के लिए पद्य ही उपयुक्त हैं। कारण काव्य नाटक की विषय वस्तु मानव के आंतरिक जगत से सम्बद्ध होती है। इसका आधार मनुष्य का अंतर्जीवन है और मनुष्य के हृदय की रागात्मक अनुभूतियाँ जब बाहर आती हैं तो वे अपने तीव्रतम रूप में होती हैं और ऐसी स्थिति में भाषा अतिरंजित या काव्यात्मक हो उठती है। मनोविज्ञान कहता है कि तीव्र मनोभाव अतिरंजित वाणी की ओर झुकते हैं। टी.एस.इलियट ने भी कहा है कि "भावावेग के क्षणों में कविता की वाणी ही मानव हृदय की अभिव्यक्ति का स्वाभाविक साधन है।"[1]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि काव्य नाटक में कवि की कल्पना, भाव और बुद्धि का उत्कृष्ट संयोजन होना चाहिए। इसके साथ ही एक ऐसा जटिल संघात भी आवश्यक है जिसमें नाट्य तथा काव्य, वस्तु तथा व्यक्ति, पाठ्य तथा मंच, सभी तत्व आ जायें। इस दृष्टि से काव्य नाटक एक मार्मिक सृष्टि होती है जो जीवन के विस्तार की अपेक्षा जीवन की गहराई तक जाता है। उसका कथानक सुसंगठित और संश्लिष्ट होता है। उसमें एक ऐसा मनोवैज्ञानिक सत्य होता है जिसमें भावनाओं की तीव्रता के अनुपात में भाषा की लय पूर्णता बढ़ती ही जाती है। भावनाएँ जितनी गहरी होंगी, भाषा की लय उतनी ही विशिष्ट होगी। इसलिए काव्य नाटक में जीवन की तीव्र स्थिति की परिकल्पना के साथ ही लय पूर्ण भाषा में स्वाभाविक अभिव्यक्ति , वस्तु और विधान एकाकार होते हैं। काव्य नाटक संलाप योग्य होते हैं और उन्हें गेय छन्दों से मुक्त रखा जाता है, क्योंकि गेयता नौटंकी या संगीत रूपक का लक्षण है काव्य नाटक का नहीं। काव्य नाटक का छंद, स्वच्छंद और तुकहीन होता है। किन्तु गति और प्रवाह उसकी अनिवार्यता है इसलिए उसकी भाषा में व्यंजना की प्रधानता होनी चाहिए। पारदर्शी शब्दों में भाव की स्पष्टता परिलक्षित होनी चाहिए। प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, लय-तुक और अभिनेयता, 'काव्य-नाटक' की भाषा के प्रधानगुण हैं। काव्य नाटक मूलतः स्वच्छंदतावादी चेतना एवं प्रस्तुतीकरणात्मक प्रदर्शन का वाहक है। काव्य नाटक का यही वैशिष्ट्य उसके शिल्प को अन्य नाटकों से पृथक करता है तथा व्यापक, वास्तविक और विश्वसनीय बनाता है।[2]

---

[1] T.S.Eliot-Selected Prose, First Published 1953, P.No.70

[2] डॉ. राजेश्वरी देवलिया-काव्य नाटकों का अभिव्यंजना-शिल्प, प्र. सं.1997, पृ.31

## 3.2 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी काव्य नाटकों में प्रयोग

हिन्दी में काव्य नाटक का प्रारंभ कब हुआ, इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं है। डॉ. बच्चन सिंह ने जयशंकर प्रसाद के नाटक 'करुणालय' को हिन्दी का प्रथम काव्य नाटक माना है। प्रसाद जी के पश्चात् उदयशंकर भट्ट ने 'राधा', 'मत्स्यगंधा' आदि नाटकों की रचना कर इसे आगे बढ़ाया। आगे चलकर कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने रक्त शिखर, शिल्पी सौवर्ण आदि काव्य नाट्यों की रचना कर इस परम्परा को प्रौढ़ता प्रदान की किंतु वस्तु और शिल्प की दृष्टि से धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' (1955) से इस विधा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। यह कहना अनुचित न होगा कि 'अंधायुग' से ही काव्य नाटक का मानदण्ड निर्धारित हुआ। इसी की शैली पर आगे चलकर दुष्यन्त कुमार ने 'एक कंठ विषपायी', डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने 'सूखा सरोवर', अज्ञेय ने 'उत्तर प्रियदर्शी' और डॉ.सिद्धनाथ कुमार ने 'सृष्टि की साँझ', नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' आदि नाटकों की रचना की। स्वातंत्र्योत्तर युग के काव्यनाटक हिन्दी नाटक की प्रचलित परंपरा को छोड़कर सर्वथा नयी लीक अपनाता है। इसलिए इन नाटकों के कथ्य, नाट्यशिल्प और रंगमंचीय धरातल पर अनेक सार्थक और सफल प्रयोग हुए हैं।

### 3.2.1 कथ्यगत प्रयोग

स्वातंत्र्योत्तर युग के रचनाकार की मानसिकता वैज्ञानिक दृष्टिकोण, आधुनिक विचारधाराएँ, आधुनिकताबोध, मानव मूल्यों की नई व्याख्या, मनुष्य समाज का परिवर्तित स्वरूप, सभ्यता और संस्कृति के नये आयाम से रची गई है। अधिकांश रचनाकारों ने एक व्यापक आधुनिकबोध के अंतर्गत किसी-न-किसी विशेष प्रभाव अथवा विचारधारा का प्रतिपादन करने के लिए मिथक और इतिहास को आधार बनाया। इस प्रकार कथ्य के स्तर पर काव्य-नाटकों के तीन वर्ग हैं

3.2.1.1 **पुराण पर आधारित काव्य नाटक** जिसमें आधुनिक मानसिकता अथवा विचारधारा पुरा कथा की संस्कृतिगत सीमा के अंतर्गत अभिव्यक्त हुए है। जैसे धर्मवीर भारती का अंधायुग है। 'अंधायुग' पहला काव्यनाटक है जिसमें विस्तृत कथा वस्तु का आधार लेकर नाटककार ने पाँच अंकों के पूर्ण नाटक की रचना की। वर्तमान युद्धोत्तर कुंठा, संत्रास, नैराश्य, घृणा, हिंसा आदि प्रवृत्तियों के चित्रण के लिए कवि नाटककार ने महाभारत युद्ध के बाद की पृष्ठभूमि का बड़ी कुशलतापूर्वक चयन किया। इस परम्परा का अगला काव्यनाटक है दुष्यंत कुमार का 'एक कंठ विषपायी' ।

'एक कंठ विषपायी' में शिव का मिथ मानवीय समस्याओं के साथ उजागर होता है। शिव के भीतर किस प्रकार स्खलन आया, व्यक्तिगत पीड़ा को विध्वंसात्मक कार्यों के लिए लगाकर नये मूल्यों की रचना से वे क्यों निस्पृह और निश्चेष्ट हो गये? क्षणिक मृत्यु और अस्तित्व को ही उन्होंने अंतिम सत्य क्यों मान लिया? नाटक में परंपरा के इन प्रश्नों के साथ ही युद्ध के प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। इन दोनों काव्य नाटकों में युद्ध के परवर्ती प्रभावों को दिखाया गया है किन्तु नरेश मेहता ने अपने काव्य नाटक 'सशंय की एक रात' में युद्ध के पूर्व की समस्या पर राम लक्ष्मण व उनकी सेना द्वारा विचार विमर्श कराया है। नाटककार ने राम के मन में उठे संशय के द्वारा समस्त मानव जाति की शंका को प्रकट किया है। युद्ध और शांति की समस्या समस्त विश्व की समस्या है, सारी मानवता की समस्या है। नाटककार ने इस समस्या को विभिन्न माध्यमों से प्रस्तुत किया है। अन्त में राम के संशय पर कर्म की विजय दिखाकर गीता के कर्मवाद का प्रतिपादन कवि नाटककार ने किया है।

राम कथा के ही अन्य प्रसंग सीता बनवास को लेकर भारतभूषण अग्रवाल ने 'अग्निलीक' की रचना की है। इस नाट्यकृति का मुख्य विषय युग-युगों से शोषित, चिरपीड़िता, उपेक्षिता नारी की समस्या को प्रस्तुत करना है।

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठमहल' उनके प्रथम प्रकाशित काव्य नाटक है जिसका कथानक पौराणिक झलक लिए हुए काल्पनिक है। पौराणिक क्थानक की पृष्ठभूमि में नाटककार ने इस युगीन सत्य को व्यंजित किया है कि सभी शासन व्यवस्थाओं का स्वरूप एक सा होता है।

**3.2.1.2 ऐतिहासिक आधार पर लिखे गये नाटक-** जैसे कविवर अज्ञेय के काव्य-नाटक उत्तर प्रियदर्शी में कलिंग विजेता सम्राट अशोक को वैराग्य भावना, आत्म-साक्षात्कार, अहंकार मुक्त करुणा मूर्ति के रूप में चित्रित किया है। साथ ही युग सापेक्ष मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की गई है।

**3.2.1.3 वर्तमान समस्याओं को यथार्थवादी भूमि पर उठानेवाले काव्य-नाटक** -'प्रतिबद्ध' काव्य नाटक महेन्द्र कार्तिकेय द्वारा लिखित अपने समय की एक लेखक, पत्रकार और एक धनपति से जुड़ी कहानी है। रचनाकार ने यहाँ एक लेखक को नाटक की कथावस्तु का आधार बनाकर उसके द्वारा प्रतिपादित जीवन मूल्यों की स्थापना पर बल दिया है।

महेन्द्र कार्तिकेय के 'खंडित पांडुलिपि' मनुष्य के अपूर्ण होने की वैचारिक पृष्ठभूमि पर आधारित काव्य-नाटक है। 'अंधी यात्रा में' अनूप अशेष का एक ऐसा काव्य-नाटक है जो आधुनिक पात्रों के माध्यम से आधुनिक बोध की कहानी कहता है। दिविक रमेश के 'खंड-खंड अग्नि में' सीता के द्वारा उठाये गए प्रश्न अपने युग का यथार्थ प्रस्तुत करते हैं और आगे की रचनाधर्मिता का भी सूत्रपात्र करते हैं।

### 3.2.2 शिल्पगत प्रयोग

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य नाटकों में नाट्य शिल्प के स्तर पर अनेक प्रयोग हुए हैं। सभी काव्य नाटकों की रचनाशैली प्रतीकात्मक है। इसका कारण यह है कि सभी काव्यनाटकों में दोहरे कथानक का प्रयोग किया गया है। ऐतिहासिक पौराणिक अथवा लोक कथा पर आधारित इन नाटकों में प्रतीकों के माध्यम से युगीन सत्यों की व्यंजना की गई है। 'अंधायुग' में महाभारत काल के प्रतीकों को लेकर वर्तमान युग के दूसरे व संभावित तीसरे महायुद्ध की विभीषका का चित्रण है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य-नाटकों में अनेक भाव रूपों को अथवा स्थितियों को पात्रों के माध्यम से व्यक्त करने के लिए संवादों की योजना की गई है। उनसे नाटक के अभिप्रेत को संप्रेषित होने में सहयोग मिलता है। 'खंड-खंड अग्नि' में, उद्घोषणा, सन्नाटा, उत्तरदायित्व और हर्ष जैसे अशरीरी तत्त्वों को पात्र के रूप में प्रस्तुत करके उनके संवादों के द्वारा न केवल नाटक के कथ्य को स्पष्ट किया गया है अपितु संवाद संरचना में भी एक नयापन दिखाई देता है। अनूप अशेष के काव्य-नाटक 'अंधीयात्रा में' संवाद विचार बहुल होने से बच गए है। उनमें एक प्रकार से कथन, प्रतिकथन की कला विद्यमान है, यथा –

"संतरी : बीड़ी की तरह बुझकर
हम भी धुँआ-धुँआ हो जाते हैं
लोग हमें पत्थर कहते हैं
हम केवल धुँआते हैं।
धुँआ !
कुर्सी की निकटता जिन्हें
सहज सुलभ है
केवल वे जीवित हैं। मनुष्य हैं।
बाकी पशु हैं सभी।

बंदी : पशु हैं। बदतर हैं। प्रतिक्रियावाद के
धुँआ हैं हम लोग
कुर्सी की इयत्ता में
संभव हैं सारे आरोप।"[1]

काव्य नाटक की भाषा गद्यनाटक की सपाट से भिन्न काव्यात्मक और अनुभूति प्रधान होती है। काव्य नाटक की भाषा कहती कम है अनुभव अधिक कराती है। यदि ऐसा करने में वह अक्षम हो तो नाटक निष्प्राण हो जाता है। 'अंधायुग' में अभिधात्मक भाषा के बजाय काव्यनाटक के अनुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। बाह्य घटनाओं और बाह्य संघर्ष की अभिव्यक्ति के लिए सामान्य स्तर की गद्यात्मक भाषा भी सक्षम हो सकती है किन्तु आन्तरिक संवेगों एवं मनोभावों के सूक्ष्म चित्रों को अंकित करने वाली भाषा का काव्यमय हो जाना स्वाभाविक है।

### 3.2.3 रंगमंचीय प्रयोग

स्वातंत्रता प्राप्ति के बाद काव्य नाटककारों ने अपने काव्य नाटकों को रंगमंच से जोड़ने के पूर्ण प्रयास किये हैं। इन नाटकों में अनेक को रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत भी किया गया है। डॉ. जयदेव तनेजा काव्य नाटकों की अभिनेयता के संबंध में लिखते हैं- "काव्य नाटक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण उसकी नाटकीयता है, काव्यात्मकता का स्थान उसके बाद आता है। सच्चा काव्यनाटककार सदैव अपने समसामयिक रंगमंच के स्वरूप, उसकी रूढ़ियों, आवश्यकताओं और विकास की दिशाओं से पूर्णतः परिचित होता है और अपने नाट्यलेखन में उनका समुचित उपयोग भी करता है।"[2]

काव्य-नाटक के साथ रंगकर्मी की एक सबसे बड़ी परेशानी आलेख के कवित्व और नाट्य विधान के बीच संतुलन की होती है। लगभग प्रत्येक काव्य-नाटक के साथ यह समस्या सामने आती है। जब से सरकारी, गैर-सरकारी और अर्द्ध-सरकारी स्तर पर नाट्य विद्यालय खुले हैं तब से नाट्य मंचन के क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों में विभिन्न क्षेत्रों की लोकनाट्य शैलियों का भी योगदान अधिक है। कई महत्वपूर्ण काव्य-नाटक इन शैलियों के प्रभाव से मंचित हुए हैं। स्वयं अंधायुग को ही निर्देशकों ने अनेक

---

[1] अनूप अशेष-अंधीयात्रा में, प्र. सं. 1995, पृ.19

[2] मधुमति – दिसंबर 1979, पृ.81-82

शैलियों में प्रस्तुत किया है। अलकाजी ने अपने पहले की शैली से अलग काबुकी की शैली में मंचित किया। विभिन्न क्षेत्रीय शैलियों में नौटंकी, गिद्धा, भांगड़ा, लावणी, तमाशा, भवई, जात्रा आदि का भी आधुनिकता बोध के आधार पर परिवर्तित रूप दिखाई देता है। काव्य-नाटक इन क्षेत्रीय शैलियों के प्रभाव में कम ही मंचित हुए हैं।

मंच के नए स्वरूप ने मंचन की नई प्रणालियों में प्रयोगवादी और प्रतीकात्मक रूप में मंच को अधिक-से-अधिक सरल बनाने का प्रयास किया है। 'काठमहल', 'प्रेत शताब्दी' आदि नाटकों के मंचन में यथार्थवादी मंच को प्रश्रय मिला है। यह नाटक एक निर्देशक के द्वारा लिखा गया है, अतः इसमें वस्तुविन्यास की गरिमा के स्थान पर नाट्य अथवा रंग संयोजन पर अधिक ध्यान दिया गया। अलकापुरी के पात्रों का मुखौटा पहनना, यक्ष के आत्म-संघर्ष को स्त्री के रूप में प्रस्तुत करना मंच के नए प्रयोगों के अंतर्गत आता है। इसमें कथा कली और यक्षगान की शैली को अपनाया गया है।

रंगमंच के स्वरूप में रंगकर्म की निजी भारतीय पहचान और पश्चिमी रंगकर्म के प्रभाव के बीच संघर्ष ने रंगमंच को विकसित करने में योगदान दिया है। आजकल व्यवस्था, सत्ता का आतंक और सांप्रदायिकता, सामाजिक संबंधों के टूटने की ध्वनि काव्य-नाटकों में अधिक आने लगी है। इसको अभिव्यक्त करने वाली काव्यनाट्य कृतियाँ भी सामने आयी हैं। एक चक्रानगरी (ज्ञानेन्द्रपति), भूगोल राजा का खगोल राजा का (देवेन्द्र दीपक), प्रेत शताब्दी, आगामी आदमी (प्रभात कुमार भट्टाचार्य), अंधी यात्रा में (अनूप अशेष), प्रतिबद्ध (महेन्द्र कार्तिकेय), अग्नि पुरुष (विजेन्द्र) जैसी कृतियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन काव्य-नाटकों में कविता और नाटक की भाषा की समन्वयात्मकता में यह आरोप बहुत पीछे छूट गया है कि काव्य-नाटकों में मिथक और इतिहास अधिक है, सामाजिक यथार्थ और वर्तमान बोध कम। इसप्रकार स्वातंत्र्योत्तर युग में काव्य-नाटक अपने समूचे रंगविधान के साथ जहाँ एक ओर काव्यत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण बने वहीं दूसरी ओर नाट्यत्व की दृष्टि से भी। काव्य नाटक का निकष रंगमंच हो सकता है । इस तथ्य के साथ ही हिंदी काव्य-नाटकों ने नये प्रतिमानों की स्थापना की। इन काव्य नाटकों ने हिन्दी रंगमंच को गहरी कलात्मक सार्थकता दी और दोनों के अभिन्न सम्बन्ध को स्थपित किया।

आगामी पंक्तियों में प्रयोग के धरातल पर चार स्वातंत्र्योत्तर काव्य-नाटकों की रचनात्मक भूमिका को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया गया है।

## 3.3 धर्मवीर भारती : अंधायुग

डॉ.धर्मवीर भारती का योगदान काव्य-नाटक के क्षेत्र में महत्वपूर्ण रहा है। यद्यपि भारती ने अभी तक एक ही काव्य नाटक 'अंधायुग' लिखा है परंतु यह नाटक हिन्दी काव्य नाट्य परम्परा में एक नया मोड़ है। सर्वप्रथम 'अंधायुग' की प्रयोगधर्मिता उसके काव्य नाट्य के स्वरूप से सिद्ध होती है। यह हिन्दी में पहली ऐसी सशक्त नाट्य कृति है, जिसने काव्य नाट्य के मंचीय अस्तित्व को पूर्णतः सिद्ध किया है। 'अंधायुग' में कथ्य, नाट्यशिल्प और रंगशिल्प के तीनों स्तरों पर भी धर्मवीर भारती ने अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है।

### 3.3.1 कथ्यगत प्रयोग

वस्तु के स्तर पर 'अंधायुग' की प्रयोगशीलता महाभारत युद्ध के आख्यान को नयी नैतिक भंगिमा में प्रस्तुत कर उसके भीतर द्वितीय महायुद्ध के बाद के मानवीय संत्रास और यंत्रणा को उभारने में है। युद्ध में पक्ष चाहे सत्य का हो या असत्य का उसकी अन्तिम परिणति तो विनाश और विध्वंस ही है जिसे दोनों पक्ष ही भोगते हैं। धर्म का (पांडवों का) पक्ष लेकर लड़ने वाला इस काव्य-नाट्य का एक महत्वपूर्ण पात्र युयुत्सु भी यही अनुभव करता है-

"अन्तिम परिणति में
दोनों जर्जर करते हैं
पक्ष चाहे सत्य का हो
अथवा असत्य का!"[1]

महाभारत युद्ध के बाद की इस स्थिति के अन्वेषण द्वारा भारती ने महायुद्ध के बाद बल्कि युद्ध मात्र से पैदा होने वाली मूल्यहीनता, विघटन, अमानवीयता, व्यक्ति तथा सामूहिक स्तर पर टूटन को नाटक में उठाया है और एक अन्य स्तर पर यह विभाजन के बाद के भारत की मूल्यहीनता का पर्दाफ़ाश करता है। नाटक में इस विध्वंस और विघटन को उभारने के लिए भारती ने जीते और हारे हुए, दोनों ही पक्षों के पात्रों की मनःस्थितियों को प्रकाशित किया है। अपने-अपने स्तर पर वे सभी युद्धजन्य विघटन और मूलयांधता को झेल रहे हैं। अश्वत्थामा युधिष्ठिर के अर्ध सत्य के कारण जिस मनोग्रंथि का शिकार

[1] धर्मवीर भारती-अंधा युग, संस्करण.2002, पृ.44

हुआ है वह उससे पशुवत् हत्याएँ कराती है। नाटककार बीसवीं शती के युद्धों की विभीषिका से परिचित है, इसीलिए उन्होंने संभाव्य महायुद्ध के संकट की चेतावनी देने की चेष्टा की है।

चतुर्थ अंक में अश्वत्थामा का सर्व विनाशक ब्रह्मास्त्र फेंकना, आज के परमाणु युग में हाइड्रोजन बम एवं अन्य 'न्यूक्लियर' अस्त्रों-शस्त्रों की ओर संकेत करता है। व्यास के निम्नलिखित शब्दों में नाटककार ने ब्रह्मास्त्र की विभीषिका की ओर संकेत करते हुए इसके भीषण प्रभाव को भी व्यक्त किया है।

"यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु !
तो आगे आने वाली सदियों तक
पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुष्ठग्रस्त
सारी मनुष्य जाती बौनी हो जायेगी।"[1]

आज जो सारी दुनिया में शस्त्रास्त्रों की होड़ मची हुई है, नये-नये भयानक अस्त्रों का निर्माण हो रहा है, नाट्यकार ने इन शस्त्रास्त्रों की ओर संकेत करते हुए इनके माध्यम से उठने वाली समस्याओं को सामने लाने का प्रयत्न किया है।

अंधा युग के कथ्य में प्रख्यात कथावस्तु के साथ कतिपय उत्पाद्य प्रसंगों और पात्रों का भी समावेश किया गया है। युयुत्सु की आत्महत्या, अश्वत्थामा को कृष्ण की मृत्यु के प्रत्यक्ष दृष्टा के रूप में उपस्थित करना, अश्वत्थामा द्वारा वृद्ध याचक का वध, वृद्ध याचक (प्रेतकाया) को ही जरा नामक व्याध के रूप में प्रस्तुत करना आदि कई प्रसंग हैं, जिनमें प्रख्यात प्रसंगों में कुछ न कुछ परिवर्तन करके नाटककार ने प्रयोग के नये द्वार खोले हैं। दोनों प्रहरी, वृद्ध याचक और गूंगा सैनिक कल्पित पात्र हैं और उनसे सम्बन्धित घटनाएँ भी भारती जी की देन हैं। प्रख्यात कथावस्तु तो अपने युग विशेष की संवेदना को अभिव्यक्त करती है परन्तु उसे आधुनिक युग की संवेदना का संवाहक बनाने के लिए उनमें नवीन पात्र व घटनाओं को स्थान दिया गया है। वास्तव में इसप्रकार प्रख्यात कथावस्तु में किए गए गौण परिवर्तन और कुछ कल्पित पात्र और प्रसंगों के समावेश के द्वारा भारती ने मूल कथावस्तु में ऐसा लचकीलापन पैदा किया है कि वह दो युगों के अन्तराल को मिटाकर दोनों की संवेदना को बिम्बित करने में सफल निकला।

---

[1] धर्मवीर भारती-अंधा युग, संस्करण.2002, पृ.75

भारती ने कथानक को व्यवस्थित करने के प्रभावात्मक संघनन की पद्धति अपनाई है। इसके लिए कवि ने कई साधनों का सहारा लिया है – (क) मूल प्रसंगों के विस्तार को काट-छांट कर उन्हें संक्षिप्त, तीव्र और प्रतीकात्मक रूप दिया गया है, (ख) कहीं सम और कहीं विषम प्रभाव वाले प्रसंगों को एक दूसरे के समानान्तर या परस्पर सटाकर रखा गया है। युयुत्सु और गूंगे सैनिक के प्रसंगों को आमने-सामने रखकर कवि ने समूचे प्रसंग को तीखी संवेदना से भर दिया है। (ग) कहीं-कहीं कवि ने प्रमुख प्रसंगों के प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए अन्य छोटे-छोटे सहकारी प्रसंगों की सहायता ली है। कुरुक्षेत्र की दिशा में उड़ने वाले नरभक्षी गिद्धों के प्रसंग द्वारा युद्ध की भीषण परिणतियों को तीव्रता प्रदान की गई हैं (घ) कथा-गायनों के प्रयोग द्वारा भी कवि ने बहुत से प्रसंगों को समेटने और अंकों में पूर्वापर घनिष्टता लाकर, सम्पूर्ण कथानक को कसाव प्रदान किया है। (ङ) अंधायुग का कोई भी प्रसंग ऐसा नहीं है, जो स्थूल घटनामात्र के स्तर पर रह गया हो। सभी प्रसंग पात्रों के मन में गहरे उतर कर संवेदना और चिन्तन में अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि इस कृति के सभी पात्र संवेदनशील और चिन्तक है और सभी प्रसंग अर्थगर्भित और विचारोत्तेजक।[1]

### 3.3.2 शिल्पगत प्रयोग

'अन्धायुग' के शिल्पगत प्रयोग की अत्यन्त महत्वपूर्ण दिशा उसके नये नाट्य रूप की खोज में उजागर हुई है। भारती ने इस खोज के लिए संस्कृत, पाश्चात्य, लोकनाट्य और पारसी रंगमंच सभी परम्परागत रंग पद्धतियों को आधार बनाया है। नाटक का आरम्भ मंगलाचरण और प्रस्तावना से होता है जोकि संस्कृत नाट्य से ही प्रेरित लगता है लेकिन वस्तु-संघटना या रंग-विधान के अन्य तत्व संस्कृत नाटक की पद्धति के अनुरूप नहीं है। नाटक की संघटना लोकनाट्य के अधिक अनुरूप बैठती है। लोकनाट्य में जिस प्रकार कथा-गायन के बाद मुख्य व्यापार होता है और बार-बार कार्य व्यापार के निश्चित टुकड़ों के बाद कथा-गायन के द्वारा घटनात्मक सूत्रों को जोड़ा जाता है और नाटकीय व्यापार पर टिप्पणियाँ और विश्लेषण किया जाता है वैसे ही यहाँ भी हर अंक के शुरू और अन्त में कथा-गायन रखा गया है। महाभारत युद्ध की स्थिति का नयी आधुनिक दृष्टि से विश्लेषण करने और उसे आज की मनः स्थिति के साथ जोड़ने का कार्य मुख्यतः इन कथा-गायनों द्वारा हुआ है। इस प्रकार अंधायुग के नाट्य शिल्पगत प्रयोग उसकी वस्तुयोजना के साथ अत्यंत संश्लिष्ट है।

---

[1] डॉ. रेखा गुप्ता –हिन्दी रंगमंच : विविध आयाम, प्र.सं.1996, पृ.148-149

'अंधायुग' की भाषा और संवादों की शैली भी प्रयोगधर्मी हैं। यद्यपि काव्यनाटक होने के कारण नाटक के सारे संवाद कविता में हैं तथापि सारे संवादों की कविता का स्तर एक न होकर विविधतापूर्ण है। अलग-अलग पात्रों के अलग-अलग संवादों में अलग-अलग प्रकार की लयबद्धता का प्रयोग किया ही गया है। जो पात्र जिस मनःस्थिति का प्रतीक है, उसी के अनुरूप भाषाशैली का भी विविध-स्तरीय प्रयोग भी नाटककार ने यहाँ किया है। अश्वत्थामा की भाषा में उसकी बर्बरता और हिंस्र पशुता झलकती है। तो कृष्ण के संवादों में उनकी उदासीनता व्यक्त है। इसी प्रकार शेष पात्रों के संवाद संशय और द्वंद्वग्रस्त मनः स्थितियों को अभिव्यक्त करने में सफल हैं।

### 3.3.3 रंगमंचीय प्रयोग

'अंधायुग' में कथ्य के स्तर पर एक ओर गहन मानवीय सत्य को उपलब्ध किया गया है तो दूसरी ओर रंगमंच के स्तर पर एक नवीन मौलिक प्रयोगात्मक शैली की खोज की गयी। वस्तुतः 'अंधायुग' ने प्रथम बार काव्य और नाटक के गहन आंतरिक संबन्धों को उद्‌घाटित करने के साथ-साथ काव्य-नाटक के विकास के क्षेत्र में एक स्वस्थ और नवीन मोड़ उपस्थित किया। रंगमंच की समस्त विशेषताओं, काव्यत्व, नाटकत्व, जीवन से संबद्धता, प्रतीकात्मकता, कथा-संगठन, पात्रों के व्यक्तित्व के मार्मिक अंकन, गीत-संगीत, छंद की नवीनता और लय, क्थोपकथन की उचित संयोजना, कला की सोद्देश्यता आदि सभी मानदण्डों पर यह खरा उतरता है। 'अंधायुग' ने हिंदी नाटक को ही नहीं हिंदी रंगमंच को भी गहरी कलात्मक सार्थकता दी है और दोनों के अभिन्न संबन्धों को बड़ी तीव्रता से स्थापित भी किया है।

नाट्य में कुछ विशेष प्रकार के दृश्यों की परिकल्पना उसकी अभिनवप्रवृत्तियों को द्योतित करती है। ये दृश्य मुख्यतया निम्नलिखित है :

1. कौवे और उल्लू के युद्ध का दृश्य, जो नाटक की सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता में अभिवृद्धि करता है। यथा अश्वत्थामा की बर्बरता को उकसाकर नाटक को नया मोड़ देता है। पाशविक प्रवृत्तियों के चित्रण के संदर्भ में उल्लू को सोते हुए कौवे पर अँधेरी रात्रि में आक्रमण करने का दृश्य नाटक के संपूर्ण अनुभव को तीव्रता देता है।
2. इसी प्रकार 'अंतराल' की संपूर्ण परिकल्पना भी नाटक की प्रयोगधर्मिता में नया आयाम जोड़ती है। 'पंख, पहिये और पट्टियाँ' शीर्षक इस अंतराल में मंच पर

मकड़ी के जाले जैसी प्रकाश-रेखाएँ और प्रेतलोक जैसा वातावरण बनाया गया है जिससे भविष्य का प्रतीक वृद्ध याचक प्रेत के रूप में प्रवेश करता है और अपनी प्रेतशक्ति से युयुत्सु, विदुर आदि पात्रों को यांत्रिक गति से मंत्र मुग्ध स्थिति में एक पंक्ति में उपस्थित करता है। एक सम्मोहन की स्थिति में प्रत्येक पात्र अपने-आप को अनावृत्त करता है। पात्रों का यह विशिष्ट समूहन और फ्रीज़ या जड़ता में खड़े होने की स्थिति रंगशिल्प की दृष्टि से नयी दिशा की सूचक है।

3. बर्बरता व पाशविकता के परिवेश को और गहन बनाने के लिए जहाँ उपर्युक्त दृश्यबंध उचित हैं, वहीं मानवता व करुणा की शक्ति को सूचित करने के लिए चौथे अंक के अंत में नेपथ्य से वंशी-ध्वनि, कृष्ण की छाया का दिखायी देना और कृष्ण की ध्वनि का सुनायी पड़ना भी एक सफल प्रयोग है।

भारती ने पाश्चात्य यथार्थवादी नाटक की पूर्वावलोकन पद्धति और यथार्थवादी रंगमंच की समानांतर कार्य-व्यापार नियोजन की पद्धति को एक साथ मिलाकर एक नया प्रयोग किया है। चौथे अंक में संजय-गांधारी वार्तालाप में मंच के पिछले भाग पर पूर्वावलोकन पद्धति से कार्य व्यापार दिखाना और अगले भाग पर समानांतर चलता हुआ संजय-गांधारी का वार्तालाप का दृश्य इस काव्य नाटक का सुन्दर उदाहरण है।

डॉ. प्रेमपति लिखते हैं: "..... अपने पूर्वगामी हिंदी नाटकों में से किन्हीं अर्थों में 'अंधायुग' भिन्न है। इसमें कुछ स्पष्ट शिल्पगत विशेषताएँ मौजूद हैं, वे हैं :

1. संवादों का मुक्त छंद में होना।
2. आवश्यकतानुसार लय परिवर्तन करते रहना।
3. ग्रीक कोरस के निम्न वर्ग के पात्रों की भाँति दो प्रहरियों को पेश करना।
4. अंतराल में वृत्तगंधी पद्य का प्रयोग करना और
5. कथानक में कुछ उत्पाद्य तत्वों का समावेश।" [1]

इसमें कोई शक नहीं है कि हिंदी नाट्य परंपरा में 'अंधायुग' पहला नाटक है जिसमें इन पाँच तकनीकी विशेषताओं को एक जगह काम में लाया गया है। प्रयोग की दृष्टि से 'अंधायुग' बहुत महत्वपूर्ण कृति है क्योंकि बाहरी तौर पर लिपटवां परदे वाले पारसी और यथार्थवादी सन्दूकिया रंगमंच के मिले-जुले 'रूप' को स्वीकार करते हुए भी 'अंधायुग' की आंतरिक संरचना इस बाह्य, आरोपित रंगमंच के ढ़ांचे को तोड़कर उससे

[1] डॉ. ज्ञानसिंह मान-आधुनिक साहित्य दिशा और दृष्टि, प्र.सं. 1980, पृ.75

बाहर निकलना चाहती है और अपने विराट व्यापक कथ्य के अनुरूप मुक्ताकाशी अयथार्थवादी रंगमंच की मांग करती है। और यह मांग कृति के अन्तर की बहुत तीखी और सच्ची पुकार है जो हिन्दी नाट्य के लिए नयी सम्भावनाएँ जगाती है।

लगभग सभी शैलियों, रूपों और मंचों पर 'अंधायुग' के अब तक जितने प्रयोग किए गए हैं, उतने संभवतः किसी भी भारतीय भाषा के किसी एक नाटक के साथ नहीं हुए। इसकी प्रथम मंचीय प्रस्तुति मुम्बई में सत्यदेव दुबे के सत्प्रयास से खुले आकाश के नीचे की गई तो दिल्ली में इब्राहिम अलकाज़ी ने फिरोज़शाह कोटला, ताल कटोरा के खण्डहरों तथा पुराने किले की तीन अलग-अलग प्रस्तुतियों में इसे एक विराट आयाम देने की कोशिश की। रवि वासवानी ने इसे आधुनिक रंग-रूप देकर लगभग मनोशारीरिक रंग-शैली में प्रस्तुत किया तो एम.के.रैना ने पारंपरित लोक रंग-तत्वों का कल्पनाशील प्रयोग करके इसे एक तूतन भंगिमा प्रदान की। मराठी में कमलाकर सोनटक्के तथा मणिपुरी में रतन थियम को इसे सफलतापूर्वक प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है। अन्ततः हम कह सकते हैं कि अपनी तमाम सीमाओं और कुछेक कमज़ोरियों के बावजूद अंधायुग केवल हिंदी ही नहीं वरन समस्त भारतीय भाषाओं के आधुनिक नाटक और रंगमंच की एक श्रेष्ट और अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है।[1]

## 3.4 डॉ.विनय : एक प्रश्नमृत्यु

'एक प्रश्न-मृत्यु' (1985) महाभारत-युद्ध की पृष्ठभूमि पर आधारित विनय का काव्य-नाटक है। कुंती, द्रौपदी तथा राधा(कर्ण की दूसरी माँ) - इन तीन नारी-चरित्रों की मनःस्थितियों और युद्ध को लेकर उनके मानसिक द्वंद्व को नाटककार ने प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है। इसी दृष्टि से यह नाटक एक व्यापक मानवीय त्रासदी का रेखांकन भी करता है जो पौराणिक होने के साथ-साथ समकालीन भी है। इस नाटक में कथ्य, नाट्यशिल्प और रंगशिल्प के तीनों धरातल पर नवीन उद्भावनाओं का समावेश किया गया है जिसके कारण यह एक उल्लेख्य प्रयोगधर्मी कृति बन गया है।

### 3.4.1 कथ्यगत प्रयोग

महाभारत के कथानक और पात्रों के आधार पर लिखा गया यह काव्य नाटक भारतीय सांस्कृतिक प्रश्नों, नैतिक आदर्शों, मानवीय मूल्यों का, उच्च आध्यात्मिक मूल्यों का नाटक है। कुंती, कर्ण और द्रौपदी तीनों ऐसे चरित्र हैं जो परिवार, समाज, वैयक्तिक

---

[1] जयदेव तनेजा-आज के हिन्दी रंग नाटक, प्र.सं.1980, पृ.43-44

नैतिकता, सामाजिक नैतिकता, स्त्री-पुरुष के व्यक्तित्व-विभाजन, द्वंद्व, व्यक्ति के खण्डित अहं और सत्य एवं असत्य की नयी अवधारणाओं को, अनेक प्रश्नों को समकालीन संदर्भ में स्वतः उठाते हैं। [1]

नाटक के निर्देशक अतुलवीर अरोड़ा ने इसे 'इन्सानी कीमतों का आध्यात्मिक नाटक कहा है "जिनके अभाव में कोई भी संस्कृति अपने जरूरी फैसलों के साथ किसी ठोस ज़मीन पर खड़ी नहीं हो सकती। सृजन और विनाश, विनाश और सृजन की आपसी टकराहट से भरा हुआ यह नाटक एक बृहत्तर मानव त्रासदी को प्रस्तावित करता है। यह त्रासदी परिस्थितियों के बीच वर्तुल नियति के चक्र में फंसी हुई सम्पूर्ण मनुष्य-समष्टि के बीचों-बीच घट रही है जिससे बचाव, हमसे और हमारी मानवीय स्थिति से बाहर-कहीं भी-पूरी सृष्टि में नहीं। परिवार, वर्ग-समाज, व्यक्ति-व्यक्ति और उसकी वैयक्तिक नैतिकताएँ, समाज और समाज की सामाजिक नैतिकताएँ पुरुष-सत्ता के समाज में नारी का शोषण - विभाजन और अपमानित व्यक्ति-व्यक्ति का खण्डित अहं, धर्म और अधर्म - सत्य और असत्य के शिखरों के रूप; उसकी बदलती परिभाषाएँ- ये तमाम सवाल एक नए त्रिकोण के माध्यम से उठाए गए हैं। यह नया त्रिकोण महाभारत से लिए गए कुंती, कर्ण, और द्रौपदी के प्रसंग का है। एकदम अनछुआ।"[2] सर्जनात्मक मूल्य की दृष्टि से विनय के इस काव्य-नाटक के तीन प्रयोगधर्मी आयाम हैं-

1. मृत्युञ्जय कलाकार की मौलिक उद्‌भावना। जहाँ उनकी बातचीत में कुंती का उछाह-भरा वात्सल्य ही व्यक्त नहीं होता कलाकार की कला-रचना की प्रक्रिया का दर्द भी स्पष्ट होता है।
2. कुंती और सूर्य के संवादों में व्यक्तिगर और सामाजिक नैतिकता के जिस द्वन्द्व को विनय ने साकार किया है वह रेखांकित करने योग्य है-

"सप्तपदी इतनी निर्णायक होती है क्या
कर्म की समानता में भेद कर देती है
मेरी यह पीड़ा-कौन समझेगा आर्य?
क्या करूँ अकेली थी

[1] गिरीश रस्तोगी-समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष-चेतना, प्र. सं.1990, पृ.216
[2] विनय- एक प्रश्न मृत्यु-(निर्देशकीय बात-अतुलवीर अरोड़ा), प्र.सं.1985

नदी के किनारे जब प्राणों का अंश
प्रवाहित कर रही थी मैं
आज भी वैसी ही निपट अकेली हूँ
अपने उबलते रक्त के छींटों में
कहने न कहने की यातना लिए हुए।[1]

3. द्रौपदी और कुंती का वचनों के स्तर पर स्वाभाविक द्वन्द्व जिसे चित्रशैली में विनय ने कुशल कवि की भाँति अपनी तूलिका से अनेक रंगी बना दिया है। वात्सल्य भयातुरता, भय, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध सबके कोमल-परुष रंग द्रौपदी और कुंती में साकार हैं।[2]

कर्ण की अन्तिम भावना को व्यक्त करने के लिए जिस सैनिक की कल्पना विनय ने की है, वह भी नितांत मौलिक प्रयोग है। वस्तुतः कथ्य का मेरुदंड प्राचीन होते हुए भी इस काव्य-नाटक में आधुनिक मनोविज्ञान के प्रभाव से युगानुकूल लचीलापन आ गया है जो स्वयं नवीन तथा मौलिक है।

### 3.4.2 शिल्पगत प्रयोग

शिल्प के स्तर पर इसमें 'अंधायुग' की भाँति कोरस का प्रयोग है, पर कथागायन और संगीत का उपयोग विनय ने नहीं किया है। वस्तु के स्तर पर चित्रकार द्वारा अपनी कल्पना से शिशु कर्ण का चित्र बनाकर कुंती के समने उसे लाना नाटक की विडंबनामय स्थितियों को गहराई देता है। कर्ण के वध के पश्चात् द्रौपदी, कुंती तथा राधा का युद्धभूमि में मिलन भी एक अत्यंत कारुणिक भावप्रवण स्थिति को निर्मित कर नाटक को नयी परिणति प्रदान करता है।

संवादों में जहाँ महाभारत युद्ध की भयानक अनुभूति चित्रित है वहीं आधुनिक युद्धों का विनाशकारी रूप भी उसके साथ जुड़ा हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए 'एक प्रश्न मृत्यु' में एक सैनिक प्रश्नों में छिपी मृत्यु को उछालता है जो वस्तुतः अणु बम, न्यूक्लीयर बम की ओर ही संकेत करता है –

सैनिक 1- खड़ग का अवसर ही कहाँ आ पाएगा।
बड़े-बड़े मारक अस्त्रों के सामने।
किसी भी महारथी का एक विषैला तीर

---

[1] विनय- एक प्रश्न मृत्यु , प्र.सं.1985,पृ.57

[2] डॉ.सुरेश गौतम, वीणा गौतम-अंधायुग की रचना-मानसिकता, प्र.सं.2003, पृ.155

कर देगा सब कुछ समाप्त।
सब कुछ समाप्त।"

काव्य-नाटक की भाषा के साथ एक विशेषता यह भी जुड़ी है कि उसमें कवित्व की शक्ति और दृश्यमयता दोनों का भार वहन करने का दायित्व होता है। भावमयता के क्षणों में नाटकीयता के साथ-साथ कविता मुखर हो उठती है। मन की स्थिति एक-एक शब्द में अभिव्यक्त होती है। 'एक प्रश्न मृत्यु' की द्रौपदी की दो भावभूमियाँ द्रष्टव्य हैं-

"कैसे कह पाऊँगी अनुभव के गहरे क्षण
अनुभव के गहरे क्षण कितने तरल होते हैं!
फिर भी आँधी के आवेग से आते हैं कक्षा में
और जलप्रवाह से रोमावलि भिगोकर
अंतर ही अंतर में
बिना ध्वनि बिना रूप
ओस के कणों से,
मुंदी हुई पलकों में
मृग छोंने से आकर
छिपकर बैठते हैं।"[1]

यहाँ तरल, आँधी के आवेग, जल प्रवाह रोमावलि, ओस के कण, मुंदी हुई पलकें, मृग छोने आदि शब्दों के प्रयोग से अर्जुन के प्रति द्रौपदी के अंतरमन की भावना की अभिव्यक्ति होती है। इसके विपरीत जब द्रौपदी कर्ण के वध का समाचार सुनती है तो भाषा एकदम बदल जाती है; क्योंकि द्रौपदी का अंतरमंथन थम जाता है। वह जैसे एकदम विश्राम के स्तर पर आ जाती है।

"रक्त के उबाल में यह कैसी विचित्र शांति है
धीरे-धीरे उतरती हुई।
शरीर, मन, आत्मा तक को
जैसे सहलाती हुई।"[2]

यहाँ 'सहलाती' जैसे शब्द का प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

---

[1] विनय- एक प्रश्न मृत्यु , प्र.सं.1985,पृ.66
[2] विनय- एक प्रश्न मृत्यु , प्र.सं.1985,पृ.110

### 3.4.3 रंगमंचीय प्रयोग

पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित इस नाटक के प्रारंभ में एक स्थापना दृश्य है जिसमें नाटक की विषय वस्तु का पूर्वाभास दिया गया है। 'एक प्रश्न मृत्यु' में स्थापना से महाभारत के युद्ध की तथा उस युद्ध से कुंती के मन में उभरे हुए द्वंद्व की सूचना मिलती है।

स्वर एक : माता के मन में आंदोलित हो
विचलित हो गया था
कोमल-सा एक क्षण!
समवेत स्वर : एक मृत्यु प्रश्न बन कर थी उसके सामने
एक प्रश्न मृत्यु-सा विस्तृत हो फैल गया।[1]

मंचीयता की दृष्टि से इस स्थापना के बाद कुंती के अधिकांश संवाद दर्शक के मन में उतरते जाते हैं। इसप्रकार आधुनिक नाट्य लेखन के भीतर अपने आप एक रंगमंच विकसित होता है जो उसमें कमी रह जाती है वह निर्देशक के द्वारा पूरी हो जाती है। डॉ. विनय ने संगीत और गायन को महत्व न देकर रंगमंचीय स्थितियों और दो विरोधी व्यक्तित्वों या दृष्टियों से उत्पन्न तनावग्रस्त क्रियाओं को महत्व दिया है । जहाँ कुंती-द्रौपदी, कर्ण-युधिष्ठिर, कुंती-कर्ण, कर्ण-अर्जुन के एक-दूसरे को काटते मर्मवाक्य निकलते हैं- रंगमंच स्वतः जीवित हो उठता है। मानवीय त्रासदी को मूर्त करने के लिए कुंती, कर्ण, द्रौपदी के अतिरिक्त महाभारत का कोई पात्र उतना सशक्त आधार नहीं हो सकता। इस त्रासदी को अलग-अलग स्तर पर पहली बार इस काव्य नाटक में उतारा गया है जो नाटककार की प्रयोगधर्मिता का परिचायक है।

## 3.5 प्रभातकुमार भट्टाचार्य :काठ महल

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'काठमहल' इनका प्रथम प्रकाशित काव्य नाटक है। 'काठमहल' की कथा वस्तु कालिदास के 'मेघदूत' से अनुप्राणित है। मिथकीय यक्ष के माध्यम से 'काठमहल' साधारण शोषित एवं पीड़ित जन की कथा को दृश्यात्मकता में प्रस्तुत करता है जिसके चलते इस काव्यनाटक के कथ्य, शिल्प और रंगमंच पर अनेक प्रयोग हुए हैं।

---

[1] विनय- एक प्रश्न मृत्यु , प्र.सं.1985,पृ.17

### 3.5.1 कथ्यगत प्रयोग

प्रभात कुमार भट्टाचार्य का 'अभिशप्त यक्ष' के नाम से मंचित और 'काठ महल' के नाम से प्रकाशित यह काव्य-नाटक एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रयोगधर्मी रचना है। मिथक और आधुनिकता के संयोग से निर्मित इस नाटक में नाटककार के अनुसार, "आम आदमी का मुक्ति के लिए भटकाव और संघर्ष कथा-बिन्दु है जिसके इर्द-गिर्द यह काव्य नाटक रचा गया है। इस रचना का केन्द्र बिन्दु है वह आक्रामक व्यवस्था जो बार-बर मुखौटे बदलती है, और परिवेश की सतह पर उसी के द्वारा थोपी गई जड़ता में हलचल के जन्मते ही, अपना संदर्भ बदल देती है। आदमी और व्यवस्था के बीच कशमकश का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, और उसमें राजनीतिक सिद्धांतों की भागीदारी, और दो अलग-अलग स्तरों के निर्वाह में वास्तविक के साथ मिथ को जोड़ना, यही था वह कैन्वस जिस पर यह काव्य नाटक रचा गया।"[1]

पाँच अंकों में विभक्त इस नाटक में रचनाकार ने एक साहित्यिक मिथक संदर्भ के माध्यम से सामंतवाद से लेकर प्रजातंत्र तक की इतिहास यात्रा प्रस्तुत की है जिसमें पूंजीवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद, हेगल, मार्क्स, नीत्शे, गांधी और फ्राइड इत्यादि सभी को समेटने का प्रयास किया है। प्रत्येक व्यवस्था यक्ष-मुक्ति या आम आदमी के उद्धार के नाम पर सामान्य जन को अंधा-गूंगा और बहरा बनाकर अपना उल्लू सीधा करती है। एक लंबे संघर्ष के बाद यक्ष को यह जीवन सत्य उपलब्ध होता है कि-

"शायद कठपुतली बने रहना
मेरी नियति का
एकमात्र निर्धारित सत्य है।"[2]

"सामान्य जन-जीवन की विडम्बना, विरूपता का पौराणिक पीठिका पर आधुनिक जीवन-संदर्भों का चित्रण नाटक का मूल ध्येय है। निरंकुश राजतन्त्र से लेकर आधुनिक प्रजातंत्र तक सभी शासनतंत्रों ने व्यवस्था का परिचालन अपनी स्वार्थसिद्धि की दृष्टि से किया है और इसमें निश्चित रूप से सामान्य व्यक्ति निरंतर शोषित हुआ है। प्रत्येक शासन

---

[1] प्रभातकुमार भट्टाचार्य :काठ महल(पहले संस्करण की भूमिका), संस्करण-1988, पृ.13

[2] प्रभातकुमार भट्टाचार्य :काठ महल, संस्करण-1988, पृ.169

अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए जनता को यथार्थबोध से दूर रख जड़, अनभिज्ञ और चेतनाशून्य बनाये रखने का सफल-असफल प्रयत्न करता रहा है। धनपति कुबेर द्वारा लाचार जनता का शोषण और चुनाव स्वातन्त्र्य को लेकर यक्ष-यक्षिणी की दुखद परिणति में से कुछ ऐसे शाश्वत प्रश्न उभर कर हमारे समक्ष आते हैं जो व्यतीत-अतीत में विद्यमान थे, वर्तमान में अपनी अपनी सम्पूर्ण नग्नता के साथ हैं और शायद भविष्य में भी रहेंगे। ये प्रश्न हैं--- शासक और शासित के परस्पर सम्बन्धों का आदर्श एवं व्यावहारिक स्वरूप क्या हो सकता है? प्रजातन्त्र क्या नई बोतल में पुरानी शराब नहीं है? क्या प्रजातन्त्र का कोई विकल्प संभव नहीं है? आदि आदि। इस रूप में भूत, भविष्य और वर्तमान परस्पर सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए काल-प्रवाह का एक नैरंतर्य प्रस्तुत करते हैं। नाटक का कथ्य ऐतिहासिक-पौराणिक हो या न हो, किन्तु अपनी संभावना में यह इतिहास से अधिक महत्व और मूल्य अर्जित कर लेता है। मिथक तो मात्र एक उपकरण हैं; नाटककार की मूल निष्ठा तो नाटक की वैचारिकता में है और इस दृष्टि से यक्ष और उसकी पत्नी के उत्पीड़न का पौराणिक आख्यान, समसामयिक समाज-चेतना और सोच में विलीन होता देखा जा सकता हैं। यक्ष का जीवन जिस व्यर्थता, और पीड़ाबोध को जन्म देता है उसका कोई समाधान प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं देता और न यह नाटककार का अभिप्रेत ही प्रतीत होता है। नाटक का प्रयोजन समाधान प्रस्तुत करना या दिशानिर्देश देना नहीं है वरन् प्रश्नचिन्हों से साक्षात्कार कराना है, युगसत्य और मानवीय यथार्थ की पहचान देना है, कुव्यवस्था के अत्याचारों के प्रति लोक को सचेत, सजग कर संघर्ष के लिए प्रेरित करना है। इस प्रकार यह नाटक सामाजिक दायित्वबोध के इस पक्ष को रेखांकित करता है।"[1] इसी में इस नाटक की सफलता और प्रयोगधर्मिता देखी जा सकती है।

इसप्रकार नाटक यह चेतावनी देता है कि साधरण जन की मुक्ति तब तक संभव नहीं है जब तक कि वह छलावे के जाल को तोड़ना नहीं सीख लेता है। छलावा देने वाले शासक बदलते रहेंगे किन्तु उसकी स्थिति ज्यों की त्यों दुर्दशापूर्ण बनी रहेगी। इस अर्थ में नाटक निराशा की स्थिति में समाप्त होते हुये भी अनास्था और निराशा का नहीं बल्कि

[1] डॉ. विनय - समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच- डॉ. ब्रजराज किशोर-काठमहल, प्र.सं. 1981, पृ.204

नये संकल्पों और नई चेतना को धारण करने की आवश्यकता को प्रकट करने वाला नाटक भी माना जा सकता है।

### 3.5.2 शिल्पगत प्रयोग

कथ्य के धरातल पर यह कृति एक नाटकीय और विडंबनापूर्ण स्थिति से गुज़रती है और नाटककार ने अपने व्यावहारिक रंगमंच ज्ञान का भरपूर इस्तेमाल करते हुए इसे एक रोचक एवं प्रयोगधर्मी शिल्प-विधान में बांधा है। प्रत्येक अंक के बीच कई एक दृश्य-परिवर्तनों की अलिखित योजना है जिन्हें प्रकाश-व्यवस्था के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

शिल्प की दृष्टि से शीर्षक से लेकर पात्र सर्जना, दृश्ययोजना-उद्देश्य आदि में व्याप्त प्रतीकत्व स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। यह प्रतीकात्मकता निश्चय ही पात्रों और प्रसंगों को तर्कसम्मत एक नयी अर्थवत्ता प्रदान कर पाठकों-प्रेक्षकों को वर्तमान समस्याओं को समझने के लिए एक जीवन दृष्टि देती है। यक्ष की प्रतीकात्मकता असंदिग्ध है। वह एक व्यष्टि नहीं, पूरी समष्टि है, क्योंकि वह सामन्य जन और उसकी मुक्ति की महत्वाकांक्षा का प्रतीक पात्र है। नाटक में ग्रामवृद्ध की अवतारणा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन क्षीण रूप में ही सही संकेतित करती है। हृदयपरिवर्तन शांति और अहिंसा के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक क्रान्ति में संलग्न ग्रामवृद्ध एक व्यक्ति नहीं, संस्था है।

काठमहल उस व्यवस्था का प्रतीक है जो ऊपर से तो बहुत भव्य दिखाई देती है किन्तु जिसके ढ़ह जाने में पल नहीं लगता तथा जिसमें असंख्य दीमकें लगी हुई हैं जो उसे भीतर से खोखला किए हुए हैं। अभिशप्त यक्ष प्रतीक है उस आम आदमी का जो इस व्यवस्था द्वारा थोपी गई जड़ता के विरुद्ध विद्रोह तो करता है किन्तु मुक्ति के संघर्ष में वह भटकता ही रहता है।

इस नाटक का संवाद मुक्त छंद में है और भाषा बिंबात्मक। परिस्थिति और मनः स्थिति के अनुरूप लय-परिवर्तन की योजना की गई है। तीसरे अंक में ज़्यादातर यक्ष का आत्म-चिंतन और अंतर्द्वंद्व है जिसे नाटककार ने 'दूसरा', 'वह व्यक्ति' और 'अन्य व्यक्ति' जैसे पात्रों तथा फैंटेसी और स्वप्न दृश्यों जैसे शिल्प प्रयोगों से नाटकीय बनाने की

कोशिश की है। इसी अंक के मध्य में यक्ष का 168 पंक्तियों का लंबा एकालाप है जिसे 12 पॉज़ देकर तोड़ा गया है। इस अंश की भाषा अत्यंत लाक्षणिक, प्रतीकमयी और काव्यात्मक है।

### 3.5.3 रंगमंचीय प्रयोग

अतीत और वर्तमान के दो युगपत पहियों पर अवस्थित काठमहल में पारंपरिक, यथार्थसंपृक्त और लोकधर्मी शैलियों का प्रयोग स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक की प्रयोगशीलता के अनुरूप ही हुआ है। इस संदर्भ में प्रकाश-व्यवस्था का कुशल नियोजन, पूर्वदीप्ति, स्वप्न और फतांसी का प्रभावी प्रयोग दर्शाता है कि लेखक को रंगमंच के व्याकरण और मुहावरे का अच्छा ज्ञान है। नाटक की प्रथम प्रस्तुति बंसीकौल के निर्देशन में कथाकली और यक्षगान की शैली में हुई। मंच के तीन ओर दर्शक थे और पात्रों का आवागमन चारों दिशाओं से हो रहा था।

नाटक में प्राचीन नाटकीय युक्तियों यथा सूत्रधार, नटी आदि के प्रयोग किये गये हैं जो कथा को प्रारंभ करते हैं। इसके बाद इनका प्रयोग नहीं किया है। नाटक के प्रथम अंक में फ्लैश बैक पद्धति का प्रयोग किया गया है जहाँ यक्ष के स्मृति दृश्य द्वारा धनपति का यक्षिणी पर अत्याचार और यक्ष का विद्रोह दिखाया गया है। इस फ्लेश बैक के प्रारंभ होने के पूर्व मंच पर अंधकार कर यक्ष की गूँजती हुई आवाज़ प्रस्तुत की गई है और प्रकाश के साथ फ्लेश बैक प्रारंभ होता है। इसप्रकार नाटक में नाटकीयता का विधान किया गया है।

प्रथम अंक में ही यक्ष के अंतर्द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए एक पात्र 'दूसरा' का प्रवेश बड़े नाटकीय ढ़ंग से हुआ है। उसके आने के पूर्व गड़गड़ाहट आदि ध्वनियों व प्रकाश संयोजन द्वारा रहस्यात्मक वातावरण की सृष्टि की गई है। इसप्रकार शास्त्रीय, यथार्थवादी, प्रतीकात्मक, लोकधर्मी और शैलीबद्ध नाट्य रूढ़ियों के मौलिक प्रयोग से नाटककार ने इस कृति का अनूठा नाट्य-रूप उपलब्ध किया है।

## 3.6 दिविक रमेश : खण्ड-खण्ड अग्नि

दिविक रमेश द्वारा लिखित पाँच अंकों में विभक्त काव्य-नाटक 'खंड-खंड अग्नि' वाल्मीकी रामायण के युद्धकाण्ड की सीता की अग्नि-परीक्षा की कथा पर आधारित है। परंपरागत सीता परित्याग के प्रसंग को कवि दिविक रमेश ने इस काव्य

नाटक में आधुनिकता के नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। इसी कारण अपने कथ्य और प्रस्तुति में यह अपने जैसी पूर्व कृतियों का सार्थक अतिक्रमण कर सकी है और अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है।

### 3.6.1 कथ्यगत प्रयोग

प्रस्तुत काव्य-नाटक में रचनाकार ने मिथकीय आधार लेते हुए भी मिथक की पारंपरिक चेतना को छोड़कर समसामयिक युगबोध से उपजी सामाजिक समस्या को संप्रेष्य वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक में सर्वतो भावेन समर्पित पतिपरायण' सीता को एक सजग मुक्तिकामी नारी के रूप में प्रस्तुत की गई है। पुरुष प्रधान समाज में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रश्न आज भी एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। इस प्रश्न को लेखक ने सीता के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति दी है। समाज की कल्पना पर भी इस काव्य-नाटक में यथार्थवादी दृष्टि से विचार किया गया है। सामाजिक जड़ताओं, रूढ़ियों और प्रतिगामी प्रवृत्तियों के विरुद्ध नीर क्षीर विवेकी शक्ति की आवश्यकता होती है और यही शक्ति दायित्व चेतना और मानवीय विकास का आधार बनती है। इस काव्य-नाटक में इन तथ्यों को भलीभाँति रेखांकित किया गया है।

इस काव्य-नाटक की सबसे बडी प्रयोगधर्मिता यही है कि रचना को समकालीनता से जोड़ने के लिए नाटककार ने उद्घोषणा, सन्नाटा, उत्तरदायित्व जैसे तत्त्वों की पात्र के रूप में उद्भावना की है। उनसे मूल पात्रों की मानसिकता का समर्थन होता है। खंड-खंड अग्नि में संपूर्ण कथा विन्यास की मूल प्रेरणा सीता के आहत होने में है। इससे तीन बातें उभरकर सामने आती हैं-

1. राजा का वंशवाद। जहाँ उसके लिए अपने कुल का कलंक धोना अधिक दायित्वपूर्ण कर्म होता है, पति धर्म नहीं।
2. स्त्री की शारीरिक पवित्रता का प्रश्न
3. समाज में स्त्री की बेचारगी तथा उसके 'स्व', अहं के प्रति उत्पन्न होता भाव और दृष्टिकोण, नारी के लिए एक संघर्ष की भूमिका तैयार करता है।

खंड-खंड अग्नि के राम अपने मिथकीय कलेवर से अलग संश्लिष्ट अनुभूति की परिधि में सोचने पर विवश होते हैं। आज का मनुष्य जीवन में बहुत ही व्यावहारिक हो गया है। राम भी व्यवहार में जीना चाहते हैं और इसी का प्रतिपादन करते हैं। कथ्य की दृष्टि से यही इस काव्य-नाटक का प्रयोग पक्ष है। राम का संवाद दृष्टव्य है-

"नहीं ! नहीं !
मैं नही हो सकता लोकोत्तर
अपवाद नही हूँ मैं अपनी दृष्टि में।
स्वीकार्य है मुझे, स्वीकार्य है
हूँ मैं संदेहग्रस्त
केवल व्यक्ति नहीं हूँ मैं, न आत्मा ही
एक वंश भी हूँ, लोक भी हूँ।"[1]

प्रस्तुत संवाद उनके द्वन्द्व अथवा आधुनिक रूप का द्योतक है। आज का मानव अपने को सही सिद्ध करने के तर्क में अनेक बातें कहने के लिए अभ्यस्त हो गया है। राम भी समाज और कुल का नाम लेकर अपनी व्यक्तिगत शंका छिपाना चाहता है। इसके प्रत्युत्तर में सीता भी आधुनिक नारी के समान यह कहने में संकोच नहीं करती कि राम भी रावण के समान पार्थिव है, अपार्थिव नहीं और वह राम के आचरण पर प्रहार करते हुए कहती है- "किसी और पर नहीं, अपने आप पर सीखें विश्वास करना राम..।"[2] सीता के इस कथन में राम को नई पार्थिव दृष्टि से देखा गया है।

ये सभी कथन और प्रश्न आधुनिक चेतना-संपन्न, तर्क-मंडित मानस की अभिव्यक्ति है। सीता की अग्नि परीक्षा नारी के प्यार, विश्वास और समर्पण की हत्या है और नाटककार ने अपनी इस कृति द्वारा युग-युगों से पीडित नारी की त्रासदी को अत्यंत मर्मस्पर्शी ढ़ंग से उकेरा है।

### 3.6.2 शिल्पगत प्रयोग

नाटककार ने कथा की संपूर्ण प्रस्तुति, उसके द्वारा उठाए गए समस्त पौराणिक संदर्भ और वैचारिक द्वन्द्व अर्थात् विचार, भाव, प्रस्तुति , कला, शिल्प, शैली एवं भाषा संबंधी सभी पहलुओं की सहज, स्वाभाविक एवं कव्यात्मक अभिव्यक्ति के द्वारा अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है। इस काव्य नाटक में कुल 17 पात्र हैं जिनमें रामकथा के सुपरिचित पात्र- राम, सीता, लक्ष्मण, हनुमान, सुग्रीव, विभीषण एवं सरमा, सात हैं। 'अग्नि' और 'पृथ्वी' की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। शेष आठ पात्र : उद्घोषण, सन्नाटा, हर्ष, सूचना, उत्सुकता, विश्वास, उत्तरदायित्व, संदेह और जनसमूह हैं जो मंच पर उपस्थित

---

[1] दिविक रमेश- खंड-खंड अग्नि, प्र. सं. 1994, पृ.33-34

[2] दिविक रमेश- खंड-खंड अग्नि, प्र. सं. 1994, पृ.75

पात्रों के लिए अदृश्य ही रहते हैं, किन्तु स्थितियों और पात्रों के मानसिक उद्वेलन एवं चिंतन को उभारने के लिए जिनकी उपस्थिति आवश्यक हो गई है। इन कल्पित पात्रों का गठन एक नया प्रयोग ही है।

इस काव्य नाटक की रचना की पृष्ठभूमि में रचनाकार ने सीता के माध्यम से वर्तमान काल में प्रचलित नारी स्वातंत्र्य और अस्मिता की खोज जैसे आन्दोलनों को मूल कथ्य के रूप में अपनाया है। उत्तरदायित्व, विश्वास जैसे प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से सीता अपने अस्तित्व की घोषणा करती हैं, अपने भविष्य को स्वयं चुनती हैं।

काव्य नाटकों में संवाद न तो सपाट गद्य ही होते हैं और न ही कविता। उनमें लय का विशेष ध्यान रखा जाता है। नाटक के कथाक्रम को गति देने के लिए अधिकांशतः संवादों का ही प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत नाटक 'खंड-खंड अग्नि' में भी संवादों के द्वारा रचनाकार ने मिथक के कलेवर से बाहर आकर विचारों की अभिव्यक्ति की है। जब राम अपने समाज के मुताबिक जीने की बात कहते हैं, तो उस संदर्भ में लक्ष्मण का यह संवाद दृष्टव्य है-

"पर कौन सा समाज राजा राम ?
क्या अनुकूलता ही परिभाषा है समाज की
क्या समाज वही है जिसे हम जीते हैं वर्तमान में ?
क्या स्थिर जल है समाज ?" [1]

### 3.6.3 रंगमंचीय प्रयोग

नाटक का साहित्य और रंगमंच से घनिष्ठ संबंध है। किन्तु नाटक का रूप और उसकी प्रेषणीयता कई अन्य कलाओं के तत्वों से प्रभावित और नियंत्रित होती है। रंगमंच और प्रदर्शन की रूढ़ियाँ, रंगसज्जा, प्रकाश व्यवस्था, संगीत और नृत्य आदि अनेक कलाओं के तत्व और कला रूढ़ियाँ नाटक की मूल वस्तु साहित्यिक अंश की प्रेषणीयता का रूप अनुशासित करती हैं और उसे विशिष्ट बनाती हैं। इस नाटक में उद्घोषणा, सन्नाटा, हर्ष, सूचना, उत्सुकता, विश्वास, उत्तरदायित्व, पृथ्वी और संदेह लेखक द्वारा कल्पित पात्र हैं जो शेष पात्रों के लिए अदृश्य हैं। प्रथम अंक का प्रारंभ उद्घोषणा और सन्नाटा के संवाद से होता है। उद्घोषणा प्रसन्नचित्त होकर राम की विजय की सूचना देती है। सन्नाटा उद्घोषणा की वीरान पड़ी लंका के बारे में बताता है। इसप्रकार इन कल्पित

[1] दिविक रमेश-खंड खंड अग्नि, प्र. सं. 1994, पृ.66

पात्रों के संवादों के द्वारा कथानक को गतिशीलता प्रदान की है जो कि एक नया प्रयोग ही है। ये पात्र सूत्रधार के रूप में मंच पर आते जाते हैं। रंगमंचीय दृष्टि से इसमें प्रकाश तथा ध्वनि संकेतों का भी आश्रय लिया गया है। दिविक जी ने इस नाटक में पर्याप्त रंगसंकेत भी दिये हैं। इन्होंने वेशभूषा संबन्धी अधिक संकेत न देकर रंग संकेतों द्वारा पात्रों की उद्विग्न मनःस्थिति की चेष्टाओं और भाव भंगिमाओं को संकेतित किया है- जैसे विचलित एवं खेदजनक स्वरों में सन्नाटे का मंच के अग्रभाग में खड़ा होना, बुढ़ाया-बुढ़ाया-सा विश्वास का आना आदि।

इसप्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गंभीर विचारों की सहज, स्वाभाविक एवं काव्यात्मक अभिव्यक्ति द्वारा 'खण्ड-खण्ड अग्नि' हिन्दी नाट्य की महत्वपूर्ण प्रयोगात्मक कृति बन पड़ी है।

## 3.7 मिथकीय नाटकों की पृष्ठभूमि

आज के इस वैज्ञानिक युग में जहाँ कम्प्यूटर हावी हो गया है, मशीनीकरण ने मनुष्य को महज़ एक मशीनी पुर्जा बनाकर रख दिया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धिकता एवं तार्किकता के प्रसार के फलस्वरूप आस्था और भावना का नामोनिशान मिट गया है। अवसरवादी और उपयोगितावादी दृष्टिकोण ने जीवन के सहज मानवीय रागात्मक मूल्यों को खंडित कर दिया है। इस बढ़ती हुई अपसंस्कृति का सामना करने हेतु जागरूक चिंतक रचनाकारों के लिए प्रागैतिहासिक और संस्कारों की पुनः प्रतिष्ठा करना अनिवार्य हो गया। प्रागैतिहासिक प्रवृत्तियों में मिथक कल्पना का अपना विशेष स्थान और महत्व है। मिथक किसी भी जाति या संस्कृति की अस्मिता का शक्तिस्रोत है। अतएव आधुनिक साहित्य में मानव जीवन को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए मिथकों का प्रयोग बड़े पैमाने पर हुआ और उसके प्रति आकर्षण आधुनिक संवेदना का एक सहज अंग बन गया है।

## 3.8 मिथकः स्वरूप एवं विश्लेषण

मिथक शब्द अंग्रेज़ी के मिथ (Myth) का हिन्दी पर्याय है। "अंग्रेज़ी का 'मिथ' शब्द यूनानी भाषा के 'माइथॉस' से व्युत्पन्न है। जिसका अर्थ है 'आप्तवचन' अथवा 'अतर्क्य कथन'।[1] या मुख से उच्चरित वाणी।"[1] क्योंकि आरम्भ में मौखिक कथाओं का ही प्रचलन था।

---

[1] डॉ. नगेन्द्र - मिथक और साहित्य, प्र. सं. 1979 - पृ. 6

मिथक के अतिरिक्त इस शब्द के लिए दंतकथा, पुरावृत्त, धर्मगाथा, पुराकथा और पुराख्यान शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। पर अब 'मिथक' शब्द सर्वमान्य हो गया है।

मिथक के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं, जिनमें डॉ. नगेन्द्र और डॉ. बच्चन सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ.नगेन्द्र के अनुसार "पुराण कथा, धर्मगाथा यानी मिथक। कोई ऐसी कथा, जो विचारणा एवं आलोचना शक्ति से सर्वथा शून्य आदिम चेतना की स्वयं स्फूर्त उद्भावना हो और जिसमें प्रकृति की शक्तियों को देहधारी या अर्द्धदैहिक रूपों में प्रतिधान किया गया हो तथा जो अति प्राकृतिक एवं अतिमानवीय कार्य सम्पन्न करते हों।"[2]

मिथक के विषय में डॉ. बच्चन सिंह का विचार है कि "इसमें व्यक्त भावनाओं, विचारों और घटनाओं के सम्बन्ध-सूत्र अत्यधिक उलझे हुए तर्केतर और गड्ड-मड्ड होते हैं। मनोविज्ञान, नृतत्वशास्त्र और प्रतीकों के माध्यम से इसके उलझे हुए सूत्रों को सुलझाने का प्रयास किया गया है।"[3]

श्री अनिलकुमार तिवारी का कथन है कि "मिथक केवल आदिम युग की वस्तु न होकर वर्तमान की भी धरोहर होते हैं। इनमें मानवीय अनुभव की किसी चिरन्तन घटना, मनस्तात्विक द्वन्द्व संकट या समस्या की अभिव्यक्ति करने की शक्ति होती है। अपने कालातीत एवं शाश्वत स्वरूप के कारण मिथक अतीत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों की व्याख्या कर सकते हैं।"[4]

उक्त विद्वानों के अनुसार 'मिथ' शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'माईथोस' से हुई है जिसका प्रयोग अतर्क्य आख्यान केलिए किया जाता था। वस्तुतः मिथक योजना का आधार आख्यान (वृत्त) है जो सत्य/असत्य/प्रकृति/लोकविश्वास/किंवदन्ती/परम्परा से पुष्ट किसी भी धारणा पर अवस्थित रहता है।

डॉ. दशरथ ओझा मिथक के दो रूप मानते हैं। एक पौराणिक और दूसरा ऐतिहासिक। उनके अनुसार पौराणिक आख्यानों के आधार पर सृष्टि का रहस्य समझाने का प्रयास पाया जाता है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, रामायण और महाभारत आख्यान इसी कोटि में आते हैं।

---

[1] मालती सिंह- मिथक एक अनुशीलन, प्र. सं. 1988 , पृ. 11

[2] नगेन्द्र (सं )-मानविकी पारिभाषिक कोश, प्र.सं.1965

[3] बच्चनसिंह- हिन्दी आलोचना के बीज शब्द, प्र.सं. 1994, पृ.82

[4] भाषा (त्रैमासिक)- आधुनिक हिन्दी काव्य में मिथक-प्रयोग की दृष्टियाँ, मार्च 1980, पृ.29

दूसरे प्रकार का मिथक ऐतिहासिक व्यक्तियों की इतिहास सम्मत घटनाओं के आधार पर निर्मित हुए हैं।[1] 'डॉ.रमेशकुन्तल के अनुसार 'मिथक में अतीत ही शाश्वत वर्तमान है।'[2] रमेश गौतम के अनुसार मिथक कथात्मकता एवं प्रतीकात्मकता के अनिवार्य तत्वों के साथ अतीत का एक ऐसा उपकरण है जिसमें आदिम समाज से लेकर अद्यतन मानव-जीवन का सामूहिक अनुभव संचित रहता है।

मिथक के सम्बन्ध में अब तक किये गये विवेचन के आधार पर इसके लक्षणों एवं विशेषताओं को इस प्रकार रखा जा सकता है-

1. प्रतिकात्मकता मिथक का स्वाभाविक गुण है। मिथकीय प्रतीकों के द्वारा मानव जीवन की विविध समस्याओं का यथार्थपरक चित्रण होता है।
2. मिथक का सम्बन्ध उस देश के जाति की धार्मिक भावना, उसके दार्शनिक चिन्तन से अनिवार्यतः जुड़ा होना चाहिए।
3. मिथक इतिहास नहीं होता।
4. मिथक विच्छिन्न भावों को क्रम देता है, व्यवस्था देता है।
5. यह बहुत शीघ्र पुराना नहीं पड़ता क्योंकि प्रत्येक युग की नयी आकांक्षाएँ इसको नये अर्थ से जोड़ती हैं; उसे नवीनता प्रदान करती हैं। अपने निजी प्रश्नों अथवा समकालीन समस्याओं को अभिव्यक्त करने केलिए रचनाकार किसी विषयानुरूप मिथक का चयन करता है तथा उसकी लोचशक्ति का लाभ उठाते हुए उसकी मूल सामग्री में यत्किञ्चित् संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन करता है। यह सारी प्रक्रिया प्रतीकों के द्वारा सम्पन्न होती है।
6. मिथक व्यंग्य का भी एक प्रमुख साधन होता है जिससे समकालीन व्यवस्था की विसंगतियों पर कटाक्ष प्रहार किया जा सकता है।
7. मिथक अन्तः प्रज्ञा की अभिव्यक्ति है। वह संसार की परिकल्पना उपस्थित करता है, किन्तु घटनाओं, कर्मों एवं यंत्रणाओं के क्रम में।[3]
8. समकालीन प्रासंगिकता को व्यंजित करने का यह एक सुदृढ़ आयाम होता है।
9. "मिथक का रूप कथात्मक होता है।
10. इस कथा की घटनाएँ लोक-बाह्य, एक प्रकार से अलौकिक या अतिमानवीय होती हैं-किंतु मानव-जीवन के लिए उनकी अपनी विशेष सार्थकता अनिवार्यतः रहती है।

---

[1] दशरथ ओझा -आज का हिन्दी नाटकः प्रगति और प्रभाव, प्र.सं. 1984, पृ. 183-184

[2] डॉ. रमेशकुन्तल मेघ : साक्षी है सौन्दर्य प्राश्निक, पृ. 284

[3] राजेन्द्र मिश्र- नयी कविता की पहचान, पृ. 60

अर्थात् अलौकिक एवं अतिमानवीय होने पर भी मानव-जीवन के लिए वे किसी प्रकार अप्रासंगिक नहीं होतीं। उदाहरण के लिए, हनुमान द्वारा समुद्रलंघन की (मिथकीय) घटना अतिमानवीय है, परंतु स्वामी की प्राण-रक्षा के लिए सेवक के इस उत्कट उत्साह का मानवीय महत्व सर्वथा स्पष्ट है।

11. मिथक की रचना में यद्यपि कल्पना का अनिवार्य योगदान रहता है, फिर भी उसकी प्रतीति सत्य रूप में ही होती है।

12. अतः कल्पना और सत्य अथवा - भावगत सत्य और वस्तुगत सत्य की अभेद-प्रतीति मिथक की परिकल्पना का आधार-तत्व है।"[1]

मिथक अतीत से जुड़ने का उपक्रम है एवं इतिहास को समझने का द्वार है। इसप्रकार निष्कर्ष

रूप में कहा जा सकता है कि मिथक अतीत के आवरण में वर्तमान की पहचान है और वह सार्वकालिक, सर्वयुगीन, सार्वभौम एवं चिरंतन अभिव्यक्ति के रूप में युगदर्शन का वाहक है।

## 3.9 मिथक और नाटक का अंतः संबध

मिथक के माध्यम से मिथककालीन मानव की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण होता है। साहित्य भी तत्कालीन सामाजिक व वैयाक्तिक जीवन दर्शन को ही व्यक्त करता है। साहित्य में अपने क्षेत्र की मिथक परंपरा का प्रभाव अवश्य ही आ जाता है। किन्तु साहित्य और मिथक में अभेद संबंध नहीं है। डॉ.नगेंद्र के अनुसार "साहित्य और मिथक में एक तात्विक भेद तो यह है कि मिथक जहाँ सामूहिक अचेतन की अभिव्यक्ति है, वहाँ साहित्य काफ़ी अंशों में वैयक्तिक अवचेतन की ही नहीं वैयक्तिक चेतन की भी सृष्टि है। साहित्यकार की चेतना में जातीय संस्कार वासना रूप में संचित रहते हैं, इसमें संदेह नहीं; किंतु उसकी चेतन प्रज्ञा भी कृति के निर्माण में सक्रिय रहती है, यह भी उतना ही सत्य है। साहित्य के अनेक रूप ऐसे हैं, जिनमें मिथकीय तत्व नहीं होता- और इसी तरह मिथकीय वाङ्मय में भी ऐसी प्रचुर सामग्री है जिसमें साहित्य-गुण का प्रायः अभाव मिलता है।"[2]

नाटक का मिथक के साथ प्रत्यक्ष और मूल संबंध है। भारत, युनान तथा अन्य प्राचीन देशों में नाटक की उत्पत्ति के साथ कोई न कोई दैवी कथा जुड़ी हुई है और ऋतु-परिवर्तन, धार्मिक अनुष्ठान, आदि के साथ उसका आदि संबंध रहा है। भारतीय नाटक की

---

[1] डॉ. नगेन्द्र-मिथक और साहित्य, प्र.सं.1979, पृ.9

[2] डॉ. नगेन्द्र-मिथक और साहित्य, प्र.सं.1979, पृ.41

उत्पत्ति वैदिक काल के पर्वों और अनुष्ठानों के साथ संबद्ध है। समय-समय पर, विशेषतः उत्सवों में और यज्ञादि के अवसरों पर, नृत्य-गान के साथ संवादों के योग से तरह-तरह के आयोजन होते थे। ऋग्वेद में यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, इंद्र-मरुत, सरमा-पणि, आदि के रोचक प्रसंग संवाद रूप में ही विद्यमान हैं। डॉ. नगेंद्र के शब्दों में – "नाटक की संरचना अथवा रूपाकार पर मिथक की रूप-रचना का प्रभाव और भी स्पष्ट है। प्रत्येक देश में नाटक का उद्‌भव देव-पूजन के निमित्त आयोजित धार्मिक अनुष्ठानों से हुआ है जिनके साथ मिथक का भी मूल संबंध है। मिथक में जहाँ अनुष्ठान की वाचिक अभिव्यक्ति रहती है, वहाँ नाटक में वाचिक-अर्थात् संवाद और गान के साथ-साथ आंगिक अभिव्यक्ति का भी योग रहता है। संस्कृत नाटक के आरंभ में नांदी और अंत में भरत-वाक्य यज्ञ के आरंभ में याज्ञिक द्वारा देवस्तवन तथा अंत में यजमानों के प्रति उद्‌गीत आशीर्वचन के अवशेष हैं, और प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा नाटक का परिचय यज्ञ में पुरोहित के प्रास्ताविक वक्तव्य का ही रूपांतर है। नाटक का नायक इंद्र-वरुण अथवा किसी अन्य प्रमुख देवता का प्रतिरूप है, और प्रतिनायक उसके शत्रु असुर का। नायक को अभीष्ट फल-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार के कष्ट और यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं और अंत में किसी न किसी अतिप्राकृत घटना के संयोग से वह फलागम का अधिकारी बनता है।

पश्चिम में यूनानी नाटकों में वृन्द-गान का उद्‌भव निश्चित रूप से धार्मिक अनुष्ठानों के समवेत स्तुति-गान से हुआ था। कथा में कारुणिक प्रसंगों की प्रचुरता, स्थिति-विपर्यय, अभिज्ञान, आदि नाटकीय स्थितियाँ मध्य एशिया और यूनान की प्राचीन जातियों में प्रचलित चमत्कारपूर्ण दैविक घटनाओं से प्रभावित हैं। प्राचीन जातियों के लोगों का भाग्य की विडंबनाओं के मूल में किसी न किसी प्रकार की दैवी प्रेरणा रहती है। इन्हीं धारणाओं के आधार पर पहले अनेक मिथकों की सृष्टि हुई और बाद में नाटकीय कथानक के विभिन्न अंगों की। पुनरुत्थान युग में मार्लो, शेक्सपियर आदि के नाटकों में तो इनका यथावत् प्रयोग है ही, परवर्ती नाटकों में भी ये रूप बदलकर किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। इसका एक अत्यंत स्पष्ट प्रमाण है 'यांत्रिक अवतारणा' नामक प्रयोग जो यूरिपाइडीज़ से लेकर आधुनिक नाटककारों की कृतियों में, कथानक में मोड़ लाने के लिए या उसकी ग्रंथि को खोलने के लिए, बराबर होता रहा है।"[1]

---

[1] डॉ. नगेंद्र – मिथक और साहित्य – प्र. सं.1979, पृ. 55-56

## 3.10 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी के मिथकीय नाटकों में प्रयोग

आधुनिक मनुष्य के संकट को अभिव्यक्त करने के लिए स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने महाभारत, रामायण और उपनिषद् के पात्रों और प्रतीकों, कथा-अर्थों एवं जीवन-सन्दर्भों का भरपूर उपयोग किया है, क्योंकि इनमें उन्हें समकालीन प्रासंगिकता को व्यक्त करने के लिए एक विस्तृत कैनवास प्राप्त हुआ है। नाटकों में मिथकों का सर्वाधिक प्रयोग करनेवाले नाटककार डॉ.लक्ष्मी नारायण लाल मिथक को आधुनिकता की अभिव्यक्ति के लिए बहुत सार्थक मानते हैं। उनके अनुसार "विशेषकर नाटक में जब कोई मिथक आ जाता है, तो मिथक की शक्ति इतनी बढ़ती है कि उससे सहज ही इतिहास, वर्तमान तथा भविष्य जैसे प्रकाशित हो उठता है। मिथक पुराबिम्ब बनकर आयामीय हो उठता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष, दृश्यगत जीवन में से अपना रूप पाता है।"[1] वास्तव में मिथक योजना के द्वारा रचनाकार उस काल के पात्र व कथानक को आधुनिकता या समसामयिकता की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त करता है। यहाँ रचनाकार का उद्देश्य कथ्य की पुनरावृत्ति नहीं होता, बल्कि वह उन्ही स्थलों या पात्रों का चयन करता है जिससे समकालीन जीवन-आशयों एवं प्रासंगिकता को प्रमाणित किया जा सके। लेकिन मिथक पर आधुनिकता का अत्यधिक आरोपण उसके स्वरूप को विकृत तो करते ही हैं, रचनाकार का अभिप्रेत भी पूरा नहीं होता क्योंकि मिथक तो स्वयं अपने आप में नित नये अर्थ को देनेवाले होते हैं। समकालीन अनुभव मिथक के बृहत्तर संदर्भों से जुड़कर शाश्वत सत्य की गरिमा पा लेते हैं। मिथकीय दृष्टि के इस व्यापक अनुप्रयोग से हिन्दी नाटक सृजनात्मकता की ओर बढ़ता नज़र आता है। इस सृजनात्मकता में प्रयोगशीलता के अनेक आयाम उभरकर सामने आए हैं। कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय दृष्टि से इन नवीन नाट्य आयामों का परीक्षण किया जा सकता है।

### 3.10.1 कथ्यगत प्रयोग

मिथकीय दृष्टि से पहला बड़ा संरचनात्मक प्रयोग कथ्य के धरातल पर उपस्थित हुआ। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक मिथक को आश्रय बनाकर सामयिक युगबोध को गहराई से उकेरते हैं। इतिहास या पुराण यहाँ तथ्यात्मक आलेख न रहकर युग आकांक्षाओं व युग जीवन का सार्थक प्रतिबिंब बनकर उभरता है। हिन्दी नाटकों में मिथकीय प्रयोग के तीन रूप मिलते हैं-

1) पौराणिक पात्रों एवं कथा-सूत्रों का नवीकरण।

---

[1] डॉ.लक्ष्मी नारायण लाल- कलंकी, प्र.सं. 1969, पृष्ठ 7-8

2) ऐतिहासिक पात्रों एवं कथा-सूत्रों का नवीकरण।

3) लोक-कथाओं एवं लोक-कथा रूढ़ियों (मोटिफ्स) का प्रयोग।

1. **पौराणिक पात्रों एवं कथा-सूत्रों का नवीकरण** – यह प्रयोग सबसे पहले डॉ. धर्मवीर भारती द्वारा 'अन्धा युग' की रचना में किया गया। " पाँच अंकों की इस नाट्यकृति में भारती ने पौराणिक पात्रों की मौलिक संकल्पनाओं के द्वारा युद्ध से उत्पन्न होनेवाली मूल्यहीनता, अमानवीयता, विकृति, कुंठा, वैयक्तिक और सामूहिक विघटन का सजीव चित्रण किया है।"[1] अंधायुग की मिथकीय परिकल्पना, सामयिक जीवन संवेदना की सशक्त अभिव्यक्ति, शिल्प-संयोजन एवं शैली की प्रभविष्णुता ने कई नाटककारों को इस दिशा में प्रेरित किया। परिणामस्वरूप 'पहला राजा' (जगदीशचन्द्र माथुर), सूर्यमुख, कलंकी, नरसिंह कथा, यक्ष-प्रश्न, उत्तर-युद्ध, एक सत्य हरिश्चन्द्र, बलराम की तीर्थयात्रा (डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल), आठवाँ सर्ग(सुरेन्द्र वर्मा), कथा एक कंस की (दयाप्रकाश सिन्हा), राजा बलि की नयी कथा (रेवतीसरन शर्मा), अग्निलीक (भारतभूषण अग्रवाल) शिव धनुष (चन्द्रशेखर), संशय की एक रात (नरेश मेहता), आत्मजयी (कुँवरनारायण), एक कंठ विषपायी (दुष्यन्तकुमार), आदि नाटक लिखे गये। इनमें से अन्तिम चार रचनाएँ और 'अन्धायुग' काव्य-तत्व की प्रधानता के कारण काव्य नाटक अथवा गीति-नाट्य हैं। समकालीन हिन्दी नाटक में मिथक का सर्वाधिक प्रयोग पौराणिक पात्रों एवं कथा-सूत्रों को ही आधार बनाकर किये गये हैं और महत्वपूर्ण रचनाएँ इसी कोटि की हैं।

2. **ऐतिहासिक पात्रों एवं कथा-सूत्रों का नवीकरण** – कोणार्क इस परंपरा का पहला प्रयोगशील नाटक है जो कलाकार के अंतर्दहन की कथा कहता है, शोषण का विरोध करता है, और नये और पुरानी पीढ़ी के द्वंद्व को प्रस्तुत करता हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' की पृष्ठभूमि भी ऐतिहासिक है वह बनते-बिगड़ते मानवीय संबंधों और कलाकार के मर्म को सूक्ष्मता से उद्घाटित करता है। 'खजुराहो का शिल्पी', ऐतिहासिक नाटक है पर जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।

3. **लोक-कथाओं एवं लोक-कथा रूढ़ियों का प्रयोग** – मिथक लोक-मानस की चीज है। इसका विकास स्वयमेव होता है। लोक-कथा रूढ़ियों को लेकर चलनेवाले नाटककार के पास परिवर्तन की गुंजाइश अधिक रहती है। इस प्रयोग का सबसे सशक्त उदाहरण है- ज्ञानदेव अग्निहोत्री का शुतुरमुर्ग। इसमें पुराने ढ़ंग के पुराने राजा की कहानी तो है लेकिन

[1] नामवर सिंह (संपादक)-'आलोचना' त्रैमासिक (जुलाई-सितम्बर 1967), पृ. 93

प्रश्न सब नये हैं। इस परम्परा के अन्य नाटक हैं- सुशीलकुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है', मणि मधुकर का 'खेला पोलमपुर' और 'दुलारीबाई' डॉ. शंकर शेष का 'अरे मायावी सरोवर', डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक – 'तोता मैना', 'सूखा सरोवर' और 'पंछी', डॉ.अज्ञात कृत 'तूफान की ज़िन्दगी' आदि। इन सभी में कथा-रूढ़ियों को आधार बनाकर सर्वथा नवीन समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। मिथक प्रयोग की सभी नाट्य रचनाएँ प्राचीन पात्रों, प्रसंगों और परिस्थितियों के माध्यम से रंगमंच पर समसामयिक जीवन और समस्याओं का विश्लेषण करती हैं।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की विशेषता है कि उनमें एक से अधिक कथ्य की योजना प्रस्तुत की जा रही है। 'लहरों के राजहंस', 'आषाढ़ का एक दिन', 'सेतुबंध', 'एक और द्रोणाचार्य', 'अग्निलीक', 'अंधायुग' आदि नाटकों में यद्यपि मिथक को आधार बनाया गया है लेकिन कथानक में इनके कथ्य के स्वर बहुआयामी हैं। 'अरे मायावी सरोवर' पहले स्तर पर रोचक कथा प्रस्तुत करता है, दूसरे स्तर पर समकालीन परिवेश की विसंगतियों को उद्घाटित करता है वहीं तीसरे स्तर पर देहान्तर के अनुभवों का जीवंत दस्तावेज़ भी बन गया है। स्वातंत्र्योत्तर नाटकों के कथ्य की एक विशेष प्रवृत्ति ऐसे अछूते विषयों का चयन है, जिस ओर पहले के नाटककारों का कभी ध्यान ही नहीं गया था। इतिहास-पुराण को आधार बनाकर लिखे गये स्वतंत्रता पूर्व के नाटकों का कथ्य-विषय केवल लोक प्रसिद्ध कथाओं और व्यक्तियों तक ही सीमित था, या ऐसे प्राचीन वीर योद्धाओं की खोज की गई जो राष्ट्रीय आंदोलन को तीव्रता से वाणी देने में सक्षम हो। लेकिन स्वतंत्रता के पश्चात् के नाटककारों के लिए समकालीन परिवेश और उसकी समस्याएँ अधिक महत्वपूर्ण थीं। इसलिए लोक प्रसिद्ध इतिहास के विषय का त्याग कर महाभारत, पुराण या इतिहास से ऐसे नए विषयों का चयन किया गया है, जो अब तक नाट्य साहित्य में प्रयुक्त ही नहीं किए गए थे। 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आठवाँ सर्ग' का कालिदास, 'लहरों के राजहंस' का नन्द, 'अन्वेषक' का आर्यभट्ट, 'अभंगगाथा' का तुकाराम आदि ऐसे ही चरित्र हैं। 'सूर्यमुख' में उत्तर महाभारत काल की घटनाओं को आधार बनाया गया है। 'कलंकी' में विष्णु के दसवें अवतार की परिकल्पना की गई है। 'राजा बलि की नई कथा' में नारद का आधुनिक युग में प्रवेश दिखाया गया है। यह हिंदी

नाटकों के लिए बिल्कुल नया अनुभव है, इससे समकालीन नाटकों के विषय में विविधता और व्यापकता आई है और साथ ही नाटक लोक जीवन और दर्शक से अधिक गहराई से जुड़ सका है। संक्षेप में, उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर नाटकों के कथ्य का आधार और स्वर पूरी तरह से बदल गया है।

### 3.10.2 शिल्पगत प्रयोग

समसामयिक हिंदी नाटकों ने कथ्य के नये क्षितिज का संस्पर्श ही नहीं किया है अपितु शिल्पगत क्षेत्र में भी अनेक नए आयाम प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में नाटक का रंगमंचीय क्षमता से भरा होना ही उसके शिल्पगत प्रयोग की नवीन संभावनाएँ खोल देता है। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात ज्यों-ज्यों रंगमंच की क्षमता का विकास होता गया शैली और शिल्प के क्षेत्र में अभिन्न प्रयोग उपस्थित होते गए।

नई मिथकीय दृष्टि से अनुप्रेरित होकर नाटककार नाटक में अनेक शिल्पगत प्रयोग कर रहा है, इनमें एक महत्वपूर्ण प्रयोग समानांतर कथानकों का उपयोग है। समकालीन नाटककार एक साथ दुहरे कथानकों का प्रयोग करने लगा है। ये कथानक कभी समानांतर चलते हैं और कभी एक दूसरे से घुलमिलकर एकमेव होने लगते हैं। डॉ.शंक्रर शेष तथा लक्ष्मीनारायण लाल ने इस तरह के अनेक प्रयोग किए हैं। डॉ. शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में दो कथानक एक साथ चलते हैं - पौराणिक पात्र द्रोणाचार्य की कथा तथा आधुनिक पात्र अरविंद की कथा के रूप में। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक 'राम की लड़ाई' में भी दुहरे कथानकों को अपनाया गया है। रामलीला की कथा तथा ग्रामलीला की कथा। कुसुम कुमार के 'रावण लीला' में रामलीला का प्रसंग और रामलीला में काम करने वाले कलाकारों की कथा साथ-साथ चलती है। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में लौका देवधर जैसे वर्गत चरित्रों की कथा तथा नौटंकी शैली में राजा हरिश्चन्द्र की कथा साथ-साथ चलती है।

दोहरे कथानक वाले इन नाटकों का प्रयोग नाटककार अपने कथ्य को अधिक गंभीर और व्यापक बनाने के लिए करता है। एक कथा इतिहास-पुराण या मिथकीय प्रसंग को लेकर आगे चलती है तो दूसरी आधुनिक कथा के रूप में समकालीन भाव बोध को व्यक्त करती है। पहली कथा दूसरी कथा को पुष्ट करते हुए व्यंजना के स्तर पर उसे अधिक संवेदनीय और संप्रेषणीय बना देती है। डॉ. नरनारायण राय इस संदर्भ में लिखते

हैं, "दो कथाओं वाले इन कतिपय नये प्रयोगशील नाटकों के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ही नाटक में दो कथानकों का उपयोग शिल्पगत कौशल के रूप में किया गया है।"[1]

समसामयिक नाटकों की एक अन्य महत्चपूर्ण शिल्पगत प्रवृत्ति पारंपरिक शिल्प विधान का खण्डन करना है। किंतु यह खण्डन जान बूझकर किया गया प्रयास नहीं है अपितु कथ्य के अनुरूप शिल्प को ढ़ालने की प्रवृत्ति से उत्पन्न हुआ है। इसी क्रम में पारंपरिक नाट्य मान्यताएँ टूटने लगीं और नवीन शिल्पगत स्थापनाएँ उभरकर सामने आयीं। पारंपरिक नाट्य शिल्प संस्कृत की उन परंपराओं पर अवलंबित था जो भरत और धनंजय के समय से ही कायम थीं।

लेकिन आधुनिक युग में आकर शिल्प विधान की इस रीति में परिवर्तन आया। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने पश्चिम के यथार्थवादी शिल्प को अपने नाटकों में प्रस्तावित किया। नाटक को अंकों में विभाजित किया जाने लगा, किंतु पिछले चार दशकों में नाट्य शिल्प की प्रवृत्ति में और भी अधिक परिवर्तन आए हैं। अब नाटककार नाटकों को केवल अंकों में ही विभाजित नहीं करता वरन् वह संपूर्ण दृश्यबंध को दृश्यों में ही बाँटने लगा है या पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में कथा को विभाजित करता है या मध्यान्तर देकर नाटक को बीच से विभाजित करने का प्रयास करता है या कहीं-कहीं किसी भी प्रकार का वस्तु विभाजन करता ही नहीं है। समकालीन नाटकों में ऐसे अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं। दो अंक वाले नाटकों में 'राजा बलि की नयी कथा', 'दशरथनंदन' आदि देखे जा सकते हैं। तीन अंक वाले नाटकों में – 'कोणार्क', 'शारदीया', 'सूर्यमुख', 'पहला राजा', 'माधवी', 'अभंगगाथा', 'कैद-ए-हयात', 'देहान्तर', 'हानूश', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि नाटक देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त बिना अंक वाले और केवल दृश्य संख्या वाले नये नाटकों को भी देखा जा सकता है। 'अग्निलीक'-तीन दृश्य, 'अग्निपुत्र'-बीस दृश्य, 'खजुराहो का शिल्पी' – छः दृश्य, 'प्रजा ही रहने दो' – छः दृश्य, 'सम्भवामि युगे-युगे'-छः दृश्य, 'उत्तर मृच्छकटिकम् आदि नाटक मात्र दृश्यों में ही विभाजित है। इसके समानांतर कुछ ऐसे नाटक भी मिलते हैं जो पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की कथा में विभाजित हैं। इनमें 'एक और द्रोणाचार्य', 'इकतारे की आँख' जैसे नाटक देखे

[1] नरनारायण राय-नया नाटक : उद्भव और विकास, प्र. सं.2001, पृ.243

जा सकते हैं। समकालीन नाटकों में ऐसे नाटक भी है जिनमें किसी प्रकार का वस्तु विभाजन है ही नहीं। ऐसे नाटकों में 'शम्बूक की हत्या', 'एक प्रश्न मृत्यु', 'उत्तरप्रियदर्शी', 'अमृतपुत्र', 'देवयानी का कहना है', 'काठमहल' जैसे नाटक उल्लेखनीय है।

उपरोक्त उदाहरणों को देखकर कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर नाटकों का शिल्प विधान स्थिर नहीं हैं नया नाटककार परंपरागत शिल्पगत प्रवृत्ति को तोड़ता हुआ नए-नए प्रयोगों को अपना रहा है। जहाँ पारंपरिक नाटकों की शिल्पविधि पूर्व निश्चित थी, वहीं नये नाटकों का शिल्प विधान वैविध्य लिए हुए है। नये नाटकों ने शिल्प के पारंपरिक विभाजन का परित्याग कर अपने लिए नये-नये शिल्प विधानों की खोज की है। स्वातंत्र्योत्तर मिथकीय नाट्य प्रयोगों की एक महत्वपूर्ण संभावना नाट्य-भाषा के क्षेत्र में दिखाई दी है। नाटक की सफलता और सशक्तता भाषा के आधार पर ही अवलंबित होती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् नाट्य वस्तु, शिल्प और शैली में ही परिवर्तन नहीं आया बल्कि नाट्य भाषा के समूचे संस्कार ही बदल गए। नए परिवेश में हिंदी नाटकों ने खुद को ढालने का प्रयास किया और यह बड़ा प्रयास भाषा के संरचनात्मक बदलाव के बिना असंभव था इसलिए भाषागत व्यवहार और प्रयोग की दिशा में प्रयोगशील प्रवृत्ति को अपनाया गया।

सुरेद्र वर्मा ने भी अपने ऐतिहासिक मिथकीय नाटकों में प्रतीकात्मक तथा बिंबात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। 'आठवाँ सर्ग' में रोमानी शब्दावली का प्रयोग है जो जीवन की आंतरिकता को उघाड़ती चलती है। 'कैद-ए हयात', 'मिस्टर जिन्ना' और छोटे सैयद बड़े सैयद' नाटकों में सहज परिवेशगत उर्दू शब्दावली का प्रयोग किया गया है। 'कैद-ए हयात' में कहीं-कहीं उर्दू की अतिशयता से बोझलता भी उत्पन्न होने लगती है।

लक्षीनारायण लाल ने अपने मिथकीय नाटकों में सरल तत्सम, तद्भव और अरबी-फारसी के शब्दों के साथ क्षेत्रीय बोली का प्रयोग भी किया है। 'नरसिंग कथा', 'सूर्यमुख', 'कलंकी', 'यक्ष प्रश्न', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', बलराम की तीर्थयात्रा' आदि नाटकों में भाषा और लोकभाषा का सर्जनात्मक उपयोग देखा सकता है। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' का सारा महत्व ही लोकभाषा पर केंद्रित है। इसमें सत्यनारायण की कथा के

संस्कृत स्वरूप की लोक के स्तर पर भ्रष्ट विकृत शाब्दिक परिणति और क्षेत्रीय भाषा तथा पंडिताऊ शैली का समाहार है साथ ही प्रयोग की एक नवीनता यह भी है कि उसमें मिथक की शब्दावली का भ्रम जाल तोड़ने का प्रयाास हुआ है।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर नाटकों की एक अन्य प्रयोगशील विशेषता शब्दों का प्रतीक रूप में प्रयोग करना है जैसे मेघ, पत्थर, हरिण, शावक, भीगना, ऋतु (आषाढ़ का एक दिन) में हंस, मृग, पत्तियाँ, छाया, दर्पण (लहरों के राजहंस) मुनि, यज्ञ, मंथन, सूत, मागध, मंत्र, निषाद, आश्रम (पहला राजा), गंधर्व, दर्जी, बढ़ई, राजगीर, अप्सरा (रस गंधर्व)। कई नाटकों के शीर्षक भी शब्दों के प्रतीकात्मक प्रयोग के उदाहरण हैं 'द्रौपदी', 'मिस्टर अभिमन्यु', एक और द्रोणाचार्य' इसके उदाहरण माने जा सकते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में भाषा को लेकर अनेक सर्जनात्मक प्रयोग किए गए हैं जिससे भाषिक परिदृश्य बहुआयामी और बहुमुखी हो गया है। इस काल में भाषा पाठ्य पुस्तकों के घेरे से निकलकर रंगमंच सापेक्ष हो प्रभावशाली हो उठी है। स्वातंत्र्योत्तर नाटकों के शिल्प की यही विशेषता है कि वह अपनी सहजता और सरल संप्रेषण द्वारा आम दर्शकों से अधिक गहराई से जुड़ सका है।

### 3.10.3 रंगमंचीय प्रयोग

हिंदी नाटक और रंगमंच के विकास में नया उन्मेष वस्तुतः स्वतंत्रता के पश्चात् ही दिखाई दिया। सन् 1954 में 'संगीत नाटक अकादमी' और सन् 1959 में 'राष्ट्रीय विद्यालय' की स्थापना ने रंगक्षेत्र में नाटककारों और रंगकर्मियों के लिए प्रेरणा का वातावरण उपस्थित कर दिया जिसने छठे दशक की प्रयोगशील नाट्य परंपरा की पृष्ठभूमि तैयार की। इस युग की सबसे बड़ी उपलब्धि रंगमंच और नाटक का परस्पर अन्योन्याश्रित बन जाना है। जगदीश्चंद्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश और लक्ष्मीनारायण लाल ने हिंदी रंगमंच को एक नई दिशा प्रदान की। युगीन परिवेश, व्यक्ति का आंतरिक संघर्ष और रंगमंचीय तत्वों का अद्‌भुत समन्वय हिंदी नाटक में पहली बार उपस्थित हुआ। इन नाटककारों ने मिथक के माध्यम से वर्तमान युग के विसंगत परिवेश और उसमें घुटते मनुष्य के अंतर्द्वंद्व और पीड़ा को सजीव एवं मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया। स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में रंगमंचीय दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग हो रहे हैं। इनमें दृश्यबंध लेकर एक बड़ा

---

[1] गोविंद चातक - आधुनिक हिंदी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना - पृ. 212

परिवर्तन देखा जा सकता है। अतः हिंदी रंगमंच ने पारसी रंगमंच शैली के परदों वाली मंच व्यवस्था को अब लगभग त्याग दिया है। इसलिए शिल्प के स्तर पर एक ही दृश्यबंध पर खेले जा सकने वाले नाटकों को अपनाया जा रहा है। इससे बार-बार मंच सज्जा से मुक्ति मिल पायी है। 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में हल्के परिवर्तनों के साथ तीन अंकों में दृश्यबंध एक ही रहता है। दृश्यबंध की यह एकरूपता हिंदी रंगमंच की नवीन रंगदृष्टि और नाटककारों की मंचीय समझ को ध्वनित करती है। स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में मंचीय सज्जा को लेकर सादगी के लक्षण दिखाई पड़ते हैं।

"मंच पर उपस्थित सज्जा-सामग्री नाटक के अभिनेता संवादों के समानांतर कथ्य को व्यंजना देने केलिए होती है। मंचीय सज्जा यहाँ केवल पृष्ठभूमि या सुसज्जित स्थान प्रस्तुत करने के लिए नहीं होती अपितु उसकी सारी परिकल्पना एक विशेष संप्रेषण के उद्देश्य की पूरक होती है। मोहन राकेश ने विशेष रूप से अपने नाट्य प्रयोगों में सारे रंगतंत्र का इस्तेमाल नाटकीय संप्रेषण के लिए किया है। इनके नाटकों में सभी मुख्य मंच उपकरण रंगप्रतीकों की तरह प्रयुक्त हुए हैं। 'लहरों के राजहंस' में मंच पर उपस्थित झूला, मत्स्याकार आसन पात्रों की आंतरिक स्थितियों और मनोभावों के व्यंजक हैं। वे संवादों के समानांतर संप्रेषण करते हैं।"[1] 'आषाढ़ का एक दिन' भी पुराने कच्चे घर की झाँकी प्रस्तुत करता है जहाँ मिट्टी के घड़े इत्यादि से सज्जा की गई है। 'कोणार्क' में तो माथुर जी ने नाटक के परिशिष्ट के अंतर्गत मंच सज्जा हेतु स्पष्ट संकेत दिए हैं। मंचीय सज्जा में यह नया परिवर्तन स्पष्ट करता है कि समकालीन नाटककार दृश्य रचना में अधिक सूक्ष्म संवेदनशील कल्पना और सर्जनात्मक दृष्टि का प्रयोग कर रहा है।

सातवें दशक से पूर्व तक नाटकों में प्रकाश का उपयोग सामान्यतः मंचबंध को आलोकित रखने तक सीमित था ताकि दर्शक नाटक के क्रिया व्यापारों को स्पष्टता से देख सकें। किंतु "आठवें दशक के नाटकों ने प्रकाश के विभिन्न शिल्पगत अभियोजन की संभावनाएँ प्रस्तुत कीं। पर्दा गिराने-उठाने की जगह, दृश्य परिवर्तन के लिए मंचीय क्रिया व्यापार को अलग-अलग धरातल में बाँटने के लिए, स्मृति दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए

[1] डॉ. सुषम बेदी - हिंदी नाट्य प्रयोग के संदर्भ में, प्र.सं. 1984, पृ.264

किसी घटना या चरित्र विशेष के अभिनय एवं मनोभावों की ओर दर्शक का ध्यान केंद्रित करने के लिए, मंच पर फंतासी दृश्यों या अति नाटकीय स्थितियों को प्रस्तुत करने के लिए प्रकाश व्यवस्था का शिल्पगत उपयोग किया गया है।"[1] साथ ही प्रकाश व्यवस्था का प्रयोग वातावरण निर्माण तथा समय आदि के संकेत के लिए भी किया जा रहा है। आज मंच पर प्रातः रात्रि, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि सभी प्रकार के दृश्य मंच पर आसानी से प्रस्तुत किया जा सकता है।

मंच पर प्रकाश व्यवस्था के साथ-साथ ध्वनि और संगीत को लेकर भी अनेक प्रकार के प्रयोग किए जा रहे हैं। संगीत और नाटकीय उपादानों का संबंध निरंतर बढ़ता जा रहा है। पार्श्व की ध्वनियों द्वारा वातावरण का निर्माण तथा संगीत के द्वारा अंतराल को व्यक्त करने के प्रयोग किए जा रहे हैं। 'पहला राजा' में ध्वनि प्रभाव और वाद्ययंत्रों का नाटकीय प्रभाव पैदा करने के लिए सफल उपयोग हुआ है। मंथन के दृश्य तथा उर्वि पर देवी चढ़ने के दृश्य में संगीत प्रभावों का विशेष उपयोग है। 'अंधायुग' में गिद्धों के परों की फड़फड़ाहट के ध्वनि प्रभाव से ही मंच पर युद्ध के विनाशकारी भयंकर दृश्यात्मक प्रभाव को उत्पन्न किया गया है। 'एक सत्य हरिश्चंद्र', 'रसगंधर्व', 'दुलारीबाई' जैसे नाटक पारंपरिक लोक नाटक होने के कारण इनमें लोकगीत, लोकनृत्य की संभावना स्वयं ही है। समूहगीत और नेपथ्यगीत से रंगमंच पर अनेक प्रयोग किए गए हैं। वाद्य ध्वनियों द्वारा अनेक सूक्ष्मतर मानसिक स्थितियों को अभिनय के साथ जोड़ा गया है। दृश्य परिवर्तन के लिए भी संगीत का प्रयोग किया जा रहा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी रंगमंच में प्रयोग के नए-नए रूप उभरकर सामने आये हैं। नये कथ्य की माँग के अनुरूप वैविध्यपूर्ण नाट्य शैलियों के माध्यम से आज का रंग निर्देशक नये मंच सज्जा के उपकरणों के माध्यम से नाटक को नवीन अर्थवत्ता प्रदान कर रहा है। उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर मिथकीय हिंदी नाटक कथ्य, शिल्प, भाषा शैली तथा रंगमंच के स्तर पर प्रयोगधर्मी प्रवृत्ति से भरा हुआ है।

आगे मिथकीय कथानक को लेकर लिखे गये चार नाटकों का कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय प्रयोग की दृष्टि से विवेचन करना उचित होगा।

---

[1] नरनारायण राय - 'नाट्य - विमर्श', पृ.19

## 3.11 जगदीशचंद्र माथुर : पहला राजा

माथुरजी की रंगमंचीय प्रयोगधर्मिता में गहरी और सक्रिय रुचि थी और इस दृष्टि से उनकी लंबी नाट्य-यात्रा में कई पड़ाव आये हैं, तथापि अतीत के कथानकों की युगानुरूप प्रस्तुति की दृष्टि से उनकी चार नाट्य-रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं- 'पहला राजा', 'कोणार्क', 'शारदीया' और 'दशरथनंदन'।

'पहला राजा' (1969) भी मिथकीय प्रयोग और रूपक कथा का एक सुन्दर उदाहरण है। इस तरह के द्वयार्थक नाटक इसके पूर्व नहीं लिखे जा सके और न ऐसे मिथकीय प्रयोग ही किसी अन्य नाटक में किया गया मिलता है। इसमें कथ्य और शिल्प, रंगमंच तीनों स्तरों पर एक नयी दृष्टि का विकास हुआ है।

### 3.11.1 कथ्यगत प्रयोग

'पहला राजा' की कथा एक पौराणिक आख्यान पर आधारित है जिसमें पकृति और मनुष के बीच सनातन श्रम संबन्धों की महत्ता को रेखांकित किया गया है। यह उन दिनों की कथा है जब आर्यों को भारत में आए बहुत दिन नहीं हुए थे और हाड़प्पा सभ्यता के आदि निवासियों से उनका संघर्ष चल रहा था। कहते हैं उन दिनों राजा नहीं थे। वेन जैसे उद्दण्ड व्यक्ति के शव-मंथन से पृथु जैसा तेजस्वी पुरुष प्रकट हुआ और कालान्तर में मुनियों द्वारा उसे पहला राजा घोषित किया गया। पृथु, यानि पहला राजा। राजा यानि जो लोकों और प्रजा का अनुरंजन करे। पृथु ने अपनी पात्रता सिद्ध की अर्थात् उनके हाथ धरती को समतल बनाकर उसे दोहने वाले सिद्ध हुए। परिणामतः धरती को भी एक नया नाम मिला- पृथ्वी। माथुर जी का 'पहला राजा' नाटक आधुनिक अन्योक्ति के रूप में लिखा गया है। इसमें महाराज पृथु के पौराणिक उपाख्यान की पृष्ठभूमि में आधुनिक राष्ट्रीय समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। भूमिका में माथुर जी लिखते हैं – "मुख्य पात्र और प्रसंग मैंने वैदिक और पौराणिक साहित्य से लिए हैं। लेकिन इसलिए ही यह नाटक पौराणिक नहीं कहा जा सकता। पृष्ठभूमि के कुछ अंश और कुछ सूत्र मोहनजोदडो-हड़प्पा सभ्यता की खुदाइयों से सम्बद्ध हैं पर इसी से यह नाटक ऐतिहासिक नहीं हो पाया। वैदिक पौराणिक साहित्य, पुरातत्व एवं इतिहास, लोक गीत और बोलचाल- इन सभी में मुझे प्रतीकों के उपकरण मिले है, उन समस्याओं को प्रकट करने केलिए जिनसे मैं इस नाटक में जूझता रहा हूँ। वे समस्याएँ सर्वथा आधुनिक हैं, वे उलझनें

मेरा 'भोगा हुआ यथार्थ' हैं तो यह नाटक न पौराणिक है, न ऐतिहासिक, न यथार्थवादी। यह तो एक माडर्न, एलिगरी-'आधुनिक अन्योक्ति- का मंचीय रूप है।' इस प्रकार इस नाटक में मिथकीय पद्धति को आधार बनाकर विगत को आगत से जोड़कर अनागत का संकेत किया गया है।"[1]

नाटक के आरम्भ में ही नाटककार ने ईश्वर या देव के प्रति अविश्वास प्रकट किया है। आरम्भ में सूत्रधार ईश्वर या देव की स्तुति न करके मानव की स्तुति करता है और सूत्रधार कहता है-"आओ मेधा, कल्पना और मनन के मानसपुत्रों आओ, हम सब मिलकर वंदना करे।" [2]

नाटक के तीन अंको से ऐसा परिलक्षित होता है कि नाटककार वर्तमान राजनीति से पूर्णरूपेण प्रभावित है। आज़ादी के बाद भारत को विदेशी शक्तियों से बराबर खतरा बना रहा है और कई आक्रमण भी हुए हैं। नाटककार ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। पृथु कवच से सहायता माँगता हुआ कहता है-"सच एक ही बात है कि सरस्वती पार के डाकू सारे ब्रह्मावर्त को घेर लेंगे और हमारा तुम्हारा प्यार, हिमालय भी, विगर्त भी, मटियामेट हो जाएगा। इसी चुनौती को मैंने स्वीकार किया है। मेरा साथ दो।" नाटककार ने आधुनिक छिछली राजनीति की ओर भी संकेत किया है। अंग का पलायन, अत्याचारी वेन का वध, नए राजा के रूप में नेता की खोज और एक मंत्रिमंडल की स्थापना आदि घटनाएँ आधुनिक राजनीति से सम्बन्ध रखती हैं। शुक्राचार्य आदि ऋषि-मुनि भी राजा पृथु से सौदेबाज़ी करना चाहते हैं। भृगुवंश और आत्रेय वंश की पार्टीबाजी तथा उनकी पारस्परिक स्पर्द्धा आज की दलबंदी की ओर विशेष संकेत करती है।

प्रस्तुत नाटक में राजतंत्र के स्थान पर जनतंत्रात्मक भावना को अधिक महत्व प्रदान किया गया है। पृथु राजा होते हुए भी जनता सहयोग से कार्य करता है। यह अपने कंधों पर धनुषबाण के स्थान पर कुदाली रखता है। इसके साथ ही नाटककार ने जाति-पांति का विरोध करके हीन जातियों के सहयोग की आशा व्यक्त की है। अन्त में नाटककार ने अपने देश के कृषि-कार्य की ओर भी संकेत किया है। इन प्रमुख समस्याओं के अतिरिक्त इस नाटक में नारी-पुरुष सम्बन्ध, काम-लालसा और पुरुषार्थी का सामंजस्य, उद्योगवाद को प्रश्रय आदि समस्याओं पर भी सांकेतिक रूप से विचार किया गया है।

---

[1] जगदीशचंद्र माथुर : पहला राजा-(लेखकीय), प्र.सं.1980

[2] जगदीशचंद्र माथुर : पहला राजा, प्र.सं.1980, पृ.13

जयदेव तनेजा लिखते हैं- "पहला राजा का पृथु अत्यन्त शक्तिशाली जीवंत, प्रखर और विभिन्न रंगों के योग से बना चरित्र है। वह पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और संघर्ष को प्रस्तुत करने वाला, जीवन की व्यर्थता की अनुभूति से पीड़ित फिर भी निरंतर जीवन को अर्थ देने के प्रयास में रत मानव का चित्र प्रस्तुत करता है।"[1] नाटककार ने पृथु को तीनों युगांतरकारी परिवर्तनों का प्रतीक माना है। प्रथम अंक में पराक्रमी, वीर श्रेष्ठ योद्धा, द्वितीय अंक में प्रजानायक, तृतीय अंक में कर्मपुरुष का रूप- ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः पृथु के चित्रण में नाटककार की दृष्टि नए भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू पर भी रही हो।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कथ्य के स्तर पर प्रस्तुत नाटक एक ओर जहाँ सामाजिक व्यवस्था में शासन तन्त्र के उदय और विकास की कथा है वही दूसरी ओर पौराणिक कथा की नई व्याख्या भी । वस्तुतः पृथु के चरित्र में ही नाट्य के क्षेत्र में प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से नाटककार ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है और इसके माध्यम से वह पृथु के मिथकीय चरित्र को ही नहीं, उसके आधुनिक स्वप्नदर्शी और संघर्षशील नेता को भी उजागार कर सका है। इसी से पृथु का चरित्र विभिन्न दुविधाओं और खिंचावों का बिंदु है।

### 3.11.2 शिल्पगत प्रयोग

नाटक के समग्र रचना-तंत्र और संप्रेष्य वस्तु को रूपायित करने के लिए नाटककार ने इसमें सूत्रधार और नटी की नवीन रूप में अवतरणा की है। उसके पीछे माथुरजी का पारंपरिक लोकनाट्यों, विशेषतः मिथिला के कीर्तनिया नाटकों का प्रत्यक्ष और प्रामाणिक ज्ञान उत्प्रेरक के रूप में तो रहा ही है, साथ ही सूत्रधार और नटी के अभिप्राय को उसने और भी अधिक सार्थकता के साथ काम में लिया है। इस नाटक में सूत्रधार तथा नटी अपनी पारंपरिक भूमिका तो निभाते ही हैं, वे दो ऐसे महत्वपूर्ण पात्रों के रूप में भी सामने आते हैं जो कथा के अंतः सूत्रों और उसमें निहित आशयों को परत-दर-परत हमारे सामने खोलते जाते हैं।

माथुर जी ने पौराणिक प्रसंगों की आधुनिक तर्कसम्मत व्याख्या ही नहीं प्रस्तुत की अपितु उनके भीतर अपने युग की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को भी स्थान दिया । शायद इसलिए उन्होंने स्वयं 'पहला राजा' को आधुनिक अन्योक्ति कहा है।

---

[1] जयदेव तनेजा-आज के हिन्दी रंग नाटक, प्र.सं.1980, पृ.35

उनके सभी पौराणिक पात्र पौराणिक होते हुए भी आज के किसी-न-किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूत और मागध चाटुकारों का तो शुक्र, अत्रि, गर्ग मंत्रि-मण्डल का और नाटक का सबसे महत्वपूर्ण पात्र पृथु भी स्वतंत्र भारत के प्रधानमंत्री नेहरू को कहीं अपने में रूपायित करता है। पृथु के पहला राजा बनने पर जो समस्याएं उठती हैं उनमें नेहरू काल की समस्याओं को देखा जा सकता है। इसलिए डॉ.इन्द्रनाथ मदान का कहना है कि "'पहला राजा' की आधुनिकता पहले दौर की लगती है, नेहरू दौर की।"[1]

"पहला राजा' प्रतीकों के बीच पृथु का बिम्ब आधिकारिक रूप में उभरता है। वह प्रतीक नहीं है। वह तीन युगान्तरकारी परिवर्तनों का बिंब है। राजनीतिक व्यवस्था से संबंधित, आर्यों तथा आर्येतर जातियों से संबन्धित, खेती के नए साधन अपनाने की क्रिया से संबंधित। नाटककार ने इन तीनों उबलब्धियों को पृथु के व्यक्तित्व के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। गौ रूपा-पृथ्वी का बिम्ब इस नाट्य कृति को अद्‌भुत अर्थ और प्रकरण वक्रता से अनुरंजित करता है। वस्तुतः बिम्बात्मक शिल्प प्रयोग ने माथुर जी के नाटकों को अनेकानेक नई दिशाओं में उपलब्धि करवाई है, जिसमें अनुभूति और भाषा दोनों का ध्यान रखा गया है।

भाषा की दृष्टि से 'पहला राजा' में दो स्तर हैं-एक में मिथकीय चरित्र और प्राचीन वातावरण का अवतारणा के लिए लेखक ने प्रसाद के नाटकों जैसी छायावादी शब्दावली का प्रयोग किया है तो दूसरी और उन्होंने पौराणिक-ऐतिहासिक विषयानुकूल भाषा के 'मिथ' को बिल्कुल तोड़ दिया है और अंग्रेज़ी-उर्दू मिश्रित बोलचाल की हिंदी का प्रयोग किया है। और संवाद शैली को समकालीन जीवन की ठोस स्थितियों के निकट लाया गया है। पृथु के संवादों में भाषा के ये दोनों स्तर देखे जा सकते हैं। एक ओर अर्चना के आकस्मिक प्रवेश से उसके सम्मोहन में बाँधकर वह कहता है : 'आओ! हिल्लोर उठ रही है। एक ही उठान में तुम्हारी धरती का आलिंगन - और गगन की हलचल। एक ही उन्माद में धनुष की टंकार और प्यार का राग। कोई उलझन नहीं ..... आओ!"[2] तो दूसरी ओर सम्मोहक वातावरण को तोड़ते हुए सूतमागधों की विरुदावली के शब्दाडंबर पर क्षुब्ध होकर उसके द्वारा कहे ये शब्द हमें अपने यथार्थ के बीच अर्जी देने लगते हैं :

---

[1] डॉ. इन्द्रनाथ मदान- आधुनिकता और हिन्दी साहित्य, प्र.सं.1973, पृ.207

[2] जगदीशचंद्र माथुर - पहला राजा, प्र.सं.1980, पृ.53

'बंद कीजिए यह शब्दाडंबर! मुझे स्तुति नहीं, आपका सहयोग चाहिए। वाणी का विलास नहीं, कर्म का उल्लास चाहिए। बिना मेहनत के तारीफ मुझे उतनी ही अशोभनीय लगती है जितनी बिना बुराई के निंदा।" [1]

### 3.11.3 रंगमंचीय प्रयोग

'पहला राजा' में परिकल्पित रंगमंच भी अयथार्थवादी है। 'पहला राजा' में माथुर ने यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं को तोड़कर अपने ही कथ्य से नियमित एक स्वतन्त्र मुक्त, खुले संचरण करने वाले बहुधरातलीय मंच को कृति में से उजागर किया है। इसमें लोक-नाट्य का-सा शैथिल्य है, संस्कृत नाट्य की-सी कल्पनाशीलता, पाश्चात्य रंगमंच की प्रतीकात्मकता और आधुनिक चिन्तन की प्रौढ़ता है। लोक-नाट्य का गीत-तत्व और मुखौटों का प्रयोग उसके रंगतत्त्वों को और भी गतिशील तथा संपूर्ण बनाते हैं।

ध्वनि के साथ-साथ प्रकाश का महत्वपूर्ण स्थान इस नाटक के रंग-शिल्प में है। मंच के अनेक धरातल प्रकाश के अलग-अलग वृत्तों से दिखाये गये हैं जैसे तीसरे अंक में आगे के धरातल पर सुत्रधार-नटी बोल रहे हैं, दूर टीले पर प्रकाश और ध्वनि के द्वारा पुरुषों की भारी पदार्थ खींचती पंक्ति दिखाई गई है और वहीं, मंच के एक कोने में पृथु और अर्चना छिपकर खड़े हैं। इस तरह कार्य-व्यापार तीन स्थलों पर एक साथ चल रहा है औ प्रकाश का इसमें महत्वपूर्ण स्थान है।

निष्कर्ष रूप में यह कहना ठीक होगा कि मिथकीय वस्तु का चुनाव, बहुधरातलीय मंच परिकल्पना, प्रतीकात्मक चरित्र-योजना, लोक-नाट्य का प्रगति तत्व, मुखौटों का कल्पनाशील प्रयोग, प्रकाश और ध्वनि के मौलिक संस्पर्श से 'पहला राजा' हिंदी नाट्य की महत्वपूर्ण प्रयोगात्मक कृति बन पड़ी है।

## 3.12 शंकरशेष : एक और द्रोणाचार्य

समकालीन हिंदी नाटक की विविध प्रस्तुतियों को लेकर शंकर शेष ने अनेक नाटकों की रचना की है। मिथक या पौराणिक आख्यानों को लेकर नयी प्रयोगधर्मिता के साथ समकालीन संदर्भों में इनके 'एक और द्रोणाचार्य' (1976), 'अरे मायावी सरोवर' उल्लेखनीय हैं। 'एक और द्रोणाचार्य' में वस्तुगत और शिल्पगत प्रयोगों की अवतारणा सर्वथा नयी परिकल्पना के साथ की गयी है।

---

[1] जगदीशचंद्र माथुर - पहला राजा, प्र.सं.1980, पृ.47

### 3.12.1 कथ्यगत प्रयोग

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक एक सार्थक प्रयोग है जो एक प्रसिद्ध पौराणिक मिथक के माध्यम से वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार, पक्षपात, असंगति-विसंगति के मध्य झूलते जीवन-आदर्श, शिक्षक समुदाय के पंगु, असहाय, बेबस और अपाहिज चरित्र को आकलित करता है। महाभारतकालीन गुरु द्रोणाचार्य के जीवन की घटनाओं में और समकालीन शिक्षा व्यवस्था में शिक्षकों की स्थिति में नाटककार को जो साम्य दिखायी देता है उसी के आधार पर पूरे नाटक की रचना की गयी है। इसके लिए नाटककार की प्रयोगधर्मिता दो कथाओं या दृश्यों को समानान्तर लेते चलने की है जो पाठक-दर्शक को विश्वसनीय लगता है। एक ओर अरविन्द शिक्षक केन्द्र में है जो स्वयं शिक्षाजगत में व्याप्त भ्रष्टाचार का शिकार है। तो दूसरी ओर उसकी मध्यवर्गीय मानसिकता से सम्पन्न पत्नी लीला है जो बार-बार स्थितियों की सच्चाई से, मध्यवर्गीय परिवार की आवश्यकताओं से साक्षात्कार कराती रहती है। इस प्रकार नाटक के पूर्वार्द्ध में मूल समस्या की प्रस्तुति है। विशेष रूप से नाटककार अरविन्द जैसे सामान्य प्राणी पर चारों ओर से पड़ते दबाब को विशिष्टता से हटकर उसकी अत्यन्त सामान्य मानसिक स्थिति को, दबाव के परिणाम और विवशता को दिखाना चाहता है। विमलेन्दु की कल्पना करके नाटककार ने नाटक में तीव्रता, कौतूहल-वृत्ति, अपना चिन्तन नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करना चाहा है जो अरविन्द के अन्तर के भय और द्वन्द्व को, प्रश्नों को भी स्पष्ट करता है। इसी के समानान्तर द्रोणाचार्य, कृपी और अश्वत्थामा का कथानक उसी मंच पर चलता है- आर्थिक संकट, व्यवस्था का दबाब, सुवोधाभोगी मनोवृत्ति वहाँ भी है। अरविन्द और द्रोणाचार्य,तथा लीला और कृपी समानान्तर लगने लगते हैं। एकलव्य से चन्दू की स्थिति जुड़ती है। अर्जुन का उपयोग गुरु द्रोणाचार्य की 'अपूर्णता' पर प्रश्नचिह्न लगाने के लिए और उस युग की पौराणिक विश्वसनीयता बढ़ाने के लिए किया गया है। नाटक का उत्तरार्घ सुविधाप्राप्ति, सफलता के बाद का है। प्रिंसिपल अरविन्द, प्रसन्न पत्नी लीला, वाइसप्रिंसिपल यदु सुविधावादी प्रवृत्ति का अहसास कराते हैं। लेकिन अनुराधा का प्रवेश कथानक को पुनः नाटकीय मोड़ देता है, दबाव, नियति और विडम्बना और भी सामने आते हैं। विमलेन्दु का प्रवेश पुनः उसी युक्ति के रूप में लिया गया है और इसी के समानान्तर पुनः द्रोणाचार्य का युद्ध दृश्य चलता है। नाटक का अन्त अरविन्द और

विमलेन्दु के तीव्र संवादों से, संवादों में निहित प्रश्नचिह्नों से, सच्ची जीवन स्थिति से होता है।

यहाँ प्रश्न है भौतिक सुखों का आकर्षण महत्वपूर्ण है या राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण? इस प्रश्न की तह तक पहुँचकर उसका पक्ष प्रतिपक्ष रखना भी 'एक और द्रोणाचार्य' का मूल उद्देश्य है। समय साक्षी है कि इतिहास अपने को अवश्य दोहराता है। पौराणिक मिथक के माध्यम से नाटककार ने 'एक और द्रोणाचार्य' के रूप में आज के शिक्षक के मुख पर चढ़े मुखौटों की आन्तरिक बदसूरती को खुलकर समाज के सामने रखा है। इसीलिए " 'एक और द्रोणाचार्य' में मिथक और आधुनिक प्रसंगों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव, मिथक में आधुनिक युग का समावेश, पात्रों का मिथक से वर्तमान में प्रवेश आदि का सुन्दर प्रयोग हुआ है।"[1] ऐसा लगता है जैसे गुरु द्रोण के रूप में पौराणिक मिथक ही मानों समकालीन शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षकों की स्थिति के रूप में रूपान्तरित हो गया हो। नाटककार यहाँ आधिकारिक अथवा प्रासंगिक कथा के चक्कर में न पड़कर अपनी उद्देश्य पूर्ति में निमित्त दोनों कथाओं को समानान्तर विकसित करता है। वे स्वतन्त्र होते हुए भी एक-दूसरे से गुंथी हैं। एक ओर अरविन्द, उसके परिवार और कॉलेज के प्रसंग हैं और दूसरी ओर द्रोणाचार्य, उनके परिवार और उनसे सम्बद्ध महाभारत-कालीन प्रसंग हैं।

आधुनिक द्रोणाचार्य अरविंद महाविद्यालय के प्रबंधक से समझौता करके न्याय के लिए संघर्षशील छात्र नंदू की बलि चढ़ा देता है। इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक दोनों कथाओं की समानांतर प्रस्तुति के कारण ही नहीं, दोनों के पात्रों को भी द्वंद्वात्मक ढंग से साथ-साथ प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह नाटक महत्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग की सफलता इस बात में भी है कि प्राचीन और आधुनिक दोनों कथानक इस द्वंद्वात्मक पद्धति से यहाँ विकसित होते है।

वस्तुतः यह हिंदी का एकमात्र उल्लेखनीय नाटक है जिसमें दो कथानकों का प्रत्यक्ष प्रस्तुतीकरण के द्वारा दोनों को आगे बढ़ाते हुए इसप्रकार के समानांतर निर्वाह से घटनाओं, पात्र और परिवेश की एक-दूसरे के संदर्भ में व्याख्या का उपक्रम किया गया है।

### 3.12.2 शिल्पगत प्रयोग

सम्पूर्ण नाटक को दो भागों में विभाजित किया गया है - एक, पूर्वार्द्ध और दूसरा, उत्तरार्द्ध । प्राचीन तथा आधुनिक दोनों कथाएँ नाटक के दोनों भागों में

---

[1] गोविंद चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना , प्र.सं.1975,पृ.86

समानान्तर एक गति से नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक चलती रहती हैं। नाटक के उत्तरार्द्ध के छठे दृश्य में एक तीखी आवाज़ द्वारा 'अश्वत्थामा मारा गया। अश्वत्थामा मारा गया। वह देखो अश्वत्थामा'[1] तथा नेपथ्य से आवाज़ द्वारा 'खड़े-खड़े देख क्या रहे हो, धृष्टद्युम्न! काट दो उस बूढ़े की गर्दन! ले लो अपने पिता के अपमान का बदला।'[2] इस प्रकार के वाक्यों का निर्माण कर नाटककार ने किसी पात्र के बिना ही प्रसंग को साकार किया है।

'एक और द्रोणाचार्य' का शिल्प दर्शक तथा मंच को निरन्तर जोड़ता रहता है। सम्पूर्ण नाटक में दृश्य परिवर्तन को विशेष महत्व दिया गया है। क्योंकि दो कथा बीजों के कारण हमेशा के लिए दृश्य परिवर्तन होता रहता है। दृश्य परिवर्तन पर ही नाटक की सफलता निर्भर है। नाटक के अन्त तक पाठक तथा दर्शक की जिज्ञासा बनी रहती है।

नाटक में समानान्तर कथा बीजों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का भाव साकार होने से शिल्प में नवीनता का संकेत दृष्टिगोचर होता है। शिल्प की दृष्टि से नाटक नई सम्भावनाओं को लेकर अवतरित हुआ है। बिना किसी सूत्रधार के सीधे पात्रों द्वारा प्रारम्भ, दो अंकों की योजना, प्रेक्षकों के लिए बीच का अंतराल मध्यांतर के रूप में प्रयुक्त हो पाना नाटक की मंचीय संभावनाओं की ओर ही संकेत करते हैं। संवादों का सीधा स्पष्ट और प्रखर शब्दावली युक्त होना और अतिरिक्त बिम्बात्मकता के बोझ से मुक्त कथा प्रवाह नाटक की अतिरिक्त विशेषता है। गुरुद्रोण की उनके संदर्भों की फ्लैश बैक योजना, विमलेन्दु की आत्मा की योजना, कथावस्तु की प्रामाणिकता और प्रासंगिकता की दृष्टि से उपादेय है। गुरुद्रोण के संदर्भ में आज के शिक्षक अरविन्द का दर्शकों के साथ स्थापित संवेदनात्मक सम्बन्ध प्रसंग की सार्थकता सिद्ध करता है।[3]

### 3.12.3 रंगमंचीय प्रयोग

'एक और द्रोणाचार्य' की रंग शिल्पगत उपलब्धियाँ उसकी विशिष्ट वस्तु-योजना से ही निकली है। देश और काल की दृष्टि से दो अलग-अलग कथानकों को साथ-साथ प्रस्तुत करना एक विशिष्ट शिल्प की अपेक्षा करता है। नाटक में मंच पर अरविंद उपस्थित होता है। उसके सामने महाविद्यालय में अध्यापक रह चुके विमलेंदु का प्रेत

---

[1] शंकर शेष - एक और द्रोणाचार्य, संस्करण.2004, पृ.71

[2] शंकर शेष - एक और द्रोणाचार्य, पृ.71

[3] डॉ विनय (सं)-समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच-अश्विनी पराशर- एक और द्रोणाचार्य, प्र.सं. 1981 पृ.170

उपस्थित होता है, जिसकी हत्या न्याय के लिए संघर्ष करने के कारण ही कर दी गयी थी। वह अरविंद की नैतिकता और आदर्शवादिता को व्यर्थ बताता है और उसके माध्यम से तीनों बार नाटककार महाभारतीय कथा के दृश्य प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दो कथाओं और उसके पात्रों को मंच पर साथ साथ उपस्थित करने के लिए विशिष्ट तकनीक अपनायी गयी है तथा अति-प्राकृत तत्व का विशेष अभिप्राय के साथ प्रयोग किया गया है। विमलेंदु के प्रेत की उपस्थिति और महाभारतीय कथा की झाँकी अरविंद के संशय और चेतना में विविध स्तर पर चलने वाले अंतर्द्वंद्व की विविध अनुभूति को और भी गहरा बनाती है।

विमलेंदु के प्रेम के अतिरिक्त न्यायालय के दृश्य में भी नाटककार ने नवीन प्रयोगों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इसमें मंच पर केवल अभियुक्त अरविंद तथा गवाह चंदू को ही उपस्थित कराया गया है तथा न्यायाधीश और वकील के पात्रों की प्रत्यक्ष उपस्थिति के स्थान पर विभिन्न आवाज़ों का प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा दर्शकों का ध्यान अरविंद और चंदू पर केंद्रित रहता है।

शिल्प की दृष्टि से इस नाटक की एक अन्य उपलब्धि तीखी और धारदार भाषा का प्रयोग होता है। द्रोणाचार्य जैसा पात्र अपनी समझौतापरस्ती पर पश्चात्ताप करता हुआ अपने सुविधाभोगी जीवन व झूठी प्रतिष्ठा को धिक्कारता हुआ समकालीन भाषा में बोलने लगता है तो दूसरी ओर अरविंद की चेतना को झकझोरता हुआ विमलेंदु का प्रेत उससे कहता हैः "तू द्रोणाचार्य है, व्यवस्था और सत्ता के कोड़ों से पिटा हुआ द्रोणाचार्य-इतिहास की धार में लकड़ी के ठूँठ की तरह बहता हुआ वर्तमान के कगार से लगा हुआ-सड़ा-गला द्रोणाचार्य। व्यवस्था के लाइटहाउस से अपनी दिशा माँगने वाले टूटे जहाज़-सा द्रोणाचार्य।"[1]

नाटक में कुल तेरह दृश्य हैं। अरविन्द का घर, द्रोणाचार्य का आश्रम, जंगल तथा युद्धभूमि, जेल की कोठरी तथा कोर्ट-रूम। इन स्थलों में नाटक खेला गया है। दृश्य-परिवर्तन में अधिक कठिनाई नहीं है। थोड़े-से ही परिवर्तन के साथ अरविन्द के घर को द्रोणाचार्य की कुटी बनाया जा सकता है। जंगल और युद्धभूमि अधिकतर ध्वनि के माध्यम से ही साकार होते हैं। मंच पर रथ का टूटा पहिया होने से युद्धभूमि का दृश्य बनता है। दृश्य-परिवर्तन के लिए प्रकाश योजना की गयी है। प्रत्येक दृश्य के अंत में मंच पर अंधकार होता है अर्थात् 'ब्लैक आऊट' पद्धति से दृश्य परिवर्तित होते हैं । ध्वनि-योजना

[1] शंकर शेष - एक और द्रोणाचार्य, संस्करण.2004, पृ.75

भी सार्थक जान पड़ती है। अश्वत्थामा का आक्रोश, युद्ध की भयावहता, विमलेन्दु-सभी ध्वनि के माध्यम से ही साकार हुए हैं। इस प्रकार सभी आधुनिक तकनीकों का सार्थक प्रयोग करते हुए नाटककार ने कथ्य और शिल्प के धरातल पर अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है।

डॉ. सुनीलकुमार लवटे के कथनानुसार 'एक और द्रोणाचार्य' कथ्य एवं शिल्प की नवीनता को लेकर उपस्थित होने वाला ऐसा प्रयोगशील नाटक है, जिसमें मंचन की पर्याप्त संभावनाएँ निहित हैं। निर्देशक के लिए अनेक सुप्त संकेतों से युक्त यह नाटक स्वातंत्र्योत्तर नाटक के इतिहास में शिल्प और शैली वैचित्र्य के कारण एक अलग व्यक्तित्व धारण करता है।[1]

## 3.13 दयाप्रकाश सिन्हा : कथा एक कंस की

दयाप्रकाश सिन्हा मूलतः हास्य-व्यंग्य के नाटककार है। मन के भंवर, दुश्मन, अपने-अपने दांव, इतिहास चक्र और, ओह अमेरिका, मेरे भाई मेरे दोस्त, सांझ सवेरा आदि उनके प्रकाशित नाटक है। दया प्रकाश सिन्हा हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में एक जाना-पहचाना नाम हैं, पर 'कथा एक कंस की' नाटक ही उनकी एकमात्र ऐसी, कृति है जिसमें उन्होंने नयी जमीन तलाशने की कोशिश की है। यह नाटक शैली, शिल्प और कथ्य तीनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण, प्रयोगशील और नयी संभावनाओं की ओर संकेत करने वाला नाटक साबित होता है।

### 3.13.1 कथ्यगत प्रयोग

'कथा एक कंस की' नाटक का शीर्षक जहाँ द्वापरयुगीन कंस का स्मरण दिलाता है। वहाँ संख्यावाची 'एक' इसे व्यापक प्रयोग से मण्डित कर एक अलगाव भी उपस्थित करता है। निःसंदेह यही विचारणा इस नाटक का प्रस्थान बिन्दु है, सृजन-प्रेरणा है और यही से इसका रूप प्रतीकात्मक हो जाता है।

यद्यपि 'कथा एक कंस की' का कथानक प्रख्यात है, अतीत से जुड़ा है तथापि इसका कथ्य कालातीत है। वह अतीत या वर्तमान से ही नहीं भविष्य से भी जुड़ा है और इस प्रकार उसकी प्रासंगिकता असंदिग्ध है। लेखक के शब्दों में "यह नाटक केवल पौराणिक कंस की कथा ही नहीं है। कंस के माध्यम से इतिहास की उस घटना को

---

[1] नाटककार शंकर शेष – डॉ. सुनिलकुमार लवटे, प्र.सं.1982, पृ. 50-51

पहचानने की कोशिश की गयी है जिसके द्वारा स्वेच्छाचारी शासक समय-समय पर मंच पर आते रहते है। ऐसे अनेक कंसों में से एक कंस की यह कथा अनेकों के परिप्रेक्ष्य में हैं।"[1] स्पष्ट शब्दों में कंस उन स्वेच्छाचारी शासकों का प्रतीक है जो अपने सम्मुख किसी को कुच्छ नहीं समझते, अपने गर्व की रक्षा और अहम् की तुष्टि के लिए कुछ भी कर सकते हैं और अपने अत्याचारों से धरती और आकाश को कँपा सकते हैं, सभी प्रकार के स्नेह-सम्बन्धों को तोड़ सकते हैं। अपनी सत्ता की रक्षा के लिए ऐसे शासक स्वयं को ही भगवान मानने का भ्रम पाल लेते हैं और सभी पर अविश्वास करते हुए अन्ततः नष्ट हो जाते हैं। नाटककार दयाप्रकाश सिन्हा ने कंस के माध्यम से उन व्यक्तितन्त्री स्वेच्छाचारी शासकों के निर्माण और विनाश का अन्वेषण किया है जिसका समय-समय पर इतिहास के विभिन्न मोड़ों पर आविर्भाव हुआ है, चाहे वह कंस हो या औरंगजेब, या हिटलर या मुसोलिनी। "ऐसे व्यक्ति आत्म-सत्ता के विस्तार की उद्दाम आकांक्षा से पीड़ित उस मार्ग पर बढ़ते ही जाते हैं, जहाँ से लौटना संभव नहीं होता, और जिसकी परिणति आत्मनाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शेर के सवार की भाँति वह अन्त तक शेर से उतर नहीं सकते। अन्ततः ऊपरी तड़क-भड़क के बावजूद, वह विवशता की घुटन अनुभव करते हैं, जो उनके जीवन की वास्तविक त्रासदी होती है। इस नाटक के द्वारा मैंने एक स्वेच्छाचारी शासक के उत्थान-पतन के अतिरिक्त उसकी महत्वाकांक्षा में निहित त्रासदी को पकड़ने की भी चेष्टा की है। यही नाटक की मूल संवेदना है।"[2]

'कथा एक कंस की' नाटक दो स्तरों पर चलता है। एक राजनैतिक और एक मानवीय। राजनैतिक स्तर पर कंस अपनी निरंकुश सत्ता के सभी अवरोधों को समाप्त करता है, या करना चाहता है, इसके लिए उसे अतिरिक्त क्रूरता का आश्रय लेना पड़ता है। मानवीय स्तर पर भी वह क्रूर होता है, लेकिन कहीं-कहीं भीतर को टटोलता हुआ अपने कृत्य को सही सिद्ध करने केलिए फिर-फिर क्रूर होता जाता है। उसकी सत्ता लोलुपता राजनैतिक को समाप्त करती है तो उसके अस्तित्व का प्रश्न अपनी बहन और प्रिया के प्रति अमानवीय होने की यंत्रणा देता है।

नाटककार यह मानकर चला है कि न तो कोई मनुष्य पूरी तरह राक्षस होता है और पूरी तरह देवता। वह गुण-दोषों से युक्त मनुष्य होता है और उसके निर्माण में

---

[1] दयाप्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की , संस्करण – 1992, पृ. 17

[2] दयाप्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की , संस्करण- 1992, पृ. 13

परिस्थितियों की अहम् भूमिका होती है। अपनी इस मान्यता के परिप्रेक्ष्य में ही नाटककार ने कंस के चरित्र को चित्रित किया है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन में कंस एक खलनायक के रूप में प्रसिद्ध है पर वह सदैव वैसा नहीं था। अपने जीवन के उषाकाल में वह एक सदय, संगीतप्रेमी, सहृदय प्राणी था, पर इसके बदले उसे अपने पिता और समाज से तिरस्कार ही मिला। उसका उपहास किया गया, उसकी भावुकता की खिल्ली उड़ायी गयी और पुरुष के वेष में उसे स्त्री माना गया। अपनी इस अवमानना से कंस का हृदय तिलमिला उठा, प्रतिशोध की अग्नि उसके हृदय में धधक उठी और वह मानव से दानव बन गया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रेम, स्नेह, आत्मीयता का अभाव उसे और अधिक क्रूर, असन्तुष्ट, भयानक और मानवीय संवेदना से शून्य बनाता चला जाता है।

संक्षेप में 'कथा एक कंस की'नाटक में यद्यपि कथा कंस की है, फिर भी वह किसी भी उस सत्ताधिकारी की हो सकती है जो मनुष्य की तरलता का संवाहक होते हुए भी सत्ता के क्षेत्र में आते ही - मानव और दानव में बंट जाता है। सत्ता मनुष्य को किस कदर भ्रष्ट, दानव और स्वार्थी बना देती है, इसका प्रमाण कथा में आई स्थितियों से मिलता है।

### 3.13.2 शिल्पगत प्रयोग

शिल्प की दृष्टि से नाटककार ने इस नाटक में शेक्सपीरियन त्रासदी के तत्वों का सार्थक प्रयोग किया है। नाटक में आद्यंत कंस का चरित्र छाया हुआ है। शेक्सपियर के मेकबेथ जैसे नायकों के समान अपने अधःपतन और अंतर्विरोधी चरित्र के निर्माण में सामाजिक और बाह्य कारण भी उतने ही उत्तरदायी हैं इसलिए वह हमारी सहानुभूति का पात्र बना रहता है। त्रासदी के नायक के समान अपने अधःपतन में भी कारुणिक प्रतीत होने वाले कंस के इस रूप के चित्रण के लिए नाटककार ने शिल्प की दृष्टि से कई तकनीकों का आश्रय लिया है।

इस पूरी नाटकीय अभिकल्पना को पूर्वावलोकन पद्धति से प्रस्तुत किया गया है। नाटक का आरम्भ ही कंस की भयाक्रान्त मनःस्थिति, जीवन की क्रूर विडम्बना और निद्रा न आने की बेचैनी से होता है और फिर उसी पूर्वावलोकन पद्धति के द्वारा उसके अतीत की स्मृतियों और वर्तमान की परिणति को जोड़ा जाता है। सारे क्षण और घटनायें स्मृति में आती है। पूरे नाटक को लगभग पूर्वावलोकन पद्धति से ही अनावृत्त किया गया है।

बाहुक, प्रलंब और प्रद्योत, तीनों का अनिद्राग्रस्त कंस को लोरी सुनाना भी इसी प्रकार का प्रयोग है जो कंस के भीतर छिपे हुए बालक और सब ओर से आशंकित

सत्ताधारी व्यक्तित्व, दोनों रूपों की सूचना देता है। नाट्यशिल्प की दृष्टि से नाटक के भीतर नाटक की प्रस्तुति का प्रयोग भी इस नाटक की प्रयोगधर्मिता को नया आयाम देता है। प्रस्तुत नाटक में अत्याचारी शासक का अधःपतन दिखाने वाला नाटक 'नृसिंहावतार' काशी की एक नाटक-मंडली कंस के सामने खेलती है। सूत्रधार और मुखौटे पहने व्यक्तियों के साथ कथा का प्रस्तुतीकरण होता है। सूत्रधार के शब्दों के साथ हिरण्यकश्यपु का मूकाभिनय, परदे के पीछे से प्रह्लाद का दिखना और सूत्रधार के गायन से नरसिंह कथा का वर्णन और अभिनय चलते रहना आदि अंश प्रयुक्त किये गये हैं। नाटक के अंत में वंशी की ध्वनि के साथ व्याप्त होते कंस के भय का, असफल द्वन्द्व का, गिड़गिड़ाती वाणी का सफल चित्रण हुआ है जो कंस जैसे व्यक्तियों के जीवन की त्रासदी को व्यक्त करता है।

कंस इसे देखते हुए तिलमिलाकर नाटक बंद करवाते हुए इस मंडली के कलाकारों को फाँसी पर लटकाने का आदेश देता है। यह प्रयोग नाटक की विषयवस्तु को अग्रसर भी करता है और उसकी अनुभूति को सघन बनाता है।

### 3.13.3 रंगमंचीय प्रयोग

नाटककार ने अपने नाटक की वस्तु और शिल्प के अनुरूप रंगमंच और रंगशिल्प की कल्पना समुचित रूप में की है। सारा नाटक कंस के चारों ओर घूमता है। उसके व्यक्तित्व के अंतर्विरोध को उजागर करने के लिए रंगमंच पर दो अभिनय स्थलों की कल्पना की गयी है। प्रथम राजमहल की खुली छत जिसके पीछे एक पाषाण स्तंभ और कंस के बैठने के लिए आसन है। आसन के पास एक विशाल गजर हथौड़ी सहित रखा है जिसे बजाकर कंस अपने अनुचरों को बुलाता है। दूसरा स्थल वन्य प्रदेश में एक विशाल वृक्ष के दृश्य का है। पार्श्व संगीत के रूप में वंशी की ध्वनि के अतिरिक्त आँधी की तेज आवाज़ का भी उपयोग किया गया है जो कंस के मन के भीतर बहते हुए अंधड़ की सूचना के साथ नाटक के अनुकूल परिवेश निर्मित करती है। एक स्थान पर कंस स्वयं कहता है। "जो भीषण आँधी बाहर थी, उससे अधिक भीषण झंझा हमारे हृदय में थी।"[1]

उसी प्रकार नाटकों में आकाशवाणी का प्रयोग भी प्राचीन नाटक से सर्वथा भिन्न रीति से होता है, जब भयभीत कंस की मनोदशा से आकाशवाणी के रूप में दर्शकों को

[1] दयाप्रकाश सिन्हा - कथा एक कंस की , संस्करण- 1992, पृ. 26

परिचित कराया जाता है- वहाँ आकाशवाणी, आकाशवाणी न रहकर कहीं गहरे कंस के अंतर्मन की वाणी बन जाती है।

स्पष्ट है कि यह नाटक शैली, शिल्प और कथ्य की दृष्टि से नये रंग की प्रयोगशील रचना है।

### 3.15 सुरेंद्रवर्मा : सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

राकेशोत्तर हिंदी नाट्य-साहित्य के विकास में जिन नाटककारों का योग है उनमें सुरेंद्रवर्मा का नाम प्रतिष्ठित है। उन्होंने युग की विसंगतियों के संघर्ष में टूटते-बिखरते मनुष्य के मानसिक विघटन को ऐतिहासिक पौराणिक संदर्भों के माध्यम से मुखर किया है। सुरेंद्रवर्मा के नाटक 'सेतुबंध', 'नायक खलनायक विदूषक', 'आठवां सर्ग', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि ऐतिहासिक एवं मिथकीय आधार पर बहुत तीखे समकालीन जीवन्त अनुभव को रेखांकित करते है। सुरेंद्रवर्मा ने ऐतिहासिक और पौराणिक कथानक को चुनने के विषय में स्वयं कहा है कि "....व्यक्तिगत रूप से मेरा मन अतीत की स्वर्णिम छवियों में बहुत रमता है। अतीत के झरोखे से अपने वर्तमान को देखना एक सुखद अनुभव है। यूँ सामान्यतः 'मिथ' से चूँकि अधिकांश लोग पहले से परिचित होते हैं, इसलिए चरित्रों और स्थितियों के निर्माण पर अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता । सिर्फ उन्हें एक व्याख्या भर देनी होती है। प्रकारान्तर से यह भी अपनी परम्परा को पहचानने और उससे जुड़ने की ही प्रक्रिया है। अपने समृद्ध मिथक साहित्य का प्रयोग हमें करना ही चाहिए।"[1]

'नियोग' और 'क्षेत्रज' संतान की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों और पुराणों में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। व्यास ने नियोग द्वारा विचित्रवीर्य की विधवा पत्नियों से धृतराष्ट्र और पांडु पैदा किए, अम्बिका की दासी से विदुर जनमे। कुन्ती ने भी नियोग का आश्रम लेकर कर्ण और पांडवों को जन्म दिया था। नियोग के इन्हीं पुराण ऐतिहासिक सूत्रों से इस नाटक का ताना बुना गया है। नपुंसक मल्ल राजा ओक्काक प्रजा को कोई उत्तराधिकारी देने में असमर्थ है। अतः अमात्य परिषद् उसे बाध्य करती है कि वह महादेवी शीलवती को धर्मनटी बनाकर उपपति चुनने की अनुमति दे। राजा विवश कठपुतली-सा यह सब करता है। पुराकथा के माध्यम से समकालीन जीवन के एक पक्ष का विशेष रूप

---

[1] जयदेव तनेजा, आज के हिन्दी रंगनाटक, परिवेश और परिदृश्य, पृ. 139

से और अन्य पक्षों का सामान्य रूप से मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-विवेचन यहाँ किया गया है। पुंसत्व के अभाव में दाम्पत्य जीवन में पेदा होने वाली शारीरिक-मानसिक समस्याओ को यह नाटक भली-भाँति आकलित करता है।

आधुनिक हिंदी नाटय साहित्य में कई दृष्टियों से प्रयोगशीलता के स्तर पर इस नाटक ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

### 3.15.1 कथ्यगत प्रयोग

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' स्त्री-पुरुष के प्रेमी-सम्बन्धों को संवेदना के आधुनिक धरातल पर उजागर करता है। अतः इसमें नर-नारी-संबंधों, नारीत्व की सार्थकता, मातृत्व के महत्व आदि पर खुली बहसें हैं, संभोग के उन्मुक्त चित्र है। दूसरे शब्दों में, बौद्धिकता और खुलापन है, जो आधुनिकता के नियामक बिन्दु हैं। इसमें नारी-स्वातन्त्र्य के प्रतीक रूप में शीलवती की परिकल्पना की गयी है।

सुरेंद्रवर्मा ने इस नाटक में काम-मूल्यों का परिवर्तित रूप, उसका नंगा यथार्थ दर्शक-पाठक के सामने बड़ी बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है। नाटक ओक्काक पर केंद्रित न होकर शीलवती पर है। शीलवती के माध्यम से काम-सुख और नर-नारी संबंधों पर नये दृष्टिकोण से विचार किया है। पुरुष की उपयोगितावादी दृष्टि का खंडन करते हुए राजमहिषी शीलवती धर्मपटी बनने के पश्चात् इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि सम्भोग के क्षणों में किसी भी स्त्री का ध्यान भावी-सन्तान की ओर न होकर मात्र उस आनन्द पर टिका होता है जो उसे काम-क्रीड़ा में मिलता है। "**.....**नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, महामात्य। है केवल पुरुष से संभोग के इस सुख में**....** मातृत्व केवल एक गौण उत्पादन है**....** जैसे दही से निकलता तो मक्खन है, लेकिन तलछट में थोड़ी-सी छाछ भी बच जाती है।**...** (संकेत सहित) हम सब छाछ हैं, छाछ**...**।"[1]

वस्तुतः यह नाटक व्यक्तिगत सुख की खोज में भटके आज के मानव की स्थिति को उजागर करती है। इस तरह नियोग आधारित जातक कथा का मिथक आज के मानवीय सन्दर्भों में सार्थक अर्थवत्ता लिये है। जयदेव तनेजा ने इस नाटक के मिथक के भीतर से समकालिक महत्व के एक और अर्थ की भी सम्भावना देखी है। उनके अनुसार यह नाटक '**....** शासक और शासन-तन्त्र के आपसी रिश्ते के माध्यम से सत्ता-तन्त्र के

---

[1] सुरेंद्रवर्मा - सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, पृ.49

समक्ष स्वयं सत्ताधारी की बेबसी, बेचारगी, नपुंसकता और त्रासदी को भी रेखांकित करता है।'[1] इस प्रकार प्रस्तुत नाटक का मिथकीय संदर्भ बहुआयामी होकर कृति की नाटकीय सम्भावनाओं को तो बढ़ाता ही है उसे आज के सन्दर्भ में भी सार्थकता देता है।

### 3.15.2 शिल्पगत प्रयोग

शिल्प की दृष्टि से तीन अंको का यह नाटक कलात्मक निष्पादन और गुंफन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। नाटक की वास्तविक शक्ति उसकी काव्यात्मकता, भावाभिव्यंजक भाषाप्रयोग, रूमानी भावपूर्ण चित्रण, परंपरागत मिथक की नई सामयिक व्याख्या, प्रभावशाली समारंभ और समापन तथा द्वन्द्वाश्रित चरित्र-सृष्टि में है। शीलवती के धर्मनटी बनकर पुरुष वरने का सारा उत्सव सूच्य बनकर आया है। यहाँ संस्कृत नाटक की चित्रात्मक शैली का उपयोग किया गया है। प्रस्तुत नाटक में ओक्काक और शीलवती के मन की सूक्ष्म जटिल अन्तः स्थितियाँ ही सम्प्रेषित हुई हैं और नाटककार उनके अन्तर्मन के द्वन्द्व की भीषणता, भयंकरता और असमंजस को प्रतीकों के माध्यम से पूरी तरह दर्शक तक पहूँचा सका है।

प्रस्तुत नाटक के प्रतीक सरल हैं और तात्कालिक सम्प्रेषण में समर्थ हैं जोकि एक नाटक की मौलिक आवश्यकता है। ओक्काक का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करने के लिए मदिरापान का रंग-प्रतीक बहुत बार प्रयुक्त हुआ है। विशेष रूप से दूसरे अंक में बार-बार मदिरा कोष्ठ की ओर जाना, चषक भरना और घूँट-घूँट पीना अव्यवस्थित मनःस्थिति को ही उभारता है। इसी तरह पक्षी की ध्वनि भी ओक्काक की अकुलाहट को ही प्रतीकात्मक ढ़ंग से व्यक्त करती है।

नाट्य-विडम्बना सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों एवं उनकी भाषा की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका विस्तार चरित्रों, स्थितियों और संवादों से लेकर शब्दों तक है। पहले अंक में शीलवती और महामात्य की स्थिति और 'मछली की आँख' वाले संवादों के सामने तीसरे अंक के इसी प्रसंग की विडम्बना द्रष्टव्य है। 'शीलवती' तथा 'असूर्यस्पर्शी' जैसे नामों, शब्दों तक में गहरी नाट्य-विडम्बना का समावेश किया गया है।

सुरेन्द्र वर्मा ने यथार्थवादी रंगमंच पद्धति और सन्दूकिया सेट उठाया है। नाटककार ने नाटक के प्रारम्भ में दृश्यबन्ध विषयक रंग निर्देश दिये हैं। नाटक का दृश्यबन्ध

---

[1] जयदेव तनेजा, आज के हिन्दी रंगनाटक, प्र. सं.1980, पृ. 140

राजप्रासाद शयनकक्ष है। नाटक का तीन अंकों में विभाजन किया गया है जिसमें सूर्यास्त, रात्रि के विभिन्न पहर और सूर्योदय के समय को एक दृश्यबन्ध में बाँध दिया गया है।

देशकाल और वातावरण, प्रकाश, नेपथ्य संगीत और 'विराम' की कुशल नियोजना भी नाटक की प्रभाववृद्धि में सहायक हुए हैं। प्रथम अंक में महत्तरिका द्वारा राजप्रांगण और स्वयंवर का ओक्काक के प्रति 'आँखों देखे हाल' का वर्णन सूच्य एवं दृश्य तत्वों का सुन्दर समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करता है। पूरे नाटक में से रात का बिम्ब उभरता है जो एक ओर यौन-सम्बन्धों का प्रतीक बनकर दर्शक को कुरेदता है, वहीं ओक्काक का अकेलापन और मानवीय नियति की भयावहता, अन्धकारमयता को भी उभारता है। नेपथ्य से आने वाली रात के एक प्रहर के बीतने की ध्वनियाँ इस बिम्ब को और सशक्त करती है।

सुरेन्द्र वर्मा ने एक रात की कालावधि में ही ओक्काक और शीलवती के जीवन में इतना भारी परिवर्तन दिखाकर काल के बोध को मानवीय नियति की विडंबना से जोड़ा है। पात्रों की मनः स्थिति के अनुरूप ही भाषा में कोमलता, विद्रोह या द्वन्द्व, आक्रोश और विवशता की लयात्मकता आ जाती है। भावों का उतार-चढ़ाव दिखाने में भाषा बराबर साथ देती है। परिणामतः नाटक की मूल संवेदना बहुत घनीभूत हो गई है। इस नाटक की कथा अश्लीलता के आरोप का शिकार हो सकती थी और पूरा नाटक रंगमंच के लिए प्रतिकूल सिद्ध हो सकता था, किन्तु लेखक ने भाषा और नाट्यशिल्प के माध्यम से उसे संकट से बचा लिया है।

इस नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने नाटक की शास्त्रीय पद्धतियों का भी प्रयोग किया है और साथ ही आधुनिक प्रयोगशीलता भी अपनाई है। इस नाटक में मूल समस्या को क्रमबद्ध रूप में दृश्यात्मक विधान के साथ प्रस्तुत किया गया है और अत्यन्त सजीव भाषा अपनाई गई है। सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक अभिव्यक्ति और उद्देश्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और आधुनिक प्रयोगशील नाटकों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाता है।

## 3.16 निष्कर्ष

समकालीन जीवन के तनावों, दबावों और जटिल मानवीय संबंधों को प्रस्तुत करने के लिए अनेक नाट्य रूपों की खोज स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने की है। काव्य नाटक और मिथकीय नाटक - इस सृजन प्रक्रिया के नवीन नाट्य रूप है। काव्य नाटक नाट्य साहित्य का वह रूप है जिसमें काव्यत्व और नाट्यत्व का एकीकरण है। काव्य

नाटक ने हिंदी नाटक की भाषा, संवाद तथा संपूर्ण शिल्प को एक नयी गरिमा से आवेष्टित किया है। इसका सुंदर उदाहरण धर्मवीर भारती के 'अंधायुग', डॉ. विनय के 'एक प्रश्न मृत्यु', प्रभातकुमार भट्टाचार्य के 'काठमहल' और दिविक रमेश के 'खण्ड-खण्ड अग्नि' आदि कई नाटकों में देखा जा सकता है। मिथक अतीत से जुड़ने का उपक्रम एवं इतिहास को समझने का द्वार है। काव्यनाटक और मिथकीय नाटक में सीधे-सीधे समकालीन परिवेश का चित्रण प्रायः नहीं किया जाता है । वह किसी मिथकीय अथवा ऐतिहासिक वृत्त की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करता है जो समकालीन संदर्भों में प्रासंगिक हो। 'पहला राजा', 'एक और द्रोणाचार्य', 'कथा एक कंस की', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि नाटकों में समकालीन जीवन की अनेक समस्याओं और विसंगतियों को इतिहास-पुराण के आश्रय में अभिव्यक्त किया गया है। उक्त नाटकों में मिथकीय कथावस्तु के आधार पर कथा की समकालीन जीवन के संदर्भ में नयी व्यख्या प्रस्तुत की है और इस प्रवृत्ति ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक में कथ्य, नाट्यशिल्प और रंगशिल्प के स्तर पर प्रयोग की नयी दिशाएँ खोल दी हैं।

.....ೞ೦ೞ೦ೞ೦.....

अध्याय चार

# अस्तित्ववादी तथा असंगत नाट्य शैली के हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता

## 4.0 प्रस्तावना

साहित्य के स्वर में समय समय पर नई भंगिमाएँ पैदा होती हैं, नये मोड आते हैं, नई हलचलें उभरती हैं। हर देश और समाज में बडी तेज़ी के साथ जो विचारगत भावगत एवं मूल्यगत परिवर्तन आते रहते हैं उनसे साहित्य अवश्य जुडा रहता है। जैसे समय की तेज़ रफ्तार में जीवन के मूल्य, मान्यतायें, परम्परायें बदलते रहते हैं वैसे साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी निरन्तर गतिशील रहा करती हैं, साहित्य के अन्तर्गत नये नये वाद जन्म लेते हैं। जब कभी व्यक्ति की निजी ज़िन्दगी, विचार, क्रिया की स्वतन्त्रता एवं अस्तित्वबोध के नष्ट होने के खतरे ने तनाव, संत्रास, भय और आतंक को जन्म दिया है, तब संवेदनशील लिखकों ने उन्हें अपनी रचनाओं में शब्दबद्ध किया। दो विश्वयुद्धों ने मानव जीवन के आदर्शों, आस्थाओं, श्रद्धाओं और जीवन मूल्यों को विच्छेदित किया। मानव जीवन निष्क्रिय, निरर्थक, मूल्यहीन एवं दिशाहीन बन गया। मानव में निहित पशुता भी उभर उठी और अपने अस्तित्व के प्रश्न से वह अत्यन्त संत्रस्त हो उठा। इस संघर्षात्मकता के कारण जीवन में निराशा व्यापने लगी। इसी कटु सत्य से साहित्य में अस्तित्व ने एक दर्शन का रूप ले लिया। वास्तव में अस्तित्ववादी चिन्तनधारा समाज में आए परिवर्तन का एक खुला दस्तावेज़ है ।

## 4.1 अस्तित्ववाद स्वरूप और विकास

अस्तित्ववाद युरोप की एक अपेक्षाकृत आधुनिक, दार्शनिक तथा साहित्यिक चिंतन पद्धति है। अस्तित्ववादी दर्शन के प्रमुख संवाहक रहे सोरेन किर्कगार्द (1813-1855) फ्रेडरिक नीत्शे (1844-1900) देस्तोवस्की (1821-1881) कार्ल यास्पर्स, हेगडर, कामू (1913-1960) मार्सल, काफ़्का, सार्त्र (1905-1880) आदि। अस्तित्ववादी विचारकों में ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों होते हैं। पास्कल, किर्कगार्द, मार्सल, थास्पर्स, आदि ईश्वरवादी हैं तो सार्त्र, नीत्शे, कामू, हेगडर आदि अनीश्वरवादी चिन्तकों के अन्तर्गत आते हैं। ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं तो अनीश्वरवादी खुद को अपने परिणामों का सामना करने का उपदेश देते हैं।[1]

यूरोप की उन्नीसवीं शती की औद्योगिक क्रान्ति, वैज्ञानिक अनुसंधान एवं मशीनीकरण ने मनुष्य अस्तित्व को अन्धकार के गर्त में धकेल दिया था। तत्कालीन समाज-व्यवस्था मनुष्य के अस्तित्व की अवहेलना कर रही थी। मनुष्य प्रकृति की भाँति ही मशीन का भी गुलाम बन कर रह गया था। भौतिक एवं वैज्ञानिक विकास की घुड़दौड़

[1] Jean Paul Sartre Existentialism – and Human Emotions, p.no. 15

में मानव-अस्तित्व का स्वतः कोई मूल्य नहीं रह गया था। कीर्केगार्ड ने ऐसी बदली हुई परिस्थितियों में मानव-जीवन में वैयक्तिकता की आवाज़ बुलंद की। सर्वप्रथम कीर्केगार्ड ने पूर्व मान्य सामाजिक मान्यताओं तथा धर्म की नियन्त्रणकारी एवं व्यक्तित्व-विघटनकारी प्रवृत्तियों का घोर विरोध कर एक नितांत भिन्न जीवन दर्शन प्रस्तुत किया जिसका, मूलोद्देश्य हर दशा में मानव को पूर्ण रूप से स्वच्छन्द करना था। धार्मिक विचारक सोरेन कीर्केगार्ड (Soren Kierkeggard) उस समय यूरोपीय विचार जगत पर शासन करने वाले हीगले के आदर्शवादी दर्शन के घोर विरोधी थे। वे किसी प्रकार के भी आदर्श से मुक्त कर मानव को पूर्णतः स्वच्छन्द बनाना चाहते थे। वस्तुतः अस्तित्ववाद का मूलाधार ही वैयक्तिक स्वच्छन्दता है। अस्तित्ववाद ने अपने उन्मेष-काल में ही व्यक्ति की स्वच्छन्दता और गरिमा का प्रतिपादन किया है।'अस्तित्ववाद' (Existentialism) शब्द जर्मन शब्द 'इक्सिटेञ्च फिलॉसफी' (Existenz philosophic) का अनुवाद है। व्यापक रूप में अस्तित्ववाद का उन्मेष प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में हुआ, तदुपरान्त यह फ्रांस और इटली में भी फैला।

" विभिन्न विद्वानों ने अस्तित्ववाद की अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। जूलियन बेन्द्रा के अनुसार 'अस्तित्ववाद भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह है'। एमानुएल मौनियर के शब्दों में 'भावों तथा वस्तुओं के अतिवादी दर्शन के विरोध में मानवीय दर्शन' ही अस्तित्ववाद है। सबसे स्पष्ट तथा उपयुक्त परिभाषा ऐलेन की है। उनके अनुसार अस्तित्ववाद परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि है। इस विचार पद्धति में जीवन की समस्याओं पर विचार भुक्त भोगियों की ओर से होता है।

अस्तित्ववादी विचारधारा मानव-जीवन को मूलतः निरर्थक मानती है, तर्क को अक्षम समझकर त्याग देती है तथा परम्परागत ईश्वर में आस्था को अस्वीकार करती है। अस्तित्ववाद वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष स्तर पर मानव-जीवन के लिए चिन्तित है। वह जीवन को निरुपाय, अवश तथा निरर्थक समझकर उसे एक मानवीय अर्थ तथा मूल्य देने की चेष्टा करता है। इसीलिए अस्तित्ववादी दृष्टि में प्रत्येक क्षण का अतुल्य महत्व है। किसी भी अतियथार्थ का अस्तित्व इस व्यवस्था में स्वीकार्य नहीं। अपनी समग्र अवशता में मनुष्य ही अस्तित्ववादी चिन्ता का केन्द्रबिन्दु है। और इस अवशता को नष्ट करने के लिए अस्तित्ववाद मानवीय स्वातन्त्र्य का प्रबल समर्थक है।"[1]

[1] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा- (प्रधान संपादक )-हिन्दी साहित्यकोश, प्र. सं. संवत् 2015, पृ.85

अस्तित्ववादी चिंतन का सूत्र वाक्य है – 'अस्तित्व सार का पूर्ववर्ती होता है।' (Existence precedes essence). इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का महत्व सार से पहले है। चूँकि मनुष्य के अस्तित्व के बाद ही व्यक्ति-चिंतना के आधार पर सार्वभौमिक विचारों का प्रतिपादन होता है, इसलिए वह अस्तित्व को सार से पूर्व एवं महत्वपूर्ण मानते हैं। सार्त्र के अनुसार हर एक मनुष्य का भाग्य अपने ऊपर ही निहित रहता है पर कभी वह कई परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ अन्त में पराजित भी हो जाता है। संघर्ष करने पर मनुष्य को ज़िन्दगी में निराशा, भय, आकाँक्षा, पीड़ा आदि कई स्थितियों से गुज़रना पड़ता है।[1]

'अस्तित्ववाद' के अनुसार, चूँकि अस्तित्व महत्वपूर्ण है, फलतः वे पूर्व मान्य सामान्य विचारों, तत्वों, सिद्धान्तों, नियमों आदि में कोई आस्था नहीं रखते। वे प्रत्येक सिद्धान्त को व्यक्ति-विशेष का व्यक्तिगत दृष्टिकोण मानते हैं, चूँकि पूर्व मान्य सभी विचार-सिद्धान्त (सामाजिक, नैतिक, शास्त्रीय, राजनैतिक, वैज्ञानिक आदि) व्यक्ति सापेक्ष हैं। फलतः अस्तित्ववादी सभी परम्परागत (नैतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि) सिद्धान्तों के विरोधी हैं। यही नहीं, अस्तित्ववादी आत्म-स्वातन्त्र्य अथवा वैयक्तिक स्वच्छन्दता के इतने बड़े समर्थक हैं कि उसकी खातिर वह सुख के स्थान पर दारुण दुःख को भी वरीयता देते हैं। उनकी धारणा है कि सच्चे अर्थों में मनुष्य अपने अस्तित्व का बोध दुःख एवं त्रास; यहाँ तक कि मृत्यु के अहसास के क्षणों में ही कर सकता है और बिना अस्तित्व-बोध के मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वच्छन्द भी नहीं हो सकता। आत्म-स्वातन्त्र्य के लिए मनुष्य को भीषण क्लेशों एवं पीड़ाओं को सुख से वरीयता देनी चाहिए।

साहित्य द्वारा अस्तित्ववादी विचारों को स्पष्ट करने की परंपरा का प्रारंभ कीर्केगार्द की रचनाओं से माना जाता है। किंतु इससे पूर्व 'होल्डर लिन' ने अपने पूर्ववर्ती साहित्यकरों से भिन्न विचार दृष्टि को अपनाते हुए अपनी साहित्यिक कृति 'ब्रेड एंड वाइन' में अस्तित्ववादी विचार का परिचय दिया है। उसने इस कविता में स्पष्ट किया है कि ईश्वर किसी अन्य लोक में चला गया है और संसार में शोक छाया हुआ है। यूरोपीय साहित्य में अपेक्षाकृत व्यवस्थित रूप में अस्तित्ववादी विचार कीर्केगार्द से लेकर सार्त्र, कामू व काफ्का की रचनाओं में दिखाई पड़ते हैं। कीर्केगार्द ने 'ए डीफाइंग डिस्कोर्सेस' में

---

[1] Jean Paul Sartre Existentialism and Humanisam Emotions – first published – 1959, p.no. 15-17

विभिन्न प्रकार के पात्रों के माध्यम से अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। नीत्शे लेखक ही नहीं, कवि भी था। 'द ज्वायफुल विज़डम' उसकी लंबी कविता है। इस कविता में उसने ईश्वर की मृत्यु का ऐलान बड़े नाटकीय ढंग से किया है। 'द बर्थ आव ट्रेजडी' में कला का मूल्यांकन और विश्लेषण हुआ है। नीत्शे की 'द स्पेक जरथुस्त' व कीर्केगार्द की 'कंक्लूडिंग अनसाइंटिफिक पोस्टस्क्रिप्ट' एवं 'आइदर/ऑर' जैसी दार्शनिक कृतियों की भी साहित्यिकता की दृष्टि से उच्चकोटि की रचनाओं में गिनती की जाती है। दोस्तोवस्की ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अस्तित्व संबंधी विचार तो प्रकट किए किंतु उनमें विशुद्ध अस्तित्ववादी अनुशासन की प्रतिष्ठा नहीं की। दोस्तोवस्की के समस्त विचारों का माध्यम उपन्यासों के चरित्र और वे घटनाएँ हैं, जिन्होंने समूचे यूरोपीय जन मानस को झकझोरकर रख दिया था। 'मेमायर्स फ्रॉम अंडरग्राउंड' दोस्तोवस्की की विश्व साहित्य की क्रांतिकारी पुस्तक है। इस पुस्तक ने अपने समकालीन व परवर्ती चिंतकों को सह अनुभूति का अनुभव कराया। इन्हीं विशेषताओं के कारण दोस्तोवस्की विश्व के दिग्गज साहित्यकार माने जाते हैं।

सार्त्र ने अपने पूर्ववर्ती चिंतकों के अव्यवस्थित चिंतन सूत्रों को एकत्र कर उन्हें व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। सार्त्र के नाटक 'नो एक्ज़िट' व 'द फ्लाइज़' साहित्यिक अभिव्यक्ति और दार्शनिक प्रपत्तियों के परस्पर संबंध के परिचायक हैं। उनके विश्वविख्यात उपन्यास 'लॉ नासिया' में साहित्य और दर्शन के तत्व इस प्रकार संश्लिष्ट रूप में वर्णित हैं कि इन दोनों तत्वों को अलगाने का प्रयत्न असफल होगा। इन रचनाओं के अध्ययन से सार्त्र के दर्शन का स्पष्ट आभास मिलता है। इस दिशा में इनकी दार्शनिक कृति-'बीइंग एंड नथिंगनैस' - में साहित्यिक कृतियों के पात्रों की चर्चा उनके दार्शनिक और साहित्यिक व्यक्तित्व को पुष्ट करने में सहायक हुई हैं।

कामू की यह मान्यता कि साहित्य एब्सर्ड का काल्पनिक पुष्टिकरण है - उसके चिंतन का वह आधारभूत तत्व है जो साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ। वह साहित्य को 'एब्सर्ड' से छुटकारा पाने का साधन नहीं मानता। वह विचारों की पुष्टि के लिए नहीं, अपितु 'एब्सर्ड' के भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही साहित्य की रचना करता है। इसीलिए उसके दर्शन की अभिव्यक्ति विशुद्ध दार्शनिक तत्वचिंतन द्वारा नहीं साहित्यिक कृतियों-'लस्ट्रेंजर', 'लपैस्टे' और 'मिथ ऑफ सिसिफस' के अध्ययन से ही की जा

सकती हैं। इन कृतियों में वह 'एब्सर्ड' की दार्शनिक तार्किकता की ओर ध्यान न देकर उसकी अनुभूति कराने में अधिक उत्सुक दिखाई पड़ता है। कामू ने स्वयं इसे स्वीकार किया है- 'मैं साहित्य की रचना कर रहा हूँ किसी दर्शन की नहीं।'

अन्य विचारकों – काफ्का, ए.एच. मॉरलो, चेखव, इब्सन, टी.एस.इलियट, जेम्स ज्वाइस और बर्दएव जैसे प्रबुद्ध साहित्यकारों ने भी समसामयिक विचारों से प्रभावित होकर अपनी साहित्यिक रचनाओं में छिटपुट रूप में अस्तित्ववादी प्रभाव का उल्लेख किया है।

"बहरहाल इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि अस्तित्ववादी प्रमुख विचारकों का उद्देश्य अपनी कृतियों के माध्यम से दर्शन और साहित्य के परस्पर विरोध को खंडित करना ही रहा है। इन विचारकों के इस विद्रोही भाव के कारण ही कीर्केगार्द की अप्रत्यक्ष संप्रेषण शैली, नीत्शे का सूक्ति कथन, दोस्तोवस्की का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, कॉफ्का का स्वप्नतंत्र, सार्त्र की अस्तित्ववादी भाषा तथा बिंबविधान एवं कामू के एब्सर्ड ने विश्व साहित्य को नए आयाम दिए।"[1]

बीसवीं शताब्दी के वैचारिक संक्रमण के फलस्वरूप हिंदी साहित्य में अस्तित्ववादी चिंतन की चर्चा होने लगी। इस दशक में लेखक व्यक्तिवादी विचारधारा की ओर उन्मुख हुए। अस्तित्ववादी विचारधारा का सीधा संबंध वैयक्तिक सत्ता से है, अतः इन लेखकों का रुझान भी इसी चिंतन की ओर हुआ। हिंदी साहित्य में भी अस्तित्ववादी स्थितियों और शब्द रचनाओं का व्यापक रूप में प्रयोग होने लगा।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् विरचित हिंदी साहित्य की लगभग सभी विधाओं पर अस्तित्ववादी चिंतन तथा साहित्य का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। यह प्रभाव प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, मौलिकता, प्रेरणा, उपयोगिता निर्वाह और अनुकरण आदि सभी रूपों में पड़ा है। जिन साहित्यकारों पर अस्तित्ववाद का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से प्रभाव पड़ा है, उनमें मोहन राकेश, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, अमरकांत, हमीदुल्ला, लक्ष्मीकांत वर्मा, नागबोड़स, सुरेंद्रवर्मा जैसे कई रचनाकारों का नाम उल्लेखनीय है। हिंदी नाटक के क्षेत्र में तो असंगत नाटककार के नाम से अभिलिखित सभी नाटककार अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित हैं।

## 4.2 अस्तित्ववाद और हिंदी नाट्य प्रयोग

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक में चित्रित स्वातन्त्र्य-बोध, वैयक्तिकबोध, क्षण बोध, कर्म तथा संघर्ष बोध निराशा, व्यथा, वेदना, विसंगति, शुन्यता आदि का बोध और मृत्यु

[1] वीनू भल्ला – हिन्दी उपन्यास और अस्तित्ववाद प्र.सं. 2004, पृ.69-70

बोध,सामाजिक बोध, जीवन मूल्य बोध और यथार्थवादी का प्रश्न आदि तत्त्वों का समावेश अस्तित्ववाद के प्रत्यक्ष य अप्रत्यक्ष प्रभाव के कारण माना जा सकता है। इन तत्वों को दर्शकों तक पहूँचाने के लिए नाटककारों को कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय स्तर पर नये-नये प्रयोग करने की आवश्यकता महसूस हुई।

### 4.2.1 कथ्यगत प्रयोग

अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित हिंदी के नये नाटककारों में मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, हमीदुल्ला, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, रमेश बक्षी तथा नागबोडस, मणिमधुकर, विपिन कुमार अग्रवाल तथा भुवनेश्वर प्रसाद उल्लेख्य हैं। अस्तित्ववाद की कतिपय विशेषताएँ नये नाटकों में उजागर हुई हैं यथा- वैयक्तितकता, असंतोष, अकेलापन और अजनबीपन, व्यकुलता, संत्रास, कुंठा और मृत्युबोध।

हिन्दी के प्रमुख नाट्यकारों भारतेंदु, प्रसाद, उदयशंकर भट्ट, उपेंद्रनाथ अश्क आदि की रचनाओं में व्यक्ति के मनोविज्ञान तथा उसके अंतर्द्वद्व और अस्तित्व के प्रश्नों के स्थान-स्थान पर चित्रण मिलते हैं किंतु व्यक्ति के अकेलेपन, आत्म निर्वसन तथा उसके वरण की स्वतंत्रता के संदर्भ में उसके द्वारा अर्थवत्ता की खोज को लेकर नाट्य-रचना का व्यवस्थित और प्रासंगिक उपक्रम पहली बार मोहन राकेश ने किया। उनके तीनों नाटकों- 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे-अधूरे' के चरित्र अस्तित्ववादी विचारधारा से प्रभावित हैं। "आज मानव अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच जिसप्रकार प्रश्न चिह्न बना हुआ भयंकर यंत्रणा भोग रहा है, राकेश के नाटक उसका जीवंत चित्र उपस्थित करते हैं। संत्रास, पीड़ा, टूटन, संबंधहीनता, अजनबीपन, अलगाव की स्थितियों के बीच उन्होंने मानव जीवन की तलाश की है। इस तलाश पर यत्र-तत्र अस्तित्ववादी दृष्टि की छाप है।"[1] हिन्दी नाट्यपरंपरा में 'आषाढ़ का एक दिन' वस्तुयोजना की दृष्टि से उपलब्धियों के कई शिखर एक साथ छूता है। इसमें नाटककार की प्रयोगशील चेतना के कई आयाम प्रतिफलित हुए हैं

'आषाढ़ का एक दिन' की वस्तु योजना, व्यवस्था व रचनाकार के द्वंद्व को गहरी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती है। व्यवस्था कालिदास को बाँधकर रखना चाहती है। कालिदास अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा को बेचकर उससे समझौता नहीं करना चाहता। यद्यपि नाटक के तीनों अंकों में कालिदास का तनाव और संघर्ष निरंतर बना रहता है; परंतु अंतिम दृश्य में मल्लिका के पास लौट आना उसकी रचनाशीलता का द्योतक है।

---

[1] डॉ. गोविन्द चातक- आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश, पृ.103

राकेश ने अपने पात्रों के आंतरिक द्वंद्व, उनके भीतर के गहन अंतर्विरोध, अपने परिवेश से उनकी विच्छिन्नता के अनुभव, उनके अकेलेपन और अधूरेपन के अनुभव के द्वारा जिस प्रकार उन्हें आधुनिक मानव का बिंब दिया है, वह हिंदी नाट्य-परंपरा में अनूठा है।

वस्तु की दृष्टि से रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है' की प्रयोगात्मकता प्रत्येक मूल्य और सारी व्यवस्था को पूरी तरह नकारने में है। देवयानी पति, पिता, परिवार और दांपत्य की संस्थाओं को ही नहीं मातृत्व की संस्था को भी प्रवंचना मानती है। वह कहती है : माँ बनने को तुम लोग जो नारी की पूर्णता कहते हो ना, वह शायद इसलिए कि उससे वह पूरी तरह फँस सकती है। फिर कोई रास्ता नहीं रहता ... और यह गुड़िया?"[1]

नरेश मेहता के खंडित-यात्राएँ, डॉ.लक्ष्मीनारायण लाल के 'मादा कैक्टस', 'कलंकी', तथा विष्णुप्रभाकर के 'टूटते परिवेश' नाटकों में भी अस्तित्ववादी विचारधारा का संकेत मिलता है।

### 4.2.2 शिल्पगत प्रयोग

नाट्यशिल्प के अंतर्गत अस्तित्ववादी नाटकों की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं- प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक शिल्प प्रयोग और बिंबात्मक शिल्प प्रयोग

**4.2.2.1. प्रतीकात्मक और सांकेतिक शिल्प का प्रयोगः** प्रतीक को अभिव्यक्ति के एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। आज मानव की संवेदनाएँ , विचार और जीवन दशा इतनी जटिल और विकृत हो गयी है कि वह अभिव्यक्ति के प्रचलित सरल माध्यमों से अपनी बात ठीक ठीक संप्रेषित नहीं कर पाता। फलस्वरूप अपनी रूक्ष जीवनदृष्टि, कटुता, संत्रास, विघटन और मूल्यहीनता को सही रूप और भाषा देने में वह अनायास ही प्रतीकों का आश्रय ग्रहण कर लेता है। हिन्दी के अस्तित्ववादी नाटककारों ने अपनी संवेद्य बात को गहरी व्यंजकता और प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया है। प्रतीक एक विशेष प्रकार का संकेत है तथा उसमें विषय का प्रतिनिधित्व करने की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान रहती है। ज्ञानदेव अग्निहोत्री द्वारा लिखित 'शुतुरमुर्ग' में भी प्रतीकात्मक शिल्प का प्रयोग किया गया है। शुतुरमुर्ग मनुष्य की उस प्रवृत्ति का प्रतीक है, जिसके कारण मानव सदैव कटु सत्य और यथार्थ का सामना करने की अपेक्षा पलायन की वृत्ति को अपनाता है और इसकी परिणति आत्म विनाश में होती है। मनुष्य

---

[1] रमेश बक्षी- देवयानी का कहना है, प्र.सं. 1990, पृ.35

की यह प्रवृत्ति ही शासन तंत्र की सहायक बन जाती है। नाटक में वर्तमान राजनीति का प्रतीकात्मक चित्रण है, जहाँ शुतुरमुर्ग नीति अपनी सत्ता को सुरक्षित रखता है। अपने प्रतीक रूप में यह नाटक हमारे देश की पलायनवादी अयथार्थ मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है। शुतुरमुर्ग का प्रतीकत्व पूरे नाटक में छाया हुआ है। इसीप्रकार मणिमधुकर लिखित'रसगंधर्व' में जेल आम आदमी की बंदी आकांक्षाओं का प्रतीक है तो वहाँ फैला कूड़ा-कर्कट कोरे सपनों और थोथे आदर्शों के यथार्थ का द्योतक है। राजकुमारी और अप्सरा राजसत्ता की प्रतीक हैं। अफ़सर नौकरशाही का प्रतिनिधि है।

**4.2.2.2. बिंबात्मक शिल्प का प्रयोग** : प्रतीकात्मक शिल्प की भांति स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में बिंबात्मक शिल्प का भी प्रयोग हुआ है। प्रतीक से बिंब निर्मित हो सकते हैं और बिंब से प्रतीकों का निर्माण हो सकता है। कल्पना के मूर्त होने पर बिंबों की सृष्टि होती है और बिंब की पुनः पुनः प्रयुक्ति से निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाने पर प्रतीकों का सृजन होता है। अस्तित्ववाद से प्रभावित नाटकों में ताज़े, विविध स्तरीय बिंबों का प्रयोग हुआ है। सार्थक दृश्य श्रव्य बिंब प्रयोग 'नये नाटकों' की उपलब्धि है। बिंब प्रयोग मोहन राकेश के नाटकों को प्रभावशाली बनाते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' में वर्षा, मेघ आदि बिंबों का प्रयोग हुआ है। वर्षा इस नाटक का, इसके वातावरण का तथा भावाभिव्यक्ति का अभिन्न अंग है। कालिदास और मल्लिका वर्षा से ही बंधे हुए हैं। बहुत दिनों बाद वर्षा में भीग कर कालिदास अपने तन-मन की थकान मिटाने का सुख पाता है। वर्ष का संबंध दोनों के अंतर्मन से, भावना से और भावना के द्वंद्व से है। यह नाटक तो बादलों का अंधकार, अग्नि-प्रकाश का प्रकाश, दीपक, घोड़ों के टापों का स्वर जैसे दृश्य और श्रव्य बिंबों से भरा पड़ा है। गिरीश रस्तोगी के शब्दों में, "ये बिंब प्रयोग 'डेकोरेशन' के रूप में नहीं 'अनिवार्यता' के अर्थ में आये हैं अभिव्यक्ति का एक सही माध्यम बन कर।"[1]

'दरिन्दे' में हमीदुल्ला ने जानवर व मनुष्यों के प्रतीकात्मक चरित्रों द्वारा आज के अर्थहीन जीवन को प्रस्तुत किया है। व्यंग्यपूर्ण व पैने संवादों द्वारा ऊलजलूल प्रयोग से लेखक ने गहरा अर्थ उत्पन्न किया है। व्यंग्य एवं परिहास नाटक में पर्याप्त है। "बहुमत के आधार पर कब किसे गधा साबित कर दिया जाए।" "देश कृषिप्रधान है.... देश कुर्सीप्रधान है।" [2]

---

[1] भुवनेश्वर प्रसाद, कारवां तथा अन्य एकांकी, भूमिका, पृ.10

[2] हमीदुल्ला - दरिन्दे, पृ . 4

इन अस्तित्ववादियों की भाषा अतिशय काव्यमयी, अलंकरणप्रधान या भावुकतापूर्ण नहीं है अपितु जीवन की तीखी अनुभूतियों को मूर्त करने वाली आज की रोज़मर्रा की भाषा है। 'नये नाटकों के पात्र अंधे, अपाहिज, आवारा और चोर हैं इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी पात्रानुकूल ही है। कहीं यह हरकत की भाषा है यो कहीं शारीरिक क्रिया से उत्पन्न भाषा है।

### 4.2.3 रंगमंचीय प्रयोग

नाटक की विषयवस्तु और उसके शिल्प के अनुरूप ही रंगशिल्प में भी अस्तित्ववादी नाटककारों ने अपनी कल्पनाशीलता और अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। नाटककार अपने नाटकों के लिए जो रंग सज्जा या दृश्यबंध चुनते हैं, उसके द्वारा पात्रों की भौतिक परिस्थितियों के साथ-साथ उनकी मनःशक्तियों और व्यक्तित्वों का परिचय भी प्राप्त होता है।

लाल के 'मादा कैक्टस' नाटक के रंग-निर्देश बहुत महत्वपूर्ण है, जो इस रचना के मंचन में सहायक होंगे। अरविन्द के बरामदे की दृश्य-सज्जा और कैक्टस के तीन गमले नाटक के कथ्य और पात्रों की विशेषताओं का परिचय देने में सहायक हैं। संपूर्ण नाटक एक ही दृश्यबन्ध पर घटित होता है, जिसमें कैक्टस के गमलओं का प्रयोग एक सजीव प्रतीक की तरह अपना प्रभाव जमाए रखता है। इनके द्वारा लेखक ने वनस्पति शास्त्र की इस मान्यता को, कि नर कैक्टस मादा-कैक्टास के संपर्फ में आते ही सूख जाते हैं, मानवीय जीवन में विपरीत रूप में दिखाकर ओढ़े हुए व्यक्तित्व की वास्तविकता पर प्रकाश डाला है।

इसप्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अस्तित्ववादी चिंतन और मानवीय अस्तित्व रूपों की आकुल संचेतना का चित्रण अपने नाटकों में किया है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों के बीच जीने के लिए बाध्य व्यक्ति की पीड़ा को नये कथ्य और शिल्प के द्वारा प्रस्तुत करने में वे सफल हुए हैं।

आगे अस्तित्ववादी चिंतन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित चार नाट्य-प्रयोगों को कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय धरातल पर परखने का प्रयास किया गया है।

## 4.3 मोहन राकेश : आधे अधूरे

राकेश की नाट्य-रचनाओं में चार नाटक हिंदी साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं : 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे अधूरे' तथा 'पैर तले की ज़मीन'। इनमें से पहले दो नाटक अतीत के कथानक से संबद्ध हैं तथा शेष दो

आधुनिक जीवन से। कथानक के देश-काल ऊपरी तौर से भिन्न-भिन्न होते हुए भी चारों नाटकों की केंद्रीय वस्तु और उससे उभरने वाले प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। चारों में व्यक्ति के द्वारा विभिन्न संदर्भों में अपने अस्तित्व की सार्थकता की तलाश की गयी है। यद्यपि राकेश के नाटकों में अस्तित्ववादी दर्शन का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव परिलक्षित नहीं होता किंतु उनके चारों प्रमुख नाटकों के पात्र अस्तित्ववादी मान्यताओं से परिचालित हैं। वे जीवन के लिए अभिशप्त हैं तथा पूर्व निर्धारित मान्यताओं को स्वीकार न करके अपने पथ का स्वयं वरण करते हैं। वे अपनी पहचान अपने कर्म से स्थापित करते हैं। सभी पात्र निरंतर तनाव, दुविधा की स्थिति में प्रस्तुत होते हैं और इस स्थिति से उभरने का कोई सुनिश्चित और पूर्व प्रकल्पित समाधान उनके पास नहीं है। इन सामान्य लक्षणों के कारण राकेश की इन चारों प्रमुख नाट्य-कृतियों को उनके प्रधान चरित्र के आधार पर व्यक्तिवादी या अस्तित्ववादी नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

'आधे अधूरे' हिंदी नाट्य साहित्य में नितांत भिन्न प्रकार का महत्वपूर्ण नाटक है और आज की समकालीन संवेदना का नाटक है। राकेश ने अपने पहले लिखे दोनों नाटकों में यानी 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' में ऐतिहासिक आवरण में आधुनिक संवेदना को व्यक्त करने का प्रयास किया था, लेकिन इसमें इतिहास के परिवेश से अपने को मुक्त करके सीधे सामाजिक परिवेश और आज के कटु यथार्थ को नाटक का आधार बनाया है। आज के जीवन की विसंगतियों, टूटते पारिवारिक संबंधों और व्यक्ति के अंतर्मन की सूक्ष्म, उलझी मनः स्थितियों को आज की ही भाषा में पेश करने का जैसा महत्वपूर्ण प्रयास जो इस कृति के माध्यम से हुआ वह अपने ढ़ंग का पहला प्रयोग है।

राकेश ने इस नाटक में स्त्री-पुरुष संबंधों में आये आपसी तनाव, पारिवारिक विघटन और परिस्थितियों के दबाव से अंदर ही अंदर घुटते और खोखले होते समकालीन आदमी के यथार्थ को निर्मम और बेलाग सच्चाई के साथ उजागर किया है। इसी कड़वे यथार्थ से घिरे और उसे झेलते उनके पात्र, संपूर्णता की, पूरेपन की तलाश करते हैं किंतु पूरे न हो पाने की मानवीय विसंगति से अभिशप्त वे एक-दूसरे को केवल घुटन, आक्रोश, अपमान और कड़वाहट ही दे पाते हैं। आधे-अधूरे की सावित्री आदमी के इस पूरेपन की तलाश में भटकती है। लेकिन पूरा अदमी उसे कोई नहीं मिलता क्योंकि उसकी यह खोज ही असंगत है। इस तरह समकालीन जीवन, मानवीय जटिलताओं और अधूरेपन के बीच

यह नाटक आज के जीवन में, व्यक्ति के 'आधे-अधूरे' होने का नया मिथक रचता है। इस नाटक के कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय धरातल पर अनूठे प्रयोग हुए हैं।

### 4.3.1 कथ्यगत प्रयोग

कथ्य के स्तर पर तो इस नाटक में कई प्रवृत्तियाँ प्रयोगों के रूप में दिखाई पड़ती हैं, जैसे भारतीय मध्य वर्गीय परिवार में, कस्बों या महानगरों में स्त्री-पुरुष संबंधों की अत्याधुनिक परिणतियों को, पैनी दृष्टि से यह नाटक उजागर करता है। नौकरीपेशा स्त्रियों में शिक्षा और आधुनिक भावबोध के कारण आये परिवर्तन हिंदी नाटक में पहली बार इस रूप में चित्रित हुए हैं और इस दृष्टि से राकेश ने नए नाट्यकारों को प्रभावित भी किया है। प्रेम के स्थान पर ऊब और खीज है। सावित्री अपने पति महेंद्रनाथ से असंतुष्ट होकर अन्य पुरुषों में वह सब खोजती है जो वह महेंद्रनाथ से पाना चाहती है। स्त्री के द्वारा पूर्ण पुरुष की तलाश को विषयवस्तु बनाते हुए नाटककार ने बड़ी साहसिकता के साथ मनोवैज्ञानिक गहराइयों में उतरते हुए परिस्थितियों के चक्रव्यूह में फँसे आधुनिक स्त्री की उलझन को, जीवन की विडंबना को हमारे सामने रखा है।

इसी प्रकार यह नाटक आधुनिक जीवन के ठहराव और प्रतीक्षा दोनों का ही पहली बार इस नये परिवेश में प्रभावशाली चित्रण करता है। नाटक का प्रत्येक पात्र इस बात को लेकर खीजा हुआ है कि उसके जीवन में कुछ नहीं घट रहा है। फिर भी कुछ हो सकने की आशा निरंतर बनी हुई है। सावित्री का अपने पति को छोड़कर अन्य पुरुष के साथ चले जाने की संभावना भी उसके बेटे अशोक को इस दृष्टि से आकर्षक लगती है कि "जो चीज़ बरसों से रुकी है, वह रुकी ही नहीं रहनी चाहिए।"[1] और वह कहता है "सचमुच चाहता हूँ बात किसी भी एक नतीजे तक पहुँच जाए।"[2] ठहराव और प्रतीक्षा की इस अनुभूति के साथ हताशा और अनिश्चय सदा बने रहते हैं। रुकी हुई चीज़ें अंत तक पहूँचते-पहूँचते फिर रुकी हुई ही रह जाती है, यानी बात किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाती।

वस्तुतः आधुनिक जीवन के अधूरेपन, विसंगति और अजनबीपन और आत्मसंघर्ष के चित्रण के द्वारा यह नाटक अस्तित्ववादी और विसंगतवादी नाटकों के बीच की एक कड़ी भी बन गया है। मनुष्य की पहचान खोते जाने का गहरा अनुभव हमें इसके पुरुष,

---

[1] मोहन राकेश- आधे अधूरे , संस्करण. 1993, पृ. 59

[2] मोहन राकेश- आधे अधूरे , संस्करण. 1993, पृ. 59

स्त्री बड़ी लड़की जैसे पात्रों के द्वारा होता है। पुरुष एक जब कहता है "मुझे पता है कि मैं एक कीड़ा हूँ जिसने अंदर-ही-अंदर इस घर को खा लिया है।"[1] तो अपने आपसे अजनबी होते जाते मनुष्य का चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है।

इस प्रकार आधे-अधूरे का कथ्य एकायामी नहीं बल्कि प्रयोगधर्मी है। स्त्री-पुरुष संबंधों की विकृति, पारिवारिक विघटन, परिस्थितियों और यंत्रणाओं के दबाव में बनते मिटते इंसान का अलग-अलग मुखौटों के भीतर से उभरता एक ही चेहरा और उस चेहरे के पीछे छिपे व्यक्तित्व का अधूरापन- ये सभी सूत्र उसके कथ्य के भीतर से एक साथ उभरते हैं। निश्चय ही "'आधे आधूरे' आज की अनिश्चित और एकरस घटनाहीन ज़िन्दगी का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है।"[2]

### 4.3.2. शिल्पगत प्रयोग

इस कथ्य के दो मुख्य आयाम हैं – परिस्थितियों का बदलना किंतु व्यक्ति का वही बने रहना, तथा सावित्रि की 'अलग अलग मुखौटे मगर एक ही चेहरा' की तलख अनुभूति। नाटककार ने कथ्य के इन आयामों का संप्रेषण एक अनूठे रंगप्रयोग के माध्यम से किया है। नाटक के आरंभ में ही काले सूटवाला नाटक की प्रस्तावना में कहता है वह कोई निश्चित इकाई नहीं, सड़क पर चलते हुए अचानक ही टकरा जानेवाले किसी आम आदमी की तरह एक 'कोई आदमी' है । यही काले सूटवाला सूत्रधार किस्म का पात्र अलग -अलग वेशभूषा में नाटक में अन्य चार भूमिकाओं में दिखता है। नाट्यशिल्प की दृष्टि से इस नाटक के शुरु होते ही काले सूटवाले आदमी का दर्शकों से वार्तालाप एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। क्योंकि प्रस्तावना तो यूँ प्राचीन पारंपरिक रूढ़ि है जो संस्कृत नाट्य से ही चली आ रही है जिसमें नाटक का विषय या कथ्य चर्चित रहता है किंतु 'आधे-अधूरे' की प्रस्तावना पाँच भूमिकाओं के रंग-प्रयोग से जुड़कर पूरे नाटक का इतना अनिवार्य अंग बन गया है कि प्रस्तावना का इस तरह से इस्तेमाल 'आधे-अधूरे' की प्रयोगशीलता को एक और आयाम दे देता है।

इसी प्रकार एक पात्र का कई भूमिका में उतारना यानी काले सूटवाला आदमी ही पुरुष एक, दो, तीन और चार काले सूटवाला आदमी ही पुरुष एक, दो, तीन और चार

---

[1] मोहन राकेश- आधे अधूरे , संस्करण. 1993, पृ. 39

[2] जयदेव तनेजा- आज के हिन्दी रंग नाटक, प्र.सं 1980 , पृ.68

की भूमिका में उतरता है। इसके प्रयोग के द्वारा नाटककार ने सावित्री के इस कथन को चरितार्थ करना चाहा है कि 'सभी पुरुष एक जैसे होते हैं।' एक ही पात्र को भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में अवतरित करवाकर नाटककार यह अनुभूति देना चाहता है कि आधुनिक मध्यवर्गीय समाज में हर पुरुष एक जैसा जीवन जीने के लिए बाध्य है। गिरीश रस्तोगी के शब्दों में –" मूलतः राकेश प्रयोग में विश्वास नहीं करते हैं, उन्होंने आंतरिक शिल्प पर ही बल दिया है। लेकिन 'आधे-अधूरे' में उन्होंने प्रस्तावना का प्रयोग किया है जिसमें काले सूटवाला नाटक की भूमिका ही नहीं बनाता, स्वयं राकेश को भी स्पष्ट करता है। राकेश ने एक ही अभिनेता से पाँच भूमिकाएँ कराने का प्रयोग भी इसमें किया है जो नाटकीय अर्थ से भी जुड़ा है -- हर आदमी एक जैसा।"

इसीप्रकार पात्रों के नामों का प्रयोग न करके नाटककार ने इन्हें काले सूटवाला आदमी, पुरुष 1, दो, 3, 4 स्त्री बड़ी लड़की, छोटी लड़की और लड़का कहा है। इसके द्वारा भी वह यह प्रदर्शित करना चाहता है कि आधुनिक समाज में मनुष्य अपनी निजता और अस्मिता खोते जा रहे हैं।

आधे-अधूरे की प्रयोगधर्मिता का एक और आयाम समकालीन संवेदना से जुड़ी नाट्य-भाषा का निर्माण है। इस नाटक की सबसे बडी खूबी है इसके ठोस जानदार संवाद, सहज नाट्य भाषा की खोज और एक तेवर, आक्रोश नाटक में बुना हुआ- आज की ज़िन्दगी को आज के ही मुहावरे में पेश करने की सफल कोशिश। पहले वाक्य में ही नाटक का यह सौन्दर्य सामने आ जाता है। समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सकने की शक्ति पहली बार इस नाटक के संवादों और भाषा में मिलती है जो केवल बोलचाल की भाषा होने के कारण नहीं, शब्दों के चयन, उनके क्रम, संयोजन, ध्वनियों के कारण है जो पात्रों के मनोविज्ञान को, तल्खी, कडुवाहट को उसी तेवर के साथ व्यक्त करता है- नितांत सहज, प्रभावशाली भाषा जो अपने लिखित और उच्चरित दोनों रूपों में समान रूप से झकझोरनेवाली है।[1]

राकेश की नाट्य भाषा का एक और महत्वपूर्ण तत्व उनके द्वारा पात्रों की सूक्ष्म मनः स्थितियों के संप्रेषण के लिए प्रयुक्त हुए रंग-प्रतीक है। जैसे मैगज़ीन की तस्वीरें जिनको काटने में अशोक दिन भर व्यस्त रहता है – प्रतीक है उन स्वप्नों की जिन्हें जीवन

[1] गिरीश रस्तोगी- मोहन राकेश और उनके नाटक, तृतीय संस्करण 2002, पृ.88

में वास्तव में प्राप्त कर पाना नितांत असंभव है। महेन्द्रनाथ की फाइलें प्रतीक हैं उसके बीते जीवन की जिन्हें वह अकसर पलटता रहता है। और पहले अंक के अंत में संगीत रुक जाने के बाद अंधेरे में कुछ क्षण तक कैंची की चक्- चक्- चक् सुनायी देते रहना ध्वनि का बड़ा सक्षम प्रतीकात्मक प्रयोग है जो परिवारिक संबंधों के टूटने-कटने और उनकी आपसी चक् चक् का संकेत है।

### 4.3.3 रंगमंचीय प्रयोग

रंगशिल्प की दृष्टि से नाटक का सारा दृश्य और घटना एक स्थान पर केंद्रित है जो सावित्री का घर है। रंग-सज्जा के सभी उपकरण भी रंग प्रतीकों की तरह प्रयुक्त हुए हैं और शब्दों के समानांतर एकाधिक स्तरों पर नाटकीय कथ्य को संप्रेषित करते रहते हैं। नाटक के आरंभ में ही कमरे की फैली हुई चीज़ें जैसे तिपाई पर खुला हुआ हाईस्कूल का बैग जिसमें से आधी कापियाँ और किताबें बाहर बिखरी हैं, सोफे पर दो एक पुराने मैगज़ीन, कैंची, कटी-अधकटी तस्वीरों और कुर्सी की पीठ पर झूल रहा पाजामा ये सब उस परिवार की टूटी-बिखरी स्थिति को संकेतित करते हैं। इसीतरह घर के व्यतीत स्तर के सूचक सोफासेट, डाइनिंग टेबल, कबर्ड और ड्रेसिंग टेबिल से ज़बरदस्ती ठूंसा हुआ यह कमरा भी नाटक के पात्रों की आपस में संगति न होने पर भी साथ रहने की विवशता और विसंगत स्थिति का प्रतीक है। इस तरह आधे-अधूरे के मंच पर उपस्थित प्रत्येक उपकरण इस नाटक की मूर्त भाषा है जो शब्दों में नहीं उपकरणों में अपनी बात कहती है।

आधे अधूरे के माध्यम से राकेश ने यथार्थवादी रंगमंच के स्वीकृत रूप को तोड़कर नये नाट्य रूप की भी खोज का प्रयास किया है। यानी इस नाटक में सामान्य तौर पर यथार्थवादी रंगविधान और व्यवहारों का ही स्वीकार दिखता है जैसे मध्यवर्गीय पारिवारिक टूटन की यथार्थ अभिव्यक्ति और उसके लिए संदूकिया मंच पर वास्तविक कमरे की वास्तविक सज्जा, फर्नीचर, टीसेट, चीज़ का डिब्बा सभी उपकरण उसी के अनुरूप हैं। किन्तु नाटक की प्रस्तावना और एक ही पात्र द्वारा पाँच भूमिकाएँ निभाने की रंगयुक्ति , नाटक के यथार्थाभास को खंडित करती है और उसे अयथार्थवादी बना देती है। इस तरह आधे-अधूरे न पूरी तरह यथार्थवादी नाटक है न पूरी तरह विसंगत। वह यथार्थवाद से बाहर निकलने की कोशिश में है। पर पूरी तरह से निकला भी नहीं। वस्तुतः वह यथार्थवाद और विसंगतवाद के बीच कहीं अपना निजी नाट्यरूप खोज रहा है।

इसप्रकार 'आधे-अधुरे' नाटक के माध्यम से राकेश ने समकालीन जीवन को आज की जीवंत भाषा में रूपायित करते हुए जिस 'नाट्य' की खोज की है वह कथ्य

और 'रूप' दोनों स्तरों पर ही नयी दिशाओं की ओर ले जाता है। निस्संदेह यह नाटक प्रयोग के धरातल पर एक महत्वपूर्ण नाट्यकृति सिद्ध होता है।

## 4.4. मोहन राकेश : लहरों के राजहंस

यहाँ भी अतीत के माध्यम से समसामयिक युग के मानव की उलझन और आत्म-संघर्ष को सम्प्रेषित करने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्ति आदिकाल से अलौकिक व पार्थिव मूल्यों की ओर आकर्षित होता रहा है। प्रवृत्ति व निवृत्ति के बीच में किसी एक का चयन उसके लिए अत्यंत कठिन होता है। यही संशयग्रस्त मनःस्थिति नंद की है। इस नाटक की मूल समस्या व्यक्ति की विभाजित मानसिकता की द्विधा है। इस नाटक में संशयग्रस्त मनःस्थिति के व्यक्ति का आंतरिक संघर्ष राकेश ने नंद के माध्यम से व्यक्त किया है।

### 4.4.1 कथ्यगत प्रयोग

'लहरों के राजहंस' की कथावस्तु अश्वघोष के 'सौंदरानन्द' काव्य पर आद्धृत है, किन्तु नाटककार ने काल्पनिक प्रसंगों और पात्रों के आधार पर उसमें अपने युग और मानव की विभाजित और दुविधाग्रस्त मनस्थिति को मुखरित करने का प्रयत्न किया है। कथानक का कथा-व्यापार बहुत संक्षिप्त है। तीन अंकों में विभाजित कथा का काल मात्र एक रात्रि के प्रारम्भ से दूसरी रात्रि के प्रारम्भ तक है। राकेश ने कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध-भिक्षु बनने और उसकी पत्नी सुन्दरी के रूप-गर्व की कथा को पात्रों के आन्तरिक द्वन्द्व का चित्रण करते हुए विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया है।

हिन्दी नाटक में यह द्वंद्व अपने इस रूप में पहली बार उजागर हुआ है। स्वयं नाटककार ने नाटक की विषयवस्तु और उसके प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है : "नाटक का मूल द्वंद्व पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों का द्वंद्व है। सुंदरी, पृथ्वी के प्रतीक में, पुरुष और उसकी चेतना को अपने तक बाँधे रखना चाहती है-पुरुष बँधना चाहकर भी उससे ऊपर उठना, एक अपार्थिव जिज्ञासा में अपने लिए उपलब्धि ढूँढ़ना चाहता है। बुद्ध पार्थिवता को तिलांजलि देकर उस उपलब्धि की ओर जाते हैं- नंद तिलांजलि नहीं दे पाता,

नहीं देना चाहता। उसकी खोज है पार्थिवता के अंदर से अपार्थिव को पाने की। इसलिए वह संशयग्रस्त है, एक प्रश्नचिह्न है।"[1]

लहरों पर तैरते चंचल राजहंसों के समान नन्द की विचलित मनोदशा है। वह न तो सुन्दरी के मोहपाश को पूर्णतः अपना सकता है और न ही साहसपूर्वक बुद्ध की शरण को स्वीकार कर पाता है। नाटक के दो अंकों की कथा क्रमशः सुन्दरी और नन्द के आत्मसंघर्ष का परिचायक है। तीसरे अंक में नन्द के केशरहित भिक्षु रूप में सुन्दरी के सामने आते ही चरमोत्कर्ष पर कथा समाप्त हो जाती है - "वह आकृति एक दुःस्वप्न नहीं.... यथार्थ है.....मेरा अपना यथार्थ....क्या मैं उसका सामना कर सकती हूँ"- पात्रों का यह द्वन्द्व ही नाटक का प्राण है। नन्द का केशरहित रूप देखते ही सुन्दरी के आत्मविश्वास की अभेद्य दीवार चरमराकर टूट जाती है। इन ऐतिहासिक प्रसंगों के साथ ही नाटकीय भाव को तीव्रता देने के लिए नाटककार ने कुछ कल्पित प्रसंगों और पात्रों का भी आश्रय लिया है – कामोत्सव का आयोजन, दीक्षा के पश्चात् नन्द का एक बार घर लौटना तथा अलका-श्यामांग का सम्पूर्ण प्रसंग इसी उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न है। वस्तुतः 'लहरों के राजहंस' में ऐतिहासिक कथ्य होते हुए भी स्थान-स्थान पर वर्तमान युग के जीवन आदर्शों और मूल्यों की टकराहट की प्रतिध्वनियाँ सुनी जा सकती हैं।

'लहरों के राजहंस' में श्यामांग नामक पात्र की नंद के संकुल अन्तर्मन के रूप में प्रतीकात्मक परिकल्पना राकेश का नवीन प्रयोग है। एक पात्र के अंतर्मन की जटिलताओं के आयामों को खोलने के लिए एक अन्य पात्र की योजना हिन्दी में पहली बार ही हुई है। श्यामांग नंद के अन्तर्मन के गहरे अस्पष्ट उलझाओं को समानान्तर संप्रेषण देता चलता है और इस तरह नाटकीय द्वन्द्व में एक और आयाम जोड़ता है।

श्यामांग जैसे पात्रों का अवतरण हिंदी नाट्य-परंपरा में एक नयी प्रवृत्ति का प्रतिफलन है। इसकी परंपरा की खोज करते हुए श्री इन्द्रनाथ मदान ने कहा है - 'इनके (पात्रों के) नाम भी इनकी दृष्टियों का संकेत दे जाते हैं । श्यामांग की बेसिर-पैर की बातों में विसंगति का बोध भी आधुनिकता के बोध का परिणाम लगता है। श्यामांग जैसे पात्र को आधुनिक नाटक में रखने की परंपरा-सी बन रही है-कभी पहरेदारों के रूप में

[1]मोहन राकेश - लहरों के राजहंस, प्र. सं. 1963

(अंधायुग), कभी अपाहिजों के रूप में (एक कंठ विष पायी)। क्या यह कहीं आवारा पात्रों की परंपरा का पालन तो नहीं है-(गोदो के इंतज़ार में )। इस तरह का सामान्य पात्र मानव की साझी स्थिति या नियति को उजागर करने में उपयोगी साबित हो सकता है। श्यामांग की दृष्टि, आधुनिक मानव के उलझाव का संकेत दे जाती है।" [1]

### 4.4.2 शिल्पगत प्रयोग

इस नाटक में अनेक दृश्य बिंब तथा घटनाएँ अधिक प्रतीकात्मक तथा गहरे अभिप्रायों के साथ आये है। नंद का हर कार्यकलाप व्यक्ति के रूप में उसकी पहचान स्थापित करता है। बुद्ध के द्वारा केश मुड़ाये जाने में उसका निष्प्रतिरोध रूप भीतर-ही-भीतर चलते गहरे प्रतिरोध का सूचक है, जिसे वह आगे चलकर स्वयं ही स्वीकार करता है।

नाटक में श्यामांग, नंद और बुद्ध एक तरह से एक ही पात्र के तीन आयाम बनकर आये हैं। बुद्ध नाटक में कही नहीं आते लेकिन हर क्षण मौजूद रहते हैं। सारे नाटक पर बुद्ध छाया है, बुद्ध के बारे में बातचीत होती है, सुन्दरी का संघर्ष भी बुद्ध के प्रभाव से है। बुद्ध की इस तरह की अप्रस्तुत पात्र के रूप में योजना भी चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व का नया आयाम खोलती है। बुद्ध अपार्थिव के प्रतीक बनकर तो लहरों के राजहंस में आद्यंत उपस्थित हैं ही, एक सजीव अप्रस्तुत पात्र के रूप में भी सुन्दरी और नंद की लड़ाई का विरोधी पक्ष प्रस्तुत करते रहते हैं।

यहाँ पर नंद के द्वारा पीछा किये जाते मृग का अपनी ही थकान से गिरकर मर जाना नाटक की दृष्टि से अधिक गहरी व्यंजना देता है। डॉ. गोविन्द चातक ने इस प्रतीक को मानव के भीतर निरंतर रहने वाले मृत्यु के अहसास के साथ जोड़ा है। एक शव-यात्रा देखकर जिस तरह बुद्ध विरक्त हुए थे उसी तरह अपनी ही थकान से मृत हिरण नंद के विराग की भूमि तैयार करता है। इससे भी आगे राकेश ने अब और थकान से घिरे आधुनिक मानव की नियति को व्यक्त किया है। [2]

### 4.4.3 रंगमंचीय प्रयोग

यहाँ नाटककार ने तीनों अंकों में स्थान की अन्विति का निर्वाह किया है। तीनों अंकों में नाटक का सारा दृश्य सुन्दरी के कक्ष में केंद्रित है। स्थान की अन्विति में काल की अन्विति और जोड़कर नाटककार ने 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रयोग को ओर आगे

---

[1] इंद्रनाथ मदान (सं.) हिन्दी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख , पृ.82-83

[2] गोविन्द चातक- आधुनिक नाटक का मसीहा, प्र सं. 1975, पृ.14

बढ़ाया है। इससे शिल्प की दृष्टि से नाटक में अधिक कसावट आयी है। नाटक के तीनों अंकों के द्वारा कुल तीन दिनों की घटनाएँ चित्रित की गयी हैं पर उनमें कई वर्षों का द्वंद्व और संघर्ष सिमटा हुआ है। इन नाटक की रंग-सज्जा और भी अभिव्यंजनापूर्ण और प्रतीकात्मक है। जैसे झूला सुन्दरी के मन की अस्थिरता, उसके डोलने को व्यंजित करता है। नाटक में सुन्दरी शब्दों में कभी भी अपना द्वन्द्व व्यक्त नहीं होने देती। अतः झूले द्वारा ही उसके मन के द्वन्द्व को कहना इस मंच उपकरण को अतिरिक्त प्रतीकात्मक महत्व दे देता है। मत्स्याकार आसन सुन्दरी के अपने अहं और रूपगर्व के घेरे में ही जीवित रहने का प्रतीक है। दीपाधार पार्थिवता और अपार्थिवता के प्रतिनिधि नारी और पुरुष अथवा सुन्दरी और नन्द की स्थिति के व्यंजक हैं। पात्र, स्थिति, मिथक और मंचोपकरणों के अतिरिक्त ध्वनि का भी प्रतीकात्मक उपयोग 'लहरों के राजहंस' में हुआ है। पहले अंक में बाहर उद्यान से हंसों का स्वर तथा उनके पंखों की फड़फड़ाहट सुनाई देना नंद और सुन्दरी के आनन्द विलासमय जीवन को प्रतीकात्मक व्यंजना देता है और उसके बाद ही उन पर पत्थर फेंकने का शब्द, हंसों का आहत-क्रन्दन और पंखों की तेज फड़फड़ाहट नंद और सुन्दरी के आहत होने की ही पूर्व सूचना है।

इस नाटक की उपलब्धि है, अतीत कालीन परिवेश द्वारा समकालीनता का सुन्दर निर्वाह। यथार्थवादी शैली के कारण यह मंचीय दृष्टि से सफल नाटक है। राकेश द्वारा दिए गए मंच निर्देश भी नाटक के मंचन में सहायक प्रतीत होते हैं। अपने नए परिवेश तथा आधुनिक संदर्भ के कारण यह नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रतीकों के चुनाव द्वारा नाटकीय द्वन्द्व की सूक्ष्म जटिलताओं का संप्रेषण कर 'लहरों के राजहंस' में राकेश ने प्रयोगशीलता का यह नया आयाम भी दिया है।

## 4.5 सुरेंद्रवर्मा : द्रौपदी

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में इतिहास और पुराण को आधार बनाकर काम-सम्बन्धों की नयी-नयी भंगिमाएँ प्रस्तुत की है। ब्रजराज किशोर कहते हैं, "मात्र काम सम्बन्धों पर प्रकाश डालना नाटककार का काम्य नहीं है। प्रसाद और राकेश से होकर गुज़रनेवाली सीधी नाट्यरेखा के एक महत्वपूर्ण बिन्दु पर वह खड़े दिखाई देते हैं। एक ओर उन्होंने पूर्वजों से प्राप्त परम्परा को नव्य आकर्षण एवं सोपान प्रदान किए तो दूसरी और अपनी प्रयोगधर्मिता द्वारा नये शिल्प-क्षितिजों को उद्घाटित किया। परम्परा और

प्रयोग, इन दो तटों के मध्य प्रवहमान और पाठकों-प्रेक्षकों के मनःप्रसादन एवं सोच की शक्ति से समन्वित इस नाट्य धारा की अपनी एक अलग भाव-भंगिमा और नृत्य मुद्रा है।"[1] सुरेन्द्र वर्मा के प्रसिद्ध नाटक हैं- 'द्रौपदी', 'सेतुबन्ध', 'नायक-खलनायक-विदूषक', 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'आठवाँ सर्ग', 'छोटे सैय्यद बड़े सैय्यद' आदि। द्रौपदी सुरेन्द्र वर्मा का पहला नाटक है जो सुरेन्द्र वर्मा को एक समर्थ और प्रयोगशील नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित करता है।

'द्रौपदी' नाटक सीधे समकालीन जीवन को खोलकर रखता है। मानवीय सम्बन्धों के बिखरने-टूटने और साथ ही बदलते नैतिक मूल्यों और काम सम्बन्धों को केन्द्र में रखकर पूरा नाटक लिखा गया है। समकालीन परिस्थितियों के दबाव से व्यक्ति किस प्रकार टुकड़ों में बँट जाता है और एक साथ कई जिन्दगियाँ जीता है और इसीलिए कुंठित होता जाता है। इस सत्य को 'द्रौपदी' में निसंकोच, कई नाटकीय स्थितियों के संयोजन और सार्थक, व्यंजक, रंगयुक्तियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

### 4.5.1 कथ्यगत प्रयोग

आधुनिक महानगरीय जीवन में व्यक्तित्व के बिखराव को प्रकट करने के लिए एक ही पात्र की भूमिका पाँच अलग-अलग अभिनेताओं के द्वारा एक साथ करवायी है। नाटक का प्रमुख पात्र मनमोहन है। सफेद, काले, पीले और लाल नकाबों वाले चार पात्र उसी के व्यक्तित्व के प्रतिरूप हैं। सफेद नकाब वाला पुरुष उसकी अंतरात्मा का प्रतीक है, जो उसे गलतियाँ करने पर बार-बार कचोटती है। काले नकाब वाला पुरुष उसकी महत्वाकांक्षाओं और क्रूरता का प्रतीक है। काले नकाब वाले द्वारा सफेद नकाब वाले की एक आँख फोड़ना, एक पैर तोड़ना और उसके मुँह पर टेप चिपकाना- ये सारे दृश्य मनमोहन के द्वारा अपनी आत्मा को दबाने के प्रयासों के व्यंजक हैं। पीले नकाब वाला दफ्तर और घर के बाहर के कार्यों में अपने को व्यस्त रखने वाला रूप है। मनमोहन एक पति का रूप है। संतुष्ट वह अपनी अंतरात्मा की कचोट से त्रस्त महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित तथा दफ्तर में बार-बार अपमानित होकर अपने व्यक्तित्व को विवाहेतर संबंधों में प्रेम खोज कर पूर्ण करना चाहता है। लाल नकाब वाला उसके इस प्रेमी रूप का प्रतीक है। एक ही व्यक्ति के इन पाँचों रूपों से उसकी पत्नी सुरेखा साक्षात्कार करती है। इस अर्थ में वह आधुनिक द्रौपदी है।

---

[1] विनय (सं )- समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच , पृ.129

यह नाटक आधुनिक मध्यमवर्गीय परिवार की विकृतियों अथवा नवीनतम प्रवृत्तियों को चित्रित करता है। मध्यमवर्गीय परिवार में यौन विषयक धारणाओं में तेज़ी से आता हुआ बदलाव और उसके साथ ही मध्यमवर्गीय समाज के दोहरे मानदंड और नैतिक स्खलन को भी नाटककार ने रेखांकित किया है। अपने व्यापक अर्थों में यह मिथक टूटते पारिवारिक सम्बन्धों, मशीन, सभ्यता की दौड़ में खंडित मानव, व्यक्तिगत सुख की खोज में भटकती नयी पीढ़ी, सभी को अपने भीतर समेट लेता है और आज के मानव की विडंबना का सार्थक ब्यौरा देता है तथा नकाबवालों की रंगयुक्ति को भी प्रामाणिकता और सार्थकता देता है।

वस्तुतः भारतीय मध्यमवर्गीय समाज की नवीनतम बदलती हुई परिस्थितियों के बीच मानसिक बनावट तथा व्यक्तित्व के नये रूपांतरण को प्रस्तुत करने की दृष्टि से यह नाटक महत्वपूर्ण है।

### 4.5.2 शिल्पगत प्रयोग

सुरेन्द्र वर्मा ने विषयवस्तु के अनुरूप रंग शिल्प व नाट्यशिल्प में भी नवीन प्रयोग किये हैं। मनमोहन के व्यक्तित्व के विघटन और बिखराव को दिखाने के लिए सफेद काले, पीले और लाल नकाबों में चार पुरुष इस नाटक में बार-बार आते हैं जो व्यक्ति मनमोहन के चार रूप हैं। नाटक के प्रारंभ में इन चारों नकाबधारी पुरुषों की मुठभेड़ मनमोहन की पत्नी सुरेखा से होती हुई दिखायी गयी है। इस प्रकार नाटक की यह शिल्पगत नवीन परिकल्पना उसकी विषयवस्तु के संप्रेषण में सहायक होती है। चारों नकाबधारी पुरुष रंगमंच पर कहीं एक साथ आते हैं, कहीं बारी-बारी से। कुछ दृश्यों में नाटककार ने बड़ी कुशलता से इनको युग्मों में प्रस्तुत किया है।

शिल्प के स्तर पर दूसरे महत्वपूर्ण प्रयोग विशेष अभिप्राय से संवादों में अश्लील भाषा का प्रयोग और संवादों का दोहराया जाना है। अलका व अनिल के बीच गाली-गलौज के संवाद नाटक के आरंभ में तथा अंत में लगभग उन्हीं शब्दों में दोहराये गये हैं। इसी प्रकार अलका-राजेश तथा अनिल-वर्षा के बीच हुए संवादों की शब्दावली भी नाटककार ने जानबूझकर एक-सी रखी है। इस तकनीक के द्वारा जिस प्रकार मनमोहन के पाँचों रूप एक-दूसरे के आमने-सामने आ जाते हैं, उसी प्रकार इन चारों पात्रों को भी नाटककार एक धरातल पर रखकर उनके चरित्र का द्वैध उजागर कर देता है।

पानी का जीवन-शक्ति के रूप में प्रयोग अत्यन्त प्रभावशाली हुआ है। पानी का ऊपर न चढ़ना जीवन सम्बन्धों के असर, बंजर, नपुंसक और सूने होने का प्रतीक है। 'बूस्टर' यहाँ खोखले और वायवी आदर्शों का नहीं, संतुलित, संयमित और व्यावहारिक जीवन का प्रतीक है। नाटक के बिल्कुल प्रारम्भ में सुरेखा कहती है- 'ऊपर पानी नहीं चढ़ता। हमें बूस्टर चाहिए' और नाटक का अन्त भी इन्हीं श्ब्दों के साथ ही होता है। जैसे कि चक्र पूरा घूम गया हो।

### 4.5.3 रंगमंचीय प्रयोग

रंग शिल्पगत प्रयोग भी इस नाटक में नवीनता लेकर आते हैं। नाटककार ने घर और दफ्तर के दृश्य एक साथ दिखाने के लिए रंगमंच पर दो टेलीफोनों की कल्पना की है। उसी प्रकार दफ्तर की मेज़ों तथा पार्क की बेंचों व घर की मेज़ों के द्वारा एक साथ तीनों जगहों के दृश्यों के लिए बनाया गया है। नाटककार ने इन तीनों दृश्यों में विभिन्न पात्रों को एक साथ काम करते भी दिखाया है। यह आलोक-वृत्त की विशिष्ट योजना के द्वारा किया गया है। विशेष रूप से स्मृत्यावलोकन करते हुए या फ्लैश-बैक की नवीनतम पद्धतियों का नाटकीय उपयोग करने के लिए प्रकाश-व्यवस्था का अधिकतम लाभ उठाया गया है।

नाटक के प्रारंभ में मनमोहन अपनी पत्नी सुरेखा से बात कर रहा है और इसी समय एक आलोक वृत्त दफ्तर के टेलीफोन पर केंद्रित होता है जिससे दफ्तर से फोन करता हुआ मैनेजर और घर में फोन पर बात सुनता मनमोहन, दोनों एक साथ देखे जा सकते हैं। पूरे नाटकों में घर से दफ्तर, दफ्तर से पार्क और फिर घर-इन तीनों दृश्यों की सेट बदले बिना नाटककार ने अपने पात्रों से परिक्रमा करवायी है। रंगशिल्प की यह योजना नाटक की विषयवस्तु और नाट्यशिल्प से तालमेल रखती है। इसके द्वारा नाटककार विभिन्न स्थानों में स्थित पात्रों को एक ही धरातल पर जाँच कर दिखा देता है। मनमोहन के व्यक्तित्व के अलग-अलग रूपों का भी एक से दूसरे में संक्रमण आसानी से इस योजना के द्वारा दिखाया जा सकता है। यहाँ तक कि सुरेखा और रंजन के घर एक ही दृश्यबंध के द्वारा दिखाये गये हैं। मनमोहन के प्रेम के इच्छुक रूप लाल नकाब वाले पुरुष को देखकर दर्शक कल्पना कर सकते हैं कि वह पत्नी सुरेखा के पास नहीं बल्कि अंजना के पास उसके घर में आया हुआ है।

गिरीश रस्तोगी का अभिमत है कि 'अपनी प्रतीकात्मकता और प्रयोगशीलता के कारण, रंगमंचीय बोध के कारण 'द्रौपदी' श्रेष्ठ नाट्यकृति कही जाएगी। वस्तुतः 'द्रौपदी' में संकेतों, प्रतीकों, नाटक के टेक्नीकल पक्ष का संयत और सार्थक प्रयोग दिखता है। ... 'द्रौपदी' में नाटक की रंगमंच की भाषा है, उसकी ध्वनि उसका टोन व्यंग्यार्थ लिए हुए है।'[1]

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 'द्रौपदी' 'नया नाटक' है क्योंकि इसमें एक ओर तो समसामयिक विसंगतिपूर्ण मानवीय नियति को विषय बनाया गया है, दूसरी ओर इसमें शिल्प के धरातल पर नाटककार ने अनेक प्रयोग किए हैं और अन्ततः यह नाटक रंगमंच के व्याकरण के अनुरूप है और रंगमंच का काव्य बनने की नये नाटक की शर्त भी पूरी करता है।

## 4.6 हमीदुल्ला : समय संदर्भ

हमीदुल्ला ने 'उलझी आकृतियाँ' और 'दरिन्दे' के द्वारा हिन्दी नाटक में तीखे व्यंग्य नाटक और प्रयोगात्मक प्रवृत्ति को भिन्न रूप में प्रतिष्ठित किया है। कथ्य, शिल्प और तकनीक का नयापन आकृष्ट करता है और कई स्तरों पर सोचने के लिए चुनौती देता है। हमीदुल्ला एक नाटककार के रूप में आज के युग की, वैज्ञानिक सभ्य युग की विद्रूप स्थितियों को, आधुनिक प्रवृत्ति और मानव जीवन के खोए हुए अस्तित्व को बेबाक ढ़ंग से प्रस्तुत करते हैं। "उनके सभी नाटकों में समूची आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं का क्रूर चित्रण और कठपुतली जैसे आदमी की विवशता है।... साथ ही हिन्दी नाटक और रंगमंच में परिवर्तित होती हुई नयी दृष्टि का आभास भी देते चलते हैं।"[2] गिरीश रस्तोगी का प्रस्तुत कथन एक नाटककार के रूप में हमीदुल्ला के व्यक्तित्व का स्पष्ट निरूपण है। हमीदुल्ला के पुस्तकाकर चार प्रकाशन अभी तक उपलब्ध हैं : 'उलझी आकृतियाँ' (1973), 'दरिन्दे' (1975) 'उत्तर उर्वशी' (1979), एवं 'ख्याल मारमली' (1981)। 'उलझी आकृतियाँ' में उनके तीन नाटक एकत्र संकलित हैं, 'समय संदर्भ', 'एक और युद्ध' और 'उलझी आकृतियाँ'।

---

[1] विनय (सं)- समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच, पृ.130

[2] गिरीश रस्तोगी-समकालीन हिन्दी नाटककार, प्र.सं. 1982, पृ.136

'समय संदर्भ' आधुनिक मानव की उस स्थिति का चित्रण करता है जहाँ वह आज के युग की सम्पूर्ण उपलब्धियों और विकास के साथ-साथ ऐसा मशीनी मानव हो गया है जो इन्सानियत के साथ-साथ धर्म-ग्रन्थ, कानून आदि पर विश्वास नही करता। 'समय सन्दर्भ' अपने कथ्य में समसामयिक युग के प्रश्नों, समस्याओं तथा विसंगत परिवेश को सर्वथा नये, किन्तु प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह नाटक अपने कथ्य, शिल्प और तकनीक के नयेपन के कारण चर्चित है।

### 4.6.1 कथ्यगत प्रयोग

'समय संदर्भ' वर्तमान युग की वैज्ञानिक उपलब्धियों के अभिशाप को मुखर करता हुआ आज की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और न्याय व्यवस्था पर कटाक्ष करता है। मशीनों के कार्य पर निर्भर होता हुआ मनुष्य आज अर्थ और भौतिक सुखों को ही जीवन का सर्वस्व समझ बैठा है। फलस्वरूप मानवीय मूल्यों का विघटन हो रहा है, अपने ही अस्तित्व की पहचान खोकर मशीनों की भीड़ में वह स्वयं भी एक मशीन बनकर रह गया है। उसके पास 'फीलिंग्स', 'स्नेह' और 'विश्वास' का कोई अर्थ नहीं है, 'शब्द के अर्थ ही बेमानी' बन गये हैं। किन्तु यह अर्थ-स्पर्धा, मशीनों पर निर्भरता और मानवीयता की ह्रासोन्मुखता हमें कहाँ ले जायेगी? यन्त्र हमें विकास व निर्माण देगा या विनाश ? हमने अपनी सुविधा के लिए मशीनी मानव बनाया, पर यदि एक दिन वह भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर बैठा, तो हमारी ही सर्जना हमारे सामने कितनी जटिल परिस्थिति उत्पन्न कर देगी। इन प्रश्नों को नाटककार ने मानव और मशीनी मानव के संघर्ष की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति को इस नाटक की कथावस्तु में प्रस्तुत किया है। बोस अपनी सर्जना से बहुत सन्तुष्ट और गर्वित है, किन्तु एक दिन उसके द्वारा निर्मित मशीनी मानव ही अधिकार और शोषण के प्रश्नों पर विद्रोह खड़ा कर उसके सृजन की उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। नाटककार ने इस संघर्ष के माध्यम से वर्तमान राजनीति के हथकण्डों, भ्रष्टाचार, न्याय-व्यवस्था के खोखलेपन, प्रेस कांफ्रेंस और समझौता-वार्ताओं की हास्यास्पद स्थितियों, सामाजिक जीवन में हलचल मचाने वाले हिप्पीसिज्म आदि को इतने सजीव और प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है, कि दर्शक भविष्य में छाने वाले इस संकट को गहराई से अनुभव करने लगता है।

मशीनी मानव का व्यंग्यात्मक चित्रण करते-करते नाटककार एक भूखे गरीब के द्वारा यह व्यंग्य भी सामने लाता है कि गरीबी दुनिया में इन्सान का सबसे बड़ा गुनाह है। नाटक का दूसरा अंक अस्तित्व की तमाशा से आगे बढ़ता है। यहाँ चारों तरफ की दुनिया के वे सारे व्यापक सन्दर्भ संकेतों, लयों, ध्वनियों में आते रहते हैं जो मानवीय विसंगति का चित्रण करते हैं। बड़े वादे, बडे नारे, हत्या, क्रान्ति, शान्ति, घूस, कमीशन, राशन, शासन, भाषण, धर्म-समाज के प्रति आक्रोश, नैतिक मूल्यों के प्रति घृणा आदि अनेकों देशव्यापी प्रसंग आते जाते हैं और व्यंग्य घना होता जाता है। अन्ततः नाटक औद्योगिक क्रान्ति, गरीबी हटाओ, कीमतें कम करो आदि जुलूस और नारों में बदल जाता है । मशीनी मानव भी अधिकारों के लिए, सत्ता के लिए, जीने के लिए संघर्ष करना चाहता है क्योंकि शोषित का संघर्ष सदा जारी रहता है। वह समझौता नहीं करना चाहता क्योंकि समझौता धोखा है और आवाज़ को बन्द नहीं किया जा सकता। परिवर्तन की आवाज़ों को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और विरोधात्मक स्थिति और प्रश्नचिह्न के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

### 4.6.2 शिल्पगत प्रयोग

आधुनिक रंग-चेतना और नवीन नाट्यशिल्प का समन्वित सौन्दर्य नाटक में मौजूद है। संस्कृत नाटकों का प्राचीन शिल्प, एब्सर्ड नाटकों का नया शिल्प और यथार्थ के शिल्प के मिले-जुले प्रयोग से दो अंकों में विभाजित इस नाटक का शिल्प भी नया बन गया है।

नाटक का अंत प्रतीकात्मक है। विकास और विनाश के बीच उसने एक प्रश्नचिह्न लगाया है। आज का मनुष्य चौराहे पर खड़ा है। उसे सोचना होगा अपने सर्जन पर। कहीं उसका ही सर्जन उसके विनाश का कारण न बने। संवादों में निहित व्यंग्य से नाटक प्राणवान हो उठा है। इसके संवाद छोटे व सारगर्भित हैं। इस नाटक के कुछ संवाद दृष्टव्य हैं।

"बिना चमचों के महापुरुषों की कल्पना की ही नहीं जा सकती।" [1]

"मैडनेस प्लस मैडनेस इज इक्वल टू जीनियस।"[2]

"और गरीबी हुजूरेआला अन्तर्राष्ट्रीय कानुन की धारा जीरो-जीरो, जीरो के अनुसार दुनिया में इन्सान का सबसे बड़ा गुनाह है। इसलिए साबित हुआ हुजूरेआला कि

---

[1] हमीदुल्ला समय संदर्भ, पृ 60

[2] वही

इस आदमी की मौत भूख से नही गुनाह से होगी।" [1] ये संवाद वर्तमान जीवन के खोखलेपन व भयानकता को प्रस्तुत करते हैं।

### 4.6.3 रंगमंचीय प्रयोग

सादा मंच दो हिस्सों में बँटा होकर समानान्तर दो स्थितियों, दो दृश्यों को प्रस्तुत करके एक अर्थपूर्ण संसार देता है। कम-से-कम उपकरणों द्वारा प्रकाश-परिवर्तन और ध्वनि-प्रभावों द्वारा, मूकाभिनय के काल्पनिक प्रयोग द्वारा नाटककार ने मंच विस्तार और अभिनय के, दृश्य-परिवर्तन के विविध अवसर दिये हैं। एक ही पात्र द्वारा अनेक भूमिकायें की जाती हैं। बीच-बीच में नाटक के प्रवाह को रोककर सूत्रधार की बातचीत नाटक होने का आभास दिलाते रहती है, कहीं-कहीं छोटे-छोटे संवादों बल्कि शब्दों की परस्पर मिलती बनती लय के स्थल हैं और ये 'शरीर की भाषा' से जुड़ते हैं। फ्रीज़ पद्धति के प्रयोग से भी अर्थसृष्टि की गयी है और फैंटसी के द्वारा भी। द्वितीय अंक का आरम्भ इस माने में आकर्षक है। इसमें अभिनयशैली और रंगशैली का वैविध्य और कल्पनाशील प्रयोग हैं। कठपुतली संगीत और मंच पर कठपुतली जैसे कार्य-व्यापार की योजना भी न केवल जड़ता, पराजय की अभिव्यक्ति करती है बल्कि मंच की दृष्टि से रोचक वातावरण की भी सृष्टि करती है। अंत में बोर्ड लिये पात्रों के प्रवेश से भी सांकेतिक अर्थ प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के नाटकों में बड़ी तीव्र गति और परिवर्तन तो होता ही है, सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता भी गहरा काम करती है। [2]

नाटक का प्रारम्भ सूत्रधार के उद्‌गार से होता है, यद्यपि इस उद्‌गार का विरोध कर पात्र आज भी टुकड़ों में बंटी ज़िन्दगी को, यान्त्रिक युग के अभिशाप को प्रस्तुत करते हैं। नाटक में प्रकाश और ध्वनि योजना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । नाटक के मार्मिक स्थलों पर उभरने वाली कारखानों के सायरन की तीव्र ध्वनि तथा अन्य आवाज़ों का शोर एवं कठपुतली संगीत का प्रयोग यान्त्रिक युग के वातावरण का गहन प्रभाव डालता है। यह नाटक वर्तमान जीवन का प्रतीकात्मक दृश्य है, जहाँ युग के अभाव और आवश्यकताओं से विवश होकर समाज का एक बड़ा वर्ग मशीनी मानव बन चुका है। नाटककार ने इसी विसंगत परिवेश और मानव मूल्यों की ह्रासोन्मुखता की भयानकता को हमारे सामने एक प्रश्नचिह्न के साथ प्रस्तुत किया है।

---

[1] हमीदुल्ला-समय संदर्भ, पृ 34

[2] गिरीश रस्तोगी, 'समकालीन हिन्दी नाटककार'- प्र. सं. 1982, पृ.138

इसप्रकार स्पष्ट है कि यह नाटक कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय धरातल पर प्रयोग की दृष्टि से सफल है।

## 4.7 अस्तित्ववाद से एब्सर्ड तक

जहाँ अस्तित्ववादी दर्शन सार्त्र और कामू के विचारों से समाप्त होता है वहाँ से विसंगतिवाद का प्रारंभ होता है। सार्त्र और कामू जीवन की अर्थहीनता व्यक्त करते है तो आगे आनेवाले नाटककार इसी अर्थहीनता से अर्थ पकड़ने की, उससे भी गहराई तक पहूँचते हैं। जीवन में घेरा हुआ यह विसंगतिबोध मनुष्य के जीवन से संबंधित है। समस्त यूरोपीय जीवन में बढनेवाली असहजता, और संत्रास, अजनबीपन, अपराधवृत्ति आदि से असंगति दर्शन प्रभावित है।इस यांत्रिक संसार में मनुष्य अपने आपको एक उपकरण मात्र मानता है। वह संसार की सारी वस्तुओं को स्वयं के लिए उपयोग करने का आग्रह करता है। वह एकान्त की कामना करता है और अकेलेपन की स्थिति उत्पन्न होती है। मनुष्य भिन्न प्रकार का आचरण करने लगते हैं। वह अन्दर से एक, बाहर से और एक व्यक्ति बन जाता है और उसके व्यवहार में बदलाव आने लगता है। इस दुहरी ज़िन्दगी जीने के लिए आज का मनुष्य अभिशप्त है। इसी अभिशप्त जीवन से असंगत दर्शन का आविर्भाव होता है।

असंगति दर्शन की मान्यता है कि हर कला मनुष्य कर्म का परिणाम है। कर्म का फल हर मनुष्य को नहीं मिलता इसलिए कर्मसापेक्ष होकर भी उसका जीवन व्यर्थता से भरा रहता है जो उसे निष्क्रिय बना देता है। मनुष्य अपने जीवन में जिसको सार्थक मानता है वह सब व्यर्थ है। जीवन और मृत्यु के बीच आदमी अकेला जीवन बिताता है। अकेला बितानेवाला जीवन निरर्थक साबित होता है। व्यक्ति विश्व की शक्तियों का असहाय शिकार बन गया है। व्यक्ति का प्रारब्ध है कि विघटन, निराशा, व्यर्थता के एहसास में जीता हुआ अनन्त प्रतीक्षा में संलग्न आदमी बन जाना जो परिस्थितियों में जीता है तो मनुष्यत्व खोता है, बुद्धि से जीता है तो सारा संसार ही उसे अर्थहीन लगता है और अगर किसी कर्तव्य भावना से जुडता है तो मनुष्यता की शर्तें टूटती हैं। इन्हीं उलझनों की अभिव्यक्ति केलिए जो रूपविधान किया गया वह विसंगति की रंगपद्धति है।

## 4.8 असंगत : अर्थ और स्वरूप

असंगत शब्द का सरल अर्थ है जिसमें कोई परस्पर संबंध अथवा संगति न हों यह अंग्रेज़ी के 'एब्सर्ड' (absurd) का पर्यायवाचीय शब्द हैं। बृहत् अंग्रेज़ी हिन्दी कोश में

Absurd के अर्थ इसप्रकार दिये-गये हैं - असंगत, विसंगत, अनर्थक, अर्थहीन, अनुचित, अयुक्त।[1] असंगत एक विशिष्ट और दार्शनिक प्रयोग है। सबसे पहले असंगत शब्द की परिभाषा 1961 में ओक्सफोर्ड डिक्शनरी में दी गई थी। इसके बाद जॉन रसेल टेलर ने 'दि पेंग्विन डिक्शनरी ऑफ थियेटर' में इस शब्द को परिभाषित करते हुए 1950 के नाटककारों से जोड़ दिया है। 'दि मिथ ऑफ सिसिफस' में आल्बेर्ट कामू ने संसार की विसंगति को समझाने का प्रयास किया। उनके अनुसार "अब तक संसार के बारे में हमारी यही धारणा रही कि वह तर्कगम्य है, लेकिन अब विश्व से हमारा मोहभंग प्रारंभ हुआ है। मनुष्य जगत् में अकेला, अजनबी और निर्वासित हैं तथा भविष्य केलिए कोई संभावनाएँ शेष नहीं हैं। मनुष्य तथा उसके जीवन के बीच, और मंच पर दृश्य सज्जा और अभिनेता की विच्छिन्नता ही विसंगति को जन्म देती हैं।" [2] इसमें कामू ने मानव नियति के दुर्निवार होने तथा मानव के प्रयासों की निरर्थकता प्रकट की थी।

काफ्का पर लिखे अपने एक निबन्ध में यूजिन आयनेस्को ने लिखा है – "विसंगत अर्थात् एब्सर्ड वह है जो प्रयोजनहीन है जो धर्म, अध्यात्म और अनुभवातीत सूत्रों से कटा है, ऐसे आदमी के सब क्रिया-व्यापार व्यर्थ ऊलजलूल, अर्थहीन होते है।"[3] डॉ. गोविन्द चातक के अनुसार 'विसंगत' अथवा एब्सर्ड का सामान्य अर्थ होता है – विषम स्वर होना, सामंजस्यहीन, अतार्किक, असम्बद्ध, ऊलजलूल, हास्यास्पद आदि।"[4] "वस्तुतः absurd एक विशिष्ट और दार्शनिक प्रयोग है। सबसे पहले मार्टिन एसलिन ने इस शब्द की, इसके दर्शन की विस्तृत व्याख्या की। आंक्सफोर्ड डिक्शनरी (1965) में इस शब्द को परिभाषित किया गया है। द पेंगुयन डिक्शनरी ऑफ थिएटर में जॉन रसेल टेलर कहता है कि यह शब्द 1950 के नाटककारों के एक विशेष समूह से जुड़ा है - उन नाटककारों के समूह से जो अपने को किसी खास स्कूल का नहीं मानते, जो सृष्टि में मनुष्य की स्थिति के बारे में भिन्न ढंग से सोचते हैं।"[5]

---

[1] डॉ. हरदेव बाहरी ( सं )- बृहत् अंग्रेज़ी हिन्दी कोश, प्र सं.1969, पहला भाग - पृ.10

[2] Albert Camus -The Myth of Sisiphus, first published – 1955, p 75

[3] डॉ. नरनारायण राय (सं )- असंगत नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 1981, पृ.97

[4] डॉ. गोविन्द चातक- रंगमंच : कला और दृष्टि, प्र.सं. 1976, पृ.105

[5] डॉ. नरनारायण राय (सं )- असंगत नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 1981, पृ.113

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी के 'असंगत' या 'विसंगत' शब्द अंग्रेज़ी के absurd शब्द के हिंदी रूपान्तर हैं। 'असंगत' अथवा 'विसंगत का सामान्य अर्थ यही है कि जो निरर्थक, तर्कहीन, संगतिहीन, असम्बद्ध, हास्यास्पद तथा ऊलजलूल होता है। अर्थात् जिसमें कोई सरल अर्थ या संगति न हो वह असंगत है।

## 4.9 असंगत नाटक : व्याख्या और विशेषताएँ

असंगत नाटक स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक साहित्य का एक अद्यतन प्रयोग है। असंगत नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता यही है कि उनमें कथानक, पात्रों का चरित्र-चित्रण, घटनाएँ तथा संवाद आदि में कोई परस्पर संगति या सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। "असंगत" या "विसंगत" शब्द इन नाटकों की प्रवृत्तिगत विशेषता के सूचक हैं।

असंगत नाटकों में मानव जीवन की असंगतियों पर प्रकाश डाला जाता है। विश्व का हर व्यक्ति अपने जीवन-व्यवहार से असामान्य (abnormal) होता है तथा उसके व्यवहारों और आचरणों में कहीं न कहीं असंगति पाई जाती है। जीवन की इस असंगति, असम्बद्धता, अस्पष्टता तथा बेतुकेपन को मंचित करना ही असंगत नाटकों का परम उद्देश्य होता है।

असंगत नाटकों के बारे में अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं। 'ए हिस्ट्री ऑफ इग्लिश लिटरेचर' ग्रंथ में मुन्ड्रा द्वय ने असंगत नाटकों की निम्नलिखित विशेषताएँ दी हैं।

1. असंगत नाटकों में प्रायः अर्थपूर्ण कार्य-व्यापार और कथावस्तु का अभाव होता है। जो कुछ थोड़ा-बहुत घटित होता भी है वह अर्थपूर्ण नहीं हो सकता।
2. अन्तिम स्थिति असंगत या हास्यास्पद होती है।
3. असंगत नाटक उद्देश्यपूर्ण नहीं होता और समस्या नाटक की भाँति निश्चय बोधक भी नहीं होता। वह गूढ़ चित्रकारी की भाँति होता है, जो निश्चित अर्थबोध दिलाने में असमर्थ माना जाता है।[1]

असंगत नाटकों पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध नाट्य-आलोचक नरनारायण राय ने लिखा है-

"व्यावहारिक जीवन में हर व्यक्ति को अपने चरित्र से भिन्न भूमिकाएँ निभानी होती हैं – यही है जीवन की आंतरिक "विसंगित" या "असंगति" । जिस नाट्य-रजना में यह

[1] J.N. Mundra & Dr. S.C.Mundra- A History of English Literature, Vol.III, Edition 1987, p.no.595

असंगति जितनी अधिक उजागर होती है अपने आप में वह ड्रामा उतना ही 'एब्सर्ड' हो जाता है"।[1]

डॉ. जयदेव तनेजा ने अपने 'हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा' ग्रंथ में असंगत नाटकों के बारे में लिखा है- "इन नाटकों का कथानक तर्क-तारतम्य युक्त नहीं होता। संरचना सीधी रेखा में न होकर वृत्ताकार होती है। चरित्रों में भी विकास या बदलाव की कोई संभावना नहीं होती। उपदेशपरक उद्देश्य के बजाय नाटककार जीवन के खोखलेपन, अकेलेपन, ऊब, अलगाव और अर्थहीनता का विसंगत दृश्यांकन भर करता है।"[2]

जीवन को देखने की दो प्रकार की दृष्टियाँ हो सकती है – एक सकारात्मक और दूसरी नकारात्मक। असंगत नाटकों में जीवन की नकारात्मक दृष्टि को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति दी जाती है। इस पर प्रकाश डालते हुए श्री. बैजनाथ राय लिखते हैं –" असंगत नाटककार मानते हैं कि जहाँ आशा है वहीं निराशा भी, जहाँ ज्ञान है वहीं अज्ञान भी, जहाँ सार्थकता है वहीं निरर्थकता भी। इस प्रकार सारे मानवीय सम्बन्ध यदि सारगर्भित और मूल्यवान हैं तो निस्सार और निरर्थक भी। असंगत नाट्य-दर्शन इसी नकारात्मक पक्ष को लेकर काव्य-बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्ति करता है। यहीं कारण है कि असंगत नाट्य परम्परा से कटा, नया, अकेला और सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है।"[3]

डॉ. किरनचद्र शर्मा असंगत नाटककारों की दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं – 'असंगत नाटककार सबसे पहले तर्क और बुद्धि का विरोध करता है और फिर दूसरे स्थान पर आदमी के भीतर आदमी के होने का। रचनाकार न यहाँ किसी मानवता का दायित्व अपने ऊपर ढोता है और न समाज की कोई प्रतिबद्धता उसे व्याकुल करती है, उल्टे दायित्व और प्रतिबद्धता से उसे भय लगता है । इसलिये उसकी सारी शक्ति सवालात पैदा करने पर लगी है।"[4]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य-साहित्य में असंगत नाटक एक सर्वथा नयी दृष्टि को लेकर उपस्थित हुए हैं।

---

[1] डॉ. नरनारायण राय- नटरंग विवेक, प्र.सं.1981, पृ.84

[2] डॉ. जयदेव तनेजा- हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा, प्र.सं. 1988, पृ.342-343

[3] डॉ. नरनारायण राय (सं )- असंगत नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 1981, पृ.43

[4] डॉ. नरनारायण राय (सं )- असंगत नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 1981, पृ.98

## 4.10 हिन्दी के असंगत नाटक : उद्‌भव और विकास

दो विश्वयुद्धों और देशविभाजन ने जो दुष्परिणाम पाश्चात्य तथा भारतीय जनता पर डाला उसने साहित्य में 'एब्सर्ड' यानि 'असंगत' नाटकों को जन्म दिया। भारत के असंगत नाटक को पश्चिम का अनुकरणमात्र कहना उचित नहीं है क्योंकि पश्चिम में इसकी उपज के पहले ही भारत में भुवनेश्वर प्रसाद द्वारा असंगत नाटक लिखा जा चुका था। भुवनेश्वर प्रसाद के काफी अरसे बाद ही हिंदी साहित्य के क्षेत्र में असंगत नाटक एक प्रवृत्ति बनकर उभरा है। इस समय पश्चिम में सैमुएल बैकेट, हैरोल्ड पिन्टर, युजीन अयनस्को, एडवर्ड आल्बी, ज्या जेने, जैसे अनेक असंगत नाटककारों ने अपना स्थान पा लिया था। 1945 से लेकर पाश्चात्य साहित्य में प्रतिष्ठित विसंगत नाटककार हैं सार्त्र, कामू, सैमुल बैकेट, ज्या जेने, अयनस्को, अदामोव, आल्बी, पिन्टर आदि। इन नाटककारों की अपनी विशिष्टता तो थी साथ ही इन्होंने यह भी साबित किया कि जीवन के परम्परागत मूल्य कुछ भी नहीं है और ये लोग विसंगति को अस्तित्व का पर्याय भी मानते हैं। मनुष्य के भद्दे जीवन के प्रति ये नाटककार काफी चिन्तित हैं।

एक नाटककार के रूप में बैकेट का उदय उनका पहला नाटक 'एक अटेंटन्ड गोडोट' के बाद हुआ जो बाद में 'वेंटिंग फॉर गोदो' नाम से अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुआ। एक असंगत नाटक के रूप में यही वास्तव में पहला कदम रहा। विश्वसाहित्य पर यह काफी चर्चित भी हुआ।

'वेंटिंग फॉर गोदो' एब्सर्ड नाट्यजगत् में एक सफल उपलब्धि मानी जाती है। इसमें असंगत दर्शन की सारी विशेषताएँ अपलब्ध हैं। मनुष्य मन की ऊब, निराशा, थकावट, अकेलापन आदि स्पष्ट रूप में व्यक्त की गई है। 'वेंटिंग फॉर गोदो' जीवन में मनुष्य की कुछ न करने की स्थिति का बोध कराते हैं। नाटक के प्रारंभ में पात्रों द्वारा नथिंग टु बी डन अर्थात कुछ भी नहीं करना है स्थिति का अंकन हुआ है। मनुष्य ज़िन्दगी भर कुछ न करने की असहायता में किसी की प्रतीक्षा में जीते रहते हैं। ज़िन्दगी में कुछ नहीं होता, कोई नहीं आता, कोई नहीं जाता जैसी शून्य स्थिति का आभास 'वेंटिंग फॉर गोदो' में मिलता है।

बैकेट के नाटक ओढ़ी हुई सामाजिकता को तोड़नेवाले हैं। उन्होंने अपने नाटकों द्वारा आदमी की नियति का प्रश्न उद्‌घाटित करने की कोशिश की है। उनके अनुसार आदमी

अपने विशालकाय समय चक्र में केवल प्रतीक्षा कर रहा है, वह भी एक ऐसी प्रतीक्षा जो कभी पूरी नहीं होती और न कभी घटती है न बढ़ती है बस उसी तरह बनी रहती है। 'वेंटिंग फॉर गोदो' में इसी प्रतीक्षा को व्यक्त की गई है। पूरा नाटक गोदो की प्रतीक्षा में चलता है।

पश्चिम में 1945 से लेकर 65 तक का काल असंगत नाटकों का रहा जबकि भारत में 1945 में भुवनेश्वर के 'ताँबे के कीडे' के बाद 1960 में यह प्रवृत्ति प्रारंभ हुई।

भुवनेश्वर प्रसाद ने अपने एकांकियों द्वारा एक नया कथ्य और शिल्प पाठकों के सामने रख लिया। उनके 'कारवाँ' संकलन में निहित 'ऊसर' और 'ताँबे के कीडे' विसंगत परिवेश का सही चित्रण करता है। जीवन में व्याप्त अकेलापन, अजनबीपन, यांत्रिकता आदि का चित्रण उनके एकांकियों का मुख्य विषय रहा है। विपिनकुमार अग्रवाल ने कारवाँ की भूमिका में लिखा है- "ऐसे में राजारानी की कहानी कहना, प्रेम के त्रिकोण रचना, वियोगी-वियोगिनी का नाटक लिखना, ड्राइंगरूम केलिए पनघट के चित्र बनाना मनबहलाव के, मनोरंजन के साधन तो हो सकते थे, पर कला नहीं।भुवनेश्वर हिन्दी के पहले लेखक थे जिन्होंने इसे महसूस किया और अपने को बदला।"[1]

1938 में प्रकाशित 'ऊसर' एक कथाविहीन एकांकी है जो जीवन के अकेलेपन और खोखलेपन को सही ढ़ंग से दर्शाता है। समाज में जीनेवाले व्यक्तियों के जीवन की ऊसरता स्पष्ट करना ही एकांकीकार का लक्ष्य है। हिन्दी के विसंगत नाटकों में ऊसर सबसे पहला माना जाता है।

'कारवाँ' में संकलित भुवनेश्वर प्रसाद का दूसरा प्रमुख एकांकी है 'ताँबे के कीडे' जिन्हें असंगत नाटक की कोटि में रखा गया है। 'ऊसर' के समान 'ताँबे के कीडे' में भी विघटित भारतीय जनता की मनः स्थिती को सही ढंग से उभारा है। एकांकीकार ने मानव की पीडा, बेचैनी, अकेलापन, अव्यवस्था और विघटन, भय, निराशा, टूटन, आदि को 'ताँबे के कीडे' में तीखेपन के साथ व्यक्त करने की कोशिश की।

इसप्रकार भुवनेश्वर ने अपने परम्परागत रचनाकाल के प्रारंभिक दौर में ही परम्परागत नाट्यरूढ़ियों को तोडकर कथ्य तथा शिल्प के क्षेत्र में एक भिन्न मार्ग खोजकर असंगर नाट्य क्षेत्र में अपना नाम प्रतिष्ठित किया।

---

[1] विपिनकुमार अग्रवाल-कारवाँ तथा अन्य एकांकी, भूमिका, सं.1994

भुवनेश्वरप्रसाद के 'ऊसर' और 'ताँबे के कीडे' लिख चुकने के लगभग बारह साल तक विसंगत नाट्यक्षेत्र में किसी ने भी कदम नहीं उठाया। इसके काफी बाद सन् 1963 में विपिनकुमार अग्रवाल ने असंगत नाटकों के लेखन की फिर से शुरुआत की। सन् साठ के असंगत नाटककारों में विपिनकुमार अग्रवाल को ही सबसे प्रमुख और पहला नाटककार माने जाते हैं। 1963 में प्रकाशित विपिनकुमार अग्रवाल के 'तीन अपाहिज' असंगत नाट्यधारा को आगे बढ़ाने में सहायक बना। विपिनकुमार अग्रवाल ने जीवन में व्याप्त विसंगतियों को नाटक का मुख्य विषय बनाया और प्रयोगशीलता से नाटकों को समृद्ध किया। उनके 'तीन अपाहिज', लोटन', 'खोए हुए आदमी की खोज' आदि नाटकों में विसंगत नाटकों की धारा पुष्ट होती है। "तीन अपाहिज" पूरी तरह देशविभाजन के बाद जनता के मन में आए परिवर्तन व्यक्त करता है।

संकलन का पहला नाटक 'तीन अपाहिज' भुवनेश्वर के एकांकियों के समान कथाविहीन नाटक है। इसमें न कोई प्रमुख पात्र है और न पात्रों का चरित्र चित्रण। कल्लू, खल्लू, गल्लू नामक पात्रों द्वारा नाटक आगे चलता है। तीनों अपाहिज है। जैसे नाटक प्रारंभ होता है वैसा ही समाप्त भी हो जाता है। नाटक में तीनों पात्रों द्वारा निरर्थक संवाद चलते हैं। तीनों पात्र कोई काम नहीं करना चाहते हैं विघटित परिस्थितियों से ऊबकर जीवन चलाने वाली भारतीय जनता का अलसाई चरित्र नाटककार ने व्यक्त किया है। कल्लू, खल्लू और गल्लू भारतीय जनता के प्रतिनिधि हैं। तीनों पात्रों के माध्यम से नाटककार ने कुछ बुनियादी सवालों को उठाया है जिनका संबंध देश की आज़ादी की अर्थहीनता, भाषणबाज़ी और हिंदुस्तानियों के निक्कमे आलसी स्वभाव के हैं। दोस्ती को 'गाली' माननेवाले तीनों पात्रों के ज़रिए संबंधों की अर्थहीनता उजागर होता है। नाटक के ज़रिए बिना बोये ही फसल काटने के सपने में लगे रहनेवाले भारतीय जनता की मानसिकता व्यक्त करना ही नाटककार का लक्ष्य है।

अन्य असंगत नाटककारों में डॉ. लक्षीकान्त वर्मा ने 'अपना-अपना जूता' के अलावा एक पूरा नाटक 'रोशनी एक नदी है' भी लिखा है। मणिमधुकर का नाटक 'रस गंधर्व', लक्षीनारायण लाल का 'सबरंग मोहभंग', काशीनाथ सिंह का 'घोआस', रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है', 'तीसरा हाथी', 'वामाचार' एवं 'कसे हुए तार' आदि उल्लेखनीय हैं । मुद्रा राक्षस के 'तिलचट्टा', 'तेंदुआ', 'मरजीवा' और 'योर्स

फेथफुली' नाटक कई स्थानों पर खेले गए हैं और प्रकाशित हैं। डॉ. सत्यव्रत सिन्हा का 'अमृतपुत्र' भी एक असंगत नाटक है। सुदर्शन चोपड़ा का 'अपनी पहचान' भी इसी प्रकृति की रचना है।

डॉ. सत्यव्रत सिन्हा द्वारा संपादित असंगत नाटकों के संग्रह 'नवरंग' में विपिनकुमार के तीन नाटक : तीन अपाहिज, यह पूरा नाटक एक शब्द तथा एक स्थिति; शंभुनाथ सिंह का 'दीवार की वापसी', शांति मेहरोत्रा का 'एक और दिन', लक्षीकान्त वर्मा का 'अपना-अपना जूता', राजकमल चौधरी का 'भग्न स्तूप का एक अक्षत स्तम्भ' और भुवनेश्वर के दो एकांकी 'ताँबे के कीड़े', तथा'ऊसर' संकलित हैं।

रामेश्वर प्रेम ने भी हिंदी के असंगत नाटककारों में अपना स्थान पा लिया है। उनके तीन नाटक प्रमुख रूप से इस नाट्यधारा के अन्तर्गत आते हैं - अजातघर, चारपाई और कैम्प।

ब्रजमोहन शाह का प्रमुख असंगत नाटक है 'शाह ये मात' । इसमें आज के व्यक्ति के व्यवहार, महत्वाकाँक्षा, सफलता, असफलता, अनिश्चित भविष्य आदि विसंगतियों को सही ढंग से उभारने का प्रयास किया गया है। सम्पूर्ण मानव जीवन की विवश नियति का ज़िक्र नाटक में है।

इसप्रकार भुवनेश्वर प्रसाद से लेकर जिस नाट्यप्रवृत्ति का प्रारंभ हुआ है वह धीरे धीरे विकसित हुआ, भिन्न पडाओं पर कई नाटककारों ने अपनी देन से उसे समृद्ध किया । पर आहिस्ता वह धारा लुप्त हो गयी। विसंगति का भाव अब भी नाटकों का विषय बनता रहता है चाहे वह समकालीन हो, आधुनिक हो या उत्तराधुनिक। फिर भी इन नाटकों की मूलधुरी के रूप में जो विसंगति बोध उससे उभरा था वह आज भी जारी है। विसंगति मनुष्य मन की एक सच्चाई है और इसका अंकन केवल नाटकों में ही नहीं, उपन्यास, कहानी, कविता आदि विधाओं में भी हुआ है। पर विसंगति एक प्रवृत्ति के रूप में मात्र नाटक के क्षेत्र में उभरा है।

## 4.11 हिन्दी के असंगत नाटकों में प्रयोग

असंगत नाटकों में एक नयी विशिष्टता, नवीनता, जीवन को परखने की एक नयी कसौटी और प्रयोगशीलता के दर्शन होते हैं। किसी सुनिश्चित-सुनिर्धारित सिद्धान्त या आंदोलन के तहत असंगत नाटकों का निर्माण नहीं हुआ है बल्कि जीवन की सारहीनता,

ऊब, संत्रास, निराशा, असंगति एवं विडम्बना को प्रतीकों के माध्यम से हास-परिहास की शैली में प्रकट करने के कारण ही इन नाटकों को असंगत नाटक कहा जाता है।

हिन्दी के असंगत नाटककारों ने परम्परागत नाट्यरूढ़ियों को नकारकार एक नयी नाट्यरीति अपनाने का सफल प्रयास किया है। हिन्दी नाट्य साहित्य में इस प्रयास ने अनेक प्रयोगधर्मी नाटककारों को जन्म दिया। अर्थात् ऐसा कहा जा सकता है कि नये कथ्य और शिल्प के माध्यम से जीवन की विसंगति को प्रस्तुत करने का जो प्रयोगधर्मी मार्ग असंगत नाटककारों ने अपनाया है उसका विश्लेषण कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय धरातल पर करना उचित होगा।

### 4.11.1 कथ्यगत प्रयोग

असंगत नाटक कथानक विहीन होते हैं। उसकी घटनाओं में किसी प्रकार की संगति नहीं होती। इनके चरित्र थके-हारे, ऊबे, निष्क्रिय, विसंगत तथा विक्षिप्त होते हैं। असंगत नाटकों में स्थिति के खोखलेपन और विसंगति को प्रदर्शित करने के लिए असंगत संवादों तथा शब्दों की पुनरावृत्ति का सहारा लिया जाता है। यहाँ केवल समस्याएँ प्रस्तुत की जाती है, उनके समाधान नहीं। अर्थहीनता में अर्थ की तलाश का आग्रह असंगत नाटकों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

असंगत नाटकों के कथ्य पर प्रकाश डालते हुए डॉ. गोविंद चातक ने लिखा है – "वस्तुतः विसंगतिवादी नाटक, स्थितियों का नाटक है, घटनाओं या चरित्रों का नहीं। उसका लक्ष्य कथा कहना नहीं, काव्यात्मक बिम्ब प्रस्तुत करना है। विसंगतिवादी नाटककार मानवीय स्थिती की सही विद्रूपता का दर्शन कराने के लिए प्रायः बिम्बों, दुस्स्वप्नों और अतिकल्पनाओं को माध्यम बनाते हैं और अतिरंजनापूर्ण कथावस्तु, विलक्षण चरित्रों और सनसनीखेज दृश्य-योजना का अटपटा प्रयोग कर पाठक/प्रेक्षक को झटका देते हैं।"[1] कुल मिलाकर इन नाटकों में व्यंग्य और कारुण्य के रसात्मक तत्वों का समावेश मिलता है जो भय और त्रास का अनुभव देते हैं। जीवन की विभिन्न असंगतियों के माध्यम से मानव नियति की त्रासदी उभारना ही इन नाटको का कथ्य है ।

भुवनेश्वर के 'ऊसर', 'ताँबे के कीडे', विपिनकुमार अग्रवाल के 'लोटन', 'तीन अपाहिज' से लेकर हिन्दी के लगभग सारे असंगतनाटक कथाविहीन है। ऊसर में जीवन

---

[1] गोविन्द चातक- रंगमंचः कला और दृष्टि, संस्करण.1998, पृ.123-124

का ऊसरपन दिखाया गया है। ट्यूटर के गृहस्वामी की प्रतीक्षा से शुरू होकर अन्त भी उसी प्रतीक्षा में समाप्त हो जाती है। विपिनकुमार अग्रवाल के तीन अपाहिज में कल्लू खल्लू और गल्लू का किसी की प्रतीक्षा करना अन्त तक चलता है। पात्रों के इधर उधर आ जाने के अलावा कुछ भी नहीं होता है। 'तीन अपाहिज' में संकलित पूरा नाटक कथा विहीन है। नाटक में 'कुछ भी नहीं होता, कोई भी नहीं आता' का भाव पाठकों के दिल में आश्चर्य पैदा करते हैं।

असंगत नाटकों में जीवन की नकारात्मक दृष्टि को प्रयोगात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मूल्यों के प्रति उपेक्षा का भाव भी सभी असंगत नाटकों में पाया जाता हैं। संक्षेप में असंगत नाटक परम्परागत नाटकों की तरह कथामय नाटक न होकर अनुभव से स्वतः गुज़रने के नाटक हैं।

### 4.11.2 शिल्पगत प्रयोग

हिन्दी के असंगत नाटककारों ने हिन्दी नाट्यधारा में एक नये शिल्प का सूत्रपात किया। डॉ. भानुदेव शुक्ल ने लिखा है- असंगत नाटकों का शिल्प नाटकों के अन्तरंग से जुडा हुआ है। असंगत का शिल्प स्थूल बाह्य का नहीं अन्तर्मन की जटिल बुनावट की अभिव्यक्ति का व्यंजनात्मक शिल्प है।

असंगत नाटकों के शिल्पगत प्रयोग की एक विशेषता है उनके पात्र और चरित्र सृष्टि। विसंगत नाटकों में पूर्ववर्ती नाटकों की तरह न नायक होता है न नायिका। इसमें चरित्रों की कोई सुनियोजित लक्ष्य या विकास नहीं होता। एब्सर्ड नाटकों के पात्र अतिभावुक और अतिनाटकीय भी होते है। पात्रों को प्रतीक बनाकर ये नाटककार जीवन की विसंगति दर्शाते हैं। पात्रों का नामकरण इसलिए आवश्यक नहीं रह गया है। पात्र अधिकतर उचक्के, आवारा, बेघर, तथा समाज से बहिष्कृत होते हैं।

विपिनकुमार अग्रवाल के 'तीन अपाहिज' के तीनों पात्र कल्लू, खल्लू और गल्लू भी ऐसे ही पात्र है। तीनों अपाहिज हैं। परम्परागत चरित्रसृष्टि से भिन्न तीन अपाहिजों को नाटक के पात्र बनाकर नया प्रयोग किया गया है। तीनों गतिहीन हैं और ज़िन्दगी से काफी ऊब चुके हैं। इधर से उधर सरकने के अलावा तीनों का कोई काम नहीं है। पात्रों के ज़रिए नाटककार ने समाज के साधारण लोगों की विसंगतियों को उभारने का प्रयास किया है। बेरोज़गारी, गरीबी, जीवन की अर्थहीनता आदि से पीडित ये सारे पात्र अपाहिज

मानसिकता व्यक्त करनेवाले आधुनिक समाज के प्रतिनिधि हैं। नाटककार ने इन पात्रों के माध्यम से जीवन की अर्थहीनता पर प्रश्नचिह्न लगाया है।

एक ही वर्गविशेष के अनेक पात्रों के नामकरण के लिए 1,2,3 डाला गया है। 'योअर्स फेथफुली' में क्लर्क एक, क्लर्क दो, क्लर्क तीन, 'बोलो बोधिवृक्ष' में नकाब एक, नकाब दो, 'रोशनी एक नदी में' व्यक्तियों को पहला, दूसरा, तीसरा नाम दिया गया है। स्वराक्षरों और व्यंजनाक्षरों से भी पात्रों का नामकरण किया गया है। जीवन की अर्थहीनता प्रकट करने केलिए ही ऐसी युक्ति का प्रयोग किया गया है। नामकरण में पशु प्रतीकों को उभारने वाला नाटक है हमीदुल्ला के 'दरिन्दे'। इसके पात्र शेर, भालू, लोमडी आदि हैं जो आज के मनुष्य की पाशविक वृत्ति का प्रतीक हैं।

असंगत नाटकों में परम्परागत नाट्यभाषा से भिन्न एक नवीन नाट्यभाषा खोजने का प्रयास किया गया है। असंगत नाटकों की भाषा की प्रमुख विशेषता है हरकत की भाषा । आंगिक चेष्टाओं द्वारा वार्तालाप, असंगत नाटकों की विशेषता है। भुवनेश्वर की नाट्यभाषा पर विपिनकुमार अग्रवाल ने ऐसा लिखा भी है- "हरकत की भाषा के महत्व को जितने गहरे ढंग से भुवनेश्वर ने समझा है उतना उनके समकालीन लेखकों में से किसी ने नहीं समझा। उनकी हरकत की भाषा को बिना पहचाने उनका नाटक अजीब, शिथिल और निरर्थक लग सकता है पर एकबार इससे अवगत हो जाने पर सबकुछ कसा हुआ, माने से भरा हुआ, आवश्यक और बिल्कुल सही लगने लगता है। यदि सही भाषा का चुनाव किसी कृति की सफलता का मानदण्ड माना जाए तो ताँबे के कीडे एक अद्वितीय रचना है।"[1]

"परेशान रमणी : रिक्शेवाले, जल्दी से चलो। साहब की तबियत ठीक नहीं है।

रिक्शेवाला : (घंटी बजाता है, जैसे अभी जगा है)

मसरूप पति : वहाँ दूर ऊनी बादलों में ।"[2]

नाटक में झुनझुना बजना, रिक्शे की घंटी, चौंकना, हँसना आदि हरकतों से ही भाव स्पष्ट हो जाता है। डॉ. ममता ने असंगत नाट्य की भाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है - "मणिमधुकर तथा मुद्राराक्षस जैसे एब्सर्ड - परंपरा के नाटककारों ने फूहड़ उक्तियों, भोंडे शब्दों, अश्लील संकेतों तथा बेतरतीब संवादों का प्रयोग किया है। जगह-

[1] भुवनेश्वर- कारवाँ तथा अन्य एकांकी- विपिनकुमार अग्रवाल- भूमिका, संस्करण.1994.

[2] भुवनेश्वर- कारवाँ तथा अन्य एकांकी-ताँबे के कीड़े- संस्करण.1994 पृ.162

जगह निरर्थक तथा अंतर्विरोध संवादों को नाटककार ने जीवन की विसंगति, अर्थहीनता, तथा विडंबना दिखाने के लिए ही किया है। हाँ, एकाध जगह चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति, नाटक के प्रभाव में बाधक ज़रूर बनती है यथा

"ग - प - ज - ह - ल - रोटी।
म - च - ख - र - क - ट - दाल।
प - झ - द - थ - न - ड - वर्दी
ढ़ - छ - ड - भ - त - श - ढाल बस्तर और भोपाल।
(रस गंधर्व - उत्तरार्द्ध)"[1]

### 4.11.3 रंगमंचीय प्रयोग

असंगत नाटकों की मंचीयता पारम्परिक नाटकों से काफी भिन्न है क्योंकि हरएक रचनाकार अपनी परिस्थितियों या परिवेश से काफी प्रभावित रहता है। विभाजन द्वारा जनता पर लाया गया विसंगतिबोध कथ्य में ही नहीं बल्कि रंगशिल्प के क्षेत्र में भी बदलाव लाया।

असंगत नाटककार परम्परागत मंच-सज्जा की औपचारिकताओं में विश्वास नहीं करते। रंगसज्जा की सुघड़ता और वेशभूषा की चमक-दमक को इन नाटककारों ने बहिष्कृत किया। जीवन की मूलभूत असंगतियों की अभिव्यक्ति के लिए इन्होंने सांकेतिक प्रणाली को अपनाया। इनकी मंच-सज्जा साधारण एवम् असम्बद्ध होती है। इनका मंच प्रतीकात्मक, ऊलजलूल तथा अल्पव्यय वाला होता है। असंगत नाटककार दर्शकों और पात्रों के बीच विशेष दूरी नहीं रखता। अनकहे अर्थ को उजागर करने में इस रंगमंच ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

भुवनेश्वर के 'ताँबे के कीडे' में मंच व्यवस्था भिन्न ढंग से की गई है। मंचपर एक कालास्क्रीन खडा कर दिया गया है। जब कभी अनाउसर को कुछ बोलना है तो वह कालास्क्रीन के बाहर आकर कहता है। जब भी अनाउंसर संवाद करता है तो स्क्रीन के पीछे से उसकी प्रतिध्वनियाँ सुनायी पडती हैं। संवाद के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने

[1]डॉ.रमेश गौतम (सं) - दिल्ली का हिंदी नाटक और रंगमंच - डॉ.ममता-दिल्ली के आपातकाल : परवर्ती हिंदी नाटक, प्र.सं. 2000 , पृ. 174

केलिए स्त्रीपुरुष के एकाकी या सम्मिलित आवाज़ें सुनायी पडना मंच के क्षेत्र में एक नया प्रयोग हैं।

विपिनकुमार अग्रवाल के 'तीन अपाहिज' की मंचव्यवस्था भुवनेश्वर के नाटकों से काफी भिन्न है। इस नाटक केलिए मंच की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यह सडक में भी खेला जा सकता है। यह एक अंक वाला नाटक है। मंच पर केवल तेल के खंभे का चित्रण है जहाँ नीचे कल्लू,खल्लू और गल्लू तीन आवारा बैठे हुए है। इस नाटक में वास्तव में यथार्थवादी रंगमंचीय परम्परा को तोडकर साधारण मंचसज्जा तैयार की गई है। बँधे बँधाए धरे से काफी भिन्न ढंग से मंच का प्रस्तुतीकरण हुआ है।

ये नाटककार मूक अभिनय को अधिक महत्व देते हैं। रंगमंच की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी अर्थ से जुड़ी होती है। प्रायः एक ही दृश्यबँध पर समस्त नाटक अभिनीत होता है। दृश्य-परिवर्तन के अन्तराल या पर्दों की भरमार यहाँ नहीं होती। इन नाटकों का कथ्य अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण इनमें ध्वनि-प्रकाश योजना का भी प्रतीकात्म प्रयोग किया जाता है। डॉ.गोविन्द चातक के अनुसार-"हावभावों, वाग्व्यवहारों और शारीरिक चेष्टाओं का भाषिक अभिव्यक्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। वस्तुतः मंच के लिए ऐसी भाषा अपेक्षित है जो हरकत, क्रिया-व्यापार, गीत, हाव-भाव, चेष्टा आदि भाषेतर माध्यमों से जुड़ी हो।"[1] इसप्रकार हिन्दी असंगत नाटककारों ने रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में भी क्रांतिकारी परिवर्तन करने की कोशिश की है।

हिंदी में असंगत नाटकों की संख्या सीमित है। फिर भी परवर्ती पीढ़ी के नाटककारों ने अवश्य इससे प्रेरणा ग्रहण की है। इस नव औपनिवेशिक दौर में जीने, साँस लेने और कुछ भी कहने में जो विसंगति तथा अर्थहीनता का खतरा लटक रहा है, विसंगत नाटक इसकेलिए एक चेतावनी है। असंगत नाटक जीवन का नकार नहीं बल्कि यह नए क्षितिज की तलाश है।

आगे चार असंगत नाटकों को इन्हीं प्रयोग धरातलों के आधार पर विवेचन-विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

## 4.12 विपिनकुमार अग्रवाल : लोटन

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक साहित्य में भुवनेश्वर के बाद असंगत नाट्यपरम्परा में अपना महत्वपूर्ण योगदान देकर इस विधा को पुनः प्रतिष्ठित करने का कार्य विपिनकुमार

[1] डॉ. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना, प्र. सं. 1982, पृ.26

अग्रवाल ने किया। उनके लिखे नाटकों में 'तीन अपाहिज', 'लोटन', कूडे का पीपा', 'ऊँची-नीची टाँगों का जांघिया' तथा 'खोये हुए आदमी की खोज' नामक एकांकी संकलन में संग्रहित पाँच एकांकी नाटक उल्लेख्य हैं। लोटन एक प्रयोगधर्मी नाटक है जिसमें वर्तमान समय की अव्यवस्था को दर्शाया गया है। प्रयोग की दृष्टि से इस नाटक के कथ्य, शिल्प और रंगमंचीय स्तर पर बडे ही आकर्षक प्रयोग हुए हैं।

### 4.12.1 कथ्यगत प्रयोग

रोज़ की ज़िन्दगी में बढ़ते हुए औद्योगीकरण के बीच आदमी किस तरह चारों दिशाओं में व्याप्त असंगतियों से घिरा हुआ है और उसी स्थिति में जीने के लिए विवश है, यही 'लोटन' नाटक के द्वारा नाटककार कहना चाहता है। पूरे नाटक का स्थान एक डाकघर है जिसका ताला भी आसानी से नहीं खुलता और जहाँ आवश्यक वस्तुओं की कमी है। किशोर और मालती अपने उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन हैं। मालती अपने सपनों में खोयी रहती है तो किशोर क्षुब्ध रहता है, वह परिवर्तन चाहता है। बड़े बाबू ने अव्यवस्था को ही स्वीकार लिया है। लोटन एक काला, नाटा, अशिक्षित लेकिन सीधा-सरल ग्रामीण है जो डाकगाड़ी और डाकघर में अन्तर नहीं कर पाता। ट्रेन का प्रयोग इस नाटक में हमारी व्यवस्था की कार्य प्रणाली के रूप में एवं डाकगाड़ी का प्रयोग विचार और सूचनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक अर्थात् उच्च अधिकारियों से लेकर निम्न वर्गीय लोगों तक और फिर जनसाधारण तक पहूँचने के रूप में हुआ है। ट्रेन का बार-बार आना-जाना व्यवस्था का परिवर्तन है। परिवर्तन सबको प्रभावित करता है, कोई उससे बच नहीं सकता। लोटन जैसा आम आदमी व्यवस्था परिवर्तन को सहज रूप में स्वीकार कर लेता है। तभी वह हँसता और मुस्कुराता है तथा उठ्ठक-बैठक लगाने लगता है।

'लोटन' नाटक के संबन्ध में डॉ. नरनारयण राय का कथन है -"जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यन्त्रों की उपस्थिति अनिवार्य होती गई है और इसप्रकार यांत्रिक सभ्यता का विकास और निर्माण संभव हुआ है। फलतः जीवन में यांत्रिक विसंगतियाँ भी आई हैं और शोषण की नयी यांत्रिक विधियाँ काम में लाई जाने लगी हैं। लोटन उसी विसंगति का परिचायक है। जब यांत्रिकता का जीवन की स्वाभाविक गतिविधियों पर नियन्त्रण हो जाए तो आश्चर्य नहीं कि रेलगाडी पटरी से उतरकर शहर में गश्त लगाने लगे। तब उसकी

चपेट में न जाने कितने लोग आ जाते हैं, मालती, बडे बाबू लल्लू और किशोर की तरह। मानवीय मुल्यों के विध्वंस के इस मलबे के बीच भी तब कुछ ऐसा होता है जो बचा रहता है, लोटन की तरह जहाँ से एकबार आदमी फिर नये सिरे से सबकुछ शुरू करता है। अशेष 'लोटन' मनुष्य जाति की वह अदम्य जिजीविषा है जो हममें, हर विपरीत परिस्थिति में नवजीवन के प्रति आस्था का संचार करती है।

इसप्रकार देश की स्थिति, अंधकारमय भविष्य, व्यवस्था के दोष, व्यवस्था से जुड़े लोगों के स्वार्थ आदि के विभिन्न संकेत देते हुए विपिन कुमार अग्रवाल ने अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है। इस नाटक के कथ्य और शिल्प के स्तर पर जो प्रयोग हुए है, वही इस नाटक की मौलिकता प्रमाणित करते हैं।

### 4.12.2 शिल्पगत प्रयोग

लोटन असंगत नाट्य शिल्प का उदाहरण है। इसमें कथानक का अभाव, घटनाओं के निरूपण में न्यूनातिन्यूत क्रियात्मकता, कार्य व्यापारों का सायास अभियोजन जिसके अपने निश्चित और प्रतीकात्मक अर्थ हैं, भाषागत दुरुहता, संवादों के बीच अर्थापन की दृष्टि से असंबद्धता, एवं ऐसी अन्य रंगयुक्तियों का प्रयोग किया गया है जिनसे असंगति का बोध, व्यर्थता का अहसास, ऊबाऊपन और संत्रास का अनुभव प्रकट होता है।

उनके पात्र शाब्दिक अभिव्यक्ति की अपेक्षा अपने कार्य-कलापों या चेष्टाओं के द्वारा विसंगति का अनुभव कराते हैं। उदाहरण के लिए 'लोटन' के प्रारंभ में डाक घर के दृश्य में डाकिये की चेष्टाओं का यह वर्णन : "डाकिया लल्लू, उम्र पचास वर्ष, कुछ गुनगुनाता हुआ चिट्ठियों का झोला लटकाये आता है और दरवाज़े के पास पसरकर बैठ जाता है। बंद ताला छूकर देखता है। खुश होता है। उठकर जेब में हाथ डालकर एक बड़ा-सा चाभी का गुच्छा निकालता है। गुच्छे को देखकर खुश होता है। फिर बैठ जाता है। ताले को देखता है, फिर गुच्छे को देखता है।..... नयी तर्कीब सूझ आने का भाव चेहरे पर लाता है। जोश में खड़ा हो जाता है। चाभी का गुच्छा अपने कान से छुआकर ज़मीन पर गिराता है। हाथ जोड़कर 'जै हनुमान' कहता है। एक पैर बढ़ाकर एक चाभी दबाकर उठाता है। उस चाभी को हाथ में लेकर ताले में लगाता है। चाभी नहीं लगती। दरवाज़े पर हताश झुक जाता है।'[1]

---

[1] विपिन कुमार अग्रवाल-लोटन, प्र.सं.1974, पृ.2-3

विपिन हिंदी के उन नाटककारों में उल्लेख हैं जिन्होंने परंपरागत नाटक की कृत्रिम और रूमानियत से भरी हुई भाषा को छोड़कर नाटक और रंगमंच की एक ऐसी भाषा विकसित करने का प्रयास किया है जो सीधे जीवन से मुठभेड़ कर सके। शिल्प के स्तर पर पात्रों की प्रतीकात्मकता नाटक की मूल प्रवृत्ति है। 'लोटन' नाटक में लोटन जड मनुष्य का प्रतीक है तो डाकघर जडता के परिवेश का और डाकगाडी जनआन्दोलन का प्रतीक है।

### 4.12.3 रंगमंचीय प्रयोग

'लोटन' नाटक, मंच की पूर्वागत अवधारणा का खण्डन करता है। मंच के बन्द ढांचे को अस्वीकार करता है। मंच को किसी बेतुकी और अर्थहीन स्थिति से और विसंगत कथानक से जोड़ता है। इस नाटक के माध्यम से नाटककार एक ओर तो सड़क नाटक, घटना नाटक और एण्टी नाटक के लिए ज़मीन तैयार करने की कोशिश करता प्रतीत होता है तो दूसरी ओर भिन्न-भिन्न रुचि, दृष्टि और लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए नाटक प्रस्तुत करने वालों को मंच व्यवस्था की सारी छूटें भी देना चाहता है। लोटन नाटक को इस अर्थ में एक नया रचनात्मक प्रयास और एक नवीन प्रयोगशील दृष्टि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि अभी तक के नाट्य लेखन की पृष्ठभूमि में ये बातें कुछ नयी महसूस होती हैं।[1]

इसप्रकार विपिनकुमार का यह नाटक असंगत नाटक का एक परिपक्व उदाहरण होने के कारण पारंपरिक नाट्य लेखन की श्रृंखला में शैली, शिल्प और कथ्य के स्तर पर नया और प्रयोगशील नाटक साबित होता है।

## 4.13 मुद्राराक्षस : तेंदुआ

मुद्राराक्षस ने अपने सभी नाटकों में विसंगत नाटकों की शैली और तकनीक का भरपूर उपयोग किया है। उनके नाटकों की विषयवस्तु सामाजिक व्यक्तिवादी तथा मनोवैज्ञानिक है किंतु उनके नाटकों की चर्चा विसंगत नाट्य-परंपरा से अलग रखकर नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से मुद्राराक्षस के चार नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं : 'मरजीवा', 'योर्स फेथफुली', 'तिलचट्टा' तथा 'तेंदुआ' आदि।

मुद्राराक्षस का तेंदुआ (1973) नाटक सुविधाभोगी उच्च वर्ग की क्रूरता, अमानवीयता, यौनविकृति एवं काली करतूतों से परिचित कराता हुआ आम जनता के शोषण, संत्रास, घुटन और कष्टपूर्ण यातनामय जीवन को उजागर करता है।

---

[1] नरनारायण राय – नाटकनामा, प्र.सं 1993, पृ. 59

### 4.13.1 कथ्यगत प्रयोग

यह नाटक वस्तुगत प्रयोगों की दृष्टि से आकर्षित करता है। काम, विकृति और कुंठाओं का रेनू राय और मिसेज मदान जैसी भद्र महिलाओं में चित्रण करते हुए उसने काम संबंधों की विकृतियों और विसंगतियों को उभारते हुए सामाजिक परिपेक्ष्य में उपयोग किया है। गिरीश रस्तोगी के शब्दों में –"'तेंदुआ' का कथ्य और प्रतीकात्मकता अलग प्रकार की नहीं है। उसमें 'तिलचट्टा' जैसा ही वितृष्णापूर्ण भय, आतंक, जंगलीपन का अनुभव होता है। यह भी काम संबंन्धों की विकृतियों, कुंठाओं को सामने लाता हुआ भद्रलोक के रोमांस की अस्वाभाविकता संकेतित करता है।"[1] 'तेंदुआ' सभ्यता और संस्कृति के विकास के बाद भी मनुष्य में रहनेवाली पशुता का प्रतीक है। वस्तुतः शोषणकारी या दमनकारी शक्तियों के तंत्र को उजागर करने के लिए यौन-प्रतीकों का उपयोग हिंदी नाट्य-साहित्य में मुद्राराक्षस ने ही अपने निराले ढंग से किया है और इस दिशा में यह नाटक एक उल्लेख्य प्रयोग है। निम्न वर्ग का मनुष्य यहाँ एक खिलवाड़ का साधन बनकर रह गया है। इस प्रकार यह नाटक सुविधाभोगी समाज के उपभोक्तावादी मूल्यों का उनकी पराकाष्ठा में चित्रण करता है। इस चित्रण में अतिरंजित यथार्थ के उपयोग के कारण प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गया है।

### 4.13.2 शिल्पगत प्रयोग

मुद्राराक्षस के नाटक मुख्यतः 'एब्सर्ड' नाट्य-शिल्प के अनुसार लिखे गये हैं। मुद्राराक्षस जिस प्रकार की घटनाओं, स्थितियों तथा पात्रों की पराजित उत्पीड़क, सनकपूर्ण विसंगत मनः स्थितियों से अपने नाटकों की रचना करते है, उनमें एक ओर हिंसा, सेक्स और आत्महत्या का जोर है; दूसरी ओर शिल्प के स्तर पर फंतासी, अतिनाटकीयता, हास्य-व्यंग्य और बेतुकेपन की भरमार। कथ्य और शिल्प दोनों के स्तर पर वे कुछ ऐसा प्रयोग करते हैं कि उसमें उनके नाटकों की भंगिमा विशेष महत्व अर्जित कर लेती है। इसीलिए एक आलोचक ने उन्हें 'मुद्राओं का राक्षस' कहा है।[2]

मुद्राराक्षस के 'तेंदुआ' नाटक में रेनुराय और मिसेज़ मदान को सभ्यता की शर्तें तोड़कर अनैतिक आचरण करनेवाली नारियों के रूप में प्रस्तुत किया है। दोनों कामविकृति की शिकार हैं। पात्रों के आचरण के द्वारा वर्ग संस्कार को उजागर करना चरित्रचित्रण की नवीनता है।

---

[1] गिरीश रस्तोगी- समकालीन नाटककार, प्र.सं. 1982, पृ.108

[2] डॉ. गोविन्द चातक - आधुनिक हिन्दी नाटक : भाषिक और संवादीय संरचना, प्र. सं. 1982, पृ.26

साहित्यक और रूढ़ भाषा के स्थान पर 'हरकत की भाषा' का उपयोग, अतिरंजित यथार्थ और फेटेंसी का प्रयोग, पशु-प्रतीकों का उपयोग और संवादों की विशिष्ट योजना जैसे कई प्रयोग विसंगति बोध की प्रक्रिया को तीव्रता देने के लिए किया गया है। तेन्दुआ प्रतीक को भी उन्होंने दोहरे स्तर पर लिया है-यौन संबन्धों की कुंठा, विकृति, हिंसक भावना दिखाने के लिए भी और वर्ग विशेष की प्रतिहिंसात्मक, विकारग्रस्त, घृणित, कुंठित मनोवृत्ति और संस्कार दिखाने के लिए भी। इस नाटक में न घटनाएँ हैं और न ही पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ और सूक्ष्मताएँ। इसीलिए द्वन्द्व, मानवीय संवेदना, उतार-चढ़ाव, संवाद, संवादों की टकराहट यहाँ नहीं है। मुद्राराक्षस ने स्वयं कहा है-"तेन्दुआ का गठन मूलतः संबोधनधर्मी संवादों से रहित है। अधिकांश हिस्सा एकालयों, स्वगतों और सम्मतियों का एक कोलाज है।[1] नाटक का पहला और तीसरा अंक इसी प्रकार कोलाज शैली के उदाहरण है। संवाद लगातार एक स्थिति का आभास कराते हुए हैं। रेनु राय जिसके माध्यम से भद्रलोक के रोमांस, काम-संबन्धों, कुण्ठा, ब्रूट की तलाश दिखायी गयी है , वह हमेशा एक ही प्रकार के विशिष्ट भद्रलोक की भाषा लिए, अस्वाभाविक मनस्थिति के वाक्य स्वगत बोलती है। जैसे.. हर बार स्पलैंडिड। इसका टेक्श्चर कितना खूबसूरत है।.....आई लाइक गरीबी, यू नो।.....आई लाइक दीज़ पीपुल । गरीब, टूटे, बीमार, असहाय, रफ....इसतरह टार्चर की डिवाइस की खोज से संबन्धित संवाद चलते रहते हैं। सभी पात्र एक ही भाषा बोलते हैं किन्तु उनकी भाषा का स्वभाव, उसकी बनावट, उसका रचाव भिन्न-भिन्न है जो पढ़ते ही महसूस होता है। नाटक का पहला और तीसरा अंक काफ़ी तीखे हैं और हमारे अनुष्ठान पर, संस्कारों पर गहरी चोट करते हैं। दूसरी ओर एक लोकगीत की दो पंक्तियों का प्रयोग भी सार्थक ढ़ंग से किया गया है। इसतरह तेन्दुआ कहीं एक भयानक नाटक लगता है तो कहीं नये-नये प्रयोगों और कुछ असाधरण ढ़ंग से कहने का नाटक भी लगता है।

### 4.13.3 रंगमंचीय प्रयोग

असंगत नाटकों की मंच-सज्जा भव्य-दिव्य या तड़क-भड़क न होकर सीधी-साधी, यथार्थवादी, कलात्मक और प्रतीकात्मक है। उनके नाटकों के अधिकांश पात्र वर्ग विशेष के प्रतिनिधि पात्र हैं और उनकी वेशभूषा भी तदनुकूल है। बोरे के थैले-से कपड़ों का

---

[1] मुद्राराक्षस -तेन्दुआ- स्वगत, पृ . 18

इस्तेमाल वेशभूषा की दृष्टि से एक अभिनव प्रयोग है। मानव जीवन की असंगतियों को व्यक्त करना ही उनके असंगत नाटकों का प्रमुख उद्देश्य होने के कारण इन पात्रों के अभिनय के लिए कुशल अभिनेता और अभिनेत्रियों की ज़रूरत है। 'तेन्दुआ' नाटक में माली का मूक अभिनय कोई कुशल अभिनेता ही मंच पर प्रस्तुत कर सकता है।

'तेन्दुआ' की मंचीय प्रस्तुति के बारे में डॉ. चन्द्र की राय है – " नाटक में टार्चर का स्वरूप भारतीय कम, पाश्चात्य अधिक है। यही कारण है कि यह नाटक मंचन की दिशा में सफल नहीं हो सका।"[1] इसके विपरीत परमानन्द श्रीवास्तव की इसके मंचीय प्रस्तुति के बारे में राय है- "पूरा नाटक सक्रिय उत्तेजना से भरा रहता है। अतिरंजना भी अप्रासंगिक नहीं है। अतिसाहसिकता के लिए ही नहीं, सार्थक प्रयोग केलिए इस नाटक की चर्चा नए नाटकों की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियों में की जाएगी।"[2] 1976 में 'अभिनय' द्वारा जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय में विभूति झा तथा असद जैदी के निर्देशन में हुई 'तेन्दुआ' की सफल नाट्य-प्रस्तुति इसकी मंचीय संभावना को उजागर करती है।[3]

## 4.14 लक्ष्मीकांत वर्मा : रोशनी एक नदी है

नयी कविता के सशक्त कवि और समीक्षक के रूप में ख्यातिप्राप्त लक्ष्मीकांत वर्मा का प्रमुख असंगत नाटक है 'रोशनी एक नदी है'। उनके अन्य नाटक हैं -सीमान्त के बादल, अपना अपना जूता, ठहरी हुई ज़िन्दगी आदि। लक्ष्मीकांत वर्मा का 'रोशनी एक नदी है' नाटक हिन्दी नाटक को न केवल देश की समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक विसंगतियों से जोड़ने में सफल रहा बल्कि शिल्पगत नवीनता और विसंगति के नाटक की धारा को समृद्ध करने में भी सार्थक रहा। आज के जीवन में व्याप्त विसंगतियों का चित्रण करने और आज के सन्दर्भ में ज्वलन्त प्रश्न उठाने और बिना कोई समाधान दिये पाठक-दर्शक को सोचने पर विवश कर देने वाले नाटक के रूप में यह नाटक एक नवीन नाट्य प्रयोग है।[4]

---

[1] नरनारायण राय (सं)- असंगत नाटक और रंगमंच -डॉ.चंद्र-असंगत नाटक और रंगमंच लेख, प्र. सं 1981, पृ.136

[2] परमानंद श्रीवास्तव- 'आवेग' (मुद्राराक्षस के 'तेन्दुआ' नाटक के फ्लैप से उद्धृत)

[3] डॉ. जयदेव तनेजा- समसामयिक हिंदी नाटक और रंगमंच, प्र. सं. 1978, पृ.108

[4] गिरीश रस्तोगी - समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना, प्र. सं 1990, पृ.134

### 4.14.1 कथ्यगत प्रयोग

सामान्य जीवन की सभी समस्याओं को 'रोशनी एक नदी है' में व्यक्त किया गया है। पूरा नाटक भीड और शोर का चित्रण करते हुए उसमें फँसे आदमी की खोज करता है। डॉ. नरनारायणराय लिखते हैं – "हमारे चारों ओर विभिन्न विसंगतियाँ छाई हुई हैं। भीड़, जुलूस और जमघट दिखायी देते हैं- पर आदमी, मनुष्यता की पहचान खो गई है। राजनीति ने बडे बडे अर्थहीन नारे उछाले हैं, पर लोग उससे उदासीन हैं क्योंकि वह नारे उसकेलिए अर्थहीन हैं। न तो आदमी और आदमी के बीच फर्क किया जा सकता है न आदमी और जानवार के बीच। मूल्य इतने बदल चुके हैं कि 'बाइबल' और 'पोनोग्राफी' में अन्तर नहीं रह गया है। पारम्परिक मूल्य ध्वस्त हो चुके हैं। नया मूल्य तय नहीं हो पा रहा है। जीवन के भीतर और जीवन से बाहर कहीं कोई संगति शेष नहीं रह गई है- 'रोशनी एक नदी है' इसका एहसास कराता है।"[1]

'रोशनी एक नदी है' समाज की समस्याओं को आमूल चूल बदलने की कोशिश है। नाटक में जुलूस और आन्दोलन उसकी निरर्थकता व्यक्त करते हैं। दो ही पात्र लड़का और लड़की विभिन्न भूमिकायें करते हैं। वही बाद में नीरुत और कुमकुम बन जाते हैं। इनकी बातचीत से कई विसंगतियों का चित्रण किया गया है – पुलिस में भ्रष्टाचार, गुण्डागर्दी आदि। लड़के-लड़की की बातचीत से ही चारों तरफ व्याप्त स्थिति के संकेत दिये गए हैं। विसंगतियों का चित्रण करने केलिए नाटककार के पास बहुत से आधार हैं। हाल के अन्दर से 'इन्कलाब'... के नारे, झंडे, गरीबी, भुखमरी, अकाल, अपमान, मौत के सवाल, शोर ही शोर उठता है और सारी विडम्बना को मूर्त करता रहता है।

### 4.14.2 शिल्पगत प्रयोग

नाटक के प्रयोगशील पक्ष को स्पष्ट करते हुए सिद्धनाथ कुमार लिखते हैं कि नाटककार ने कतिपय आकर्षक प्रयोग किए हैं तथा, कहीं संकेतों में अभिनय की व्यवस्था, कहीं मुखौटे का विधान, कहीं दर्शकों को अभिनय में शामिल करने का प्रयत्न, व्यक्ति और प्रतीक के स्तर में परिवर्तन की स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष सूचना। सिद्धनाथ कुमार के अनुसार ये

---

[1] नरनारायण राय- नया नाटक : उद्‌भव और विकास, प्र.सं.2001, पृ.125

सभी नये प्रयोग हैं ऐसा दावा नाटककार का नहीं, पर ये प्रयोग सार्थक एवं प्रभावपूर्ण अवश्य हैं।[1] नाटक में शिल्प के धरातल पर एक प्रयोग यह भी है कि पूरा नाटक एक अंक में ही समाप्त होता है और प्रकाश द्वारा दृश्य परिवर्तन की सूचना दी जाती है। पारम्परिक नाटकों में नाटककार अपनी बात कहने के लिए शब्दों का पात्रों के संवादों का सहारा लिया करता था जबकि नये नाटकों में वह काम स्थितियों के चयन, स्थितियों के पारम्परिक संघर्ष और घटना-दुर्घटना द्वारा अधिक सांकेतिक सक्रिय एवं नाटकीय विधि से कही जाती है, यथा 'रोशनी एक नदी है'।[2]

नाटककार ने ऐसे पात्रों को माध्यम बनाया है जो समस्त विसंगतियों के बीच जीते हुए भी, प्रचलित मूल्यों को निर्ममता से तोड़कर एक नये स्वरूप को उभार कर सामने आते हैं। इस नाटक के सभी पात्र विसंग्त हैं। जो बातों-बातों में एक बात को बार-बार दुहरा कर विसंगति को जन्म देते हुए अनजाने ही जीवन के गूढ़ रहस्यों की ओर संकेत करते हैं। क्रेक के शब्दों में : "हम लोग इस चुकी हुई दुनिया के हैं, जो अब नहीं हैं।.... बार-बार यहाँ से उठते हैं...और फ़िर जैसे यहीं फेंक दिये जाते हैं।"[3] ये चारों पात्र हमारे समाने एक चौराहे के प्रतीक के रूप में आते हैं। जहाँ चार रास्ते चार अर्थ देते हैं सही रास्ता सत्य के माध्यम से ही खोजा जा सकता है पर सच के सामने अंधा, गूँगा, बहरा हो जाना व चौथे का रोशनी की नदी में डूब जाना – यह स्थितियाँ हमारे जीवन की उन समस्याओं को प्रकट करती हैं जिनका कोई समाधान नहीं मिलता। यहीं पर हम नाटककार को ब्रेख्त की विचारधारा से प्रभावित अनुभव करते हैं, जो समस्याओं को प्रस्तुत करने में विश्वास रखते हैं उनका समाधान ढूँढ़ने में नहीं। नाटक का चरित्र शिल्प विसंगत नाट्य-परंपरा से प्रभावित है। स्वभावतः यहाँ पात्र प्रधान न होकर 'तलाश' ही मुख्य है। वस्तुतः अर्थहीन शोर-शराबे में प्रकाश देने वाले कुछ जीवंत शब्दों की तलाश ही नाटक का प्राण है। शोरगुल के लिए कई आधुनिक तकनीक प्रयोग किये हैं।

एक प्रयोग रूप में इस नाटक का जिस बिन्दु से आरंभ हुआ है वही उसकी समाप्ति होती है। यह वृत्त एक शाश्वत चक्र का प्रतीक है जहाँ पर समाप्ति का एक नया आरंभ जनम लेता है। नाटककार विसंगत में संगति की तलाश को व्यर्थ नहीं मानता।

---

[1] सिद्धनाथ कुमार - साहित्याब्दकोश प्र.सं. 1974, पृ.149

[2] गिरीश रस्तोगी - समकालीन नाटककार – प्र.सं. 1982, पृ.169

[3] लक्ष्मीकांत वर्मा- रोशनी एक नदी है, प्र.सं.1974, पृ.112

इस दृष्टि से पाश्चात्य विसंगत नाट्य-परंपरा से उसकी दृष्टि भिन्न हो जाती है जो कि उनकी प्रयोगधर्मिता का सूचक भी है।

### 4.14.3 रंगमंचीय प्रयोग

इस नाटक में दृश्य परिकल्पना नाटक के कथ्य के अनुरूप सांकेतिक और प्रतीकात्मक ही है। लैम्पपिस्ट और कूड़े के डिब्बे से अनेक प्रतीकात्मक स्थितियाँ, दृश्य-संकेत, अर्थ-संकेत उभरते जाते हैं और पूरा दृश्य नाटकीय स्थितियों, संकेतों का अभिन्न अंग बनता जाता है। जानवर के मुखौटों का प्रयोग भी किया है और व्यंग्य किया गया है कि जानवर बनकर वह अधिक सुखी, निश्चिन्त है आदमी बनकर तो इतना निश्चिन्त कभी भी न था। लक्ष्मीकान्त वर्मा के पास प्रतीकात्मक और सांकेतिक अभिव्यक्ति की कुशलता है। घटना क्रम के बदलाव केलिए प्रकाश व्यवस्था की गई है। इसप्रकार कथ्य और शिल्प के स्तर पर नाटककार ने नई युक्तियों द्वारा अपनी प्रयोगधर्मिता का परिचय दिया है।

## 4.15 सत्यव्रत सिन्हा : अमृतपुत्र

मूलतः निर्देशक, अभिनेता और रंगकर्मी डॉ. सिन्हा का 'अमृतपुत्र' (1974) आधुनिक भावबोध से जुड़ा एक ऐसा असंगत नाटक है, जो अनास्था, निरर्थकता और मूल्यहीनता के इस युग में मानव-मात्र में आस्था और विश्वास जगाता है। जो मानव कभी अमृतपुत्र कहलाता था, आज उसकी स्थिति क्या है? यही दिखाना नाटककार को अभिप्रेत है। नाटक के सभी पात्र नपुंसक आक्रोश लिये जी रहे हैं- आपस में झगड़ना और समझौता कर लेना ही उनकी नियति है। यह नाटक शीर्षक से तो आधुनिक सन्दर्भ का नाटक नहीं लगता, पर इसमें सुविधा भोगी वर्ग के माध्यम से आज की मानवीय विसंगतियों का उद्घाटन करते हुए यह दिखाने की कोशिश की गई है कि आदमी अमृतपुत्र है जो कभी मरता नहीं।

### 4.15.1 कथ्यगत प्रयोग

'अमृतपुत्र' डॉ. सत्यव्रत सिन्हा का प्रथम रंगमंचीय नाटक होते हुए भी अपने कथ्य और शिल्प की नवीनता के कारण ध्यानाकर्षक नाटक है। यह नाटक तीन रिटायर्ड व्यक्तियों के माध्यम से सामयिक जीवन की विसंगति और आभिजात्य वर्ग की अवसरवादी नीतियों को निर्भयता से उद्घाटित कर मानव-मात्र के प्रति करुणा की अनुभूति जगाता है, क्योंकि इसी मानव को मनु ने 'अमृतस्य पुत्र' घोषित कर गरिमा से मण्डित किया था।

इस निरर्थकता और अनास्था के युग में भी नाटककार अन्त में यह प्रेरणा देता है, कि मनुष्य मरकर भी अमर है, क्योंकि वह अपनी मान्यताएँ और विश्वास पीढ़ी-दर-पीढ़ी छोड़ जाता है। 'अमृत पुत्र' में डॉ. सिन्हा ने पारस्परिक ढ़ाँचे से मुक्त होने का प्रयत्न किया है। कथ्य की दृष्टि से यहाँ कोई सुनिश्चित कथानक और उसका विकास नहीं है, यद्यपि कथा का सूत्र अवश्य है जो विभिन्न सन्दर्भों में सामयिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है। एक अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर, असिस्टेन्ट एकाउण्टेन्ट जनरल और जज के माध्यम से नाटक अवकाश-प्राप्त लोगों के जीवन में छाने वाली ऊब, नीरसता और मृत्यु-भय को सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। चुकती हुई पीढ़ी नयी पीढ़ी से हर पल सशंकित रहती है, परिवर्तित युग में भी वह अपने अस्तित्व की महत्ता को बनाए रखना चाहती है और इसीलिए नयी पीढ़ी से उसका संघर्ष हर मोड़ पर होता है। नाटक की कथावस्तु में यद्यपि कोई निश्चित आयाम नहीं है, किन्तु संवादों के बल पर ही नाटक अवकाश भोगी जीवन की ऊब के साथ-साथ वर्तमान युग में राजनैतिक, शैक्षणिक तथा अन्य क्षेत्रों में छाने वाले भ्रष्टाचार, अवसरवाद, पद के बल पर होने वाले सामाजिक शोषण, आभिजात्य-वर्ग की कलुषता, युवा पीढ़ी की दिशाभ्रान्त स्थिति आदि पर प्रहार करता है।

### 4.15.2 शिल्पगत प्रयोग

नाटक शिल्प बन्धनों से मुक्त होने का प्रयास करता है और फ्लैश बैक, फैण्टेसी, मूक अभिनय आदि के दृश्यों का शिल्पगत अभियोजन आकर्षक बन पड़ा है। विसंगत नाटकों में पात्र अधिकतर किसी न किसी विसंगति, समस्यायें और संघर्ष के प्रतीक होते हैं। सत्यव्रतसिन्हा के 'अमृतपुत्र' में तीनों पात्र अमृतपुत्र कहलाते है जो वास्तव में प्रतीकात्मक है। तीनों समाज के अमृत और ऐश्वर्य भोगनेवाले समाज के प्रतिनिधि पात्र है। यही नहीं नाटक में जज हरनामदास, गोयल, और खुराना तीनों पुरानी पीढ़ी का प्रतीक हैं। नाटक के अन्य पात्र पालामिताली तथा रोशनवालू आधुनिक पीढ़ी का प्रतीक है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटक एक सफल कृति है। प्रत्येक चरित्र अपनी अलग पहचान और भाषा रखता है। डॉ. गोयल का चिन्तनयुक्त शैली में बोलना, हर समय तनाव और बौद्धिक तर्कजाल में घिरे रहने की प्रवृत्ति और उनकी वेशभूषा उन्हें एक प्रोफेसर के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है। कथाहीन इस नाटक के विकास और रोचकता का एकमात्र आधार इसके संक्षिप्त व्यंग्यपूर्ण संवाद है, जो पात्रों की मनःस्थिति को मुखर करने के साथ-साथ विभिन्न सूत्रों को जोड़ते चले जाते हैं। अवकाश-प्राप्त जीवन की ऊब,

पीड़ा और एकरसता कितनी सजीव बनकर आयी है, इन संवादों में – "लेकिन ज़रा गहरे उतरकर देखो तो यह रिटायरमेन्ट आदमी को भीतर ही भीतर मार देता है... "अब देखो न मेरा हर क्षण मेरे साथ चिपका रहता है।"[1] "वक्त हमारा दुश्मन हो चुका है।"[2]

### 4.15.3 रंगमंचीय प्रयोग

'अमृतपुत्र' का रंग शिल्प भी इसे एक सुव्यवस्थित और सफल नाटक प्रमाणित करता है। रंगक्षेत्र से संबन्धित होने के कारण डॉ. सिन्हा के इस नाटक में रंगमंचीय तत्वों का पूरा निर्वाह दिखायी देता है, साथ ही नये प्रयोग स्थापित करने का प्रयत्न भी मिलता है। यह नाटक अंक और दृश्य विभाजन के बिना प्रभावशाली रूप में अन्त तक चलता है। यद्यपि प्रकाश-योजना और ध्वनि-संयोजन द्वारा अन्तराल सूचित किया गया है। नाटक में रंग-निर्देश भी बहुत महत्वपूर्ण है, जो पात्र के व्यक्तित्व और मनःस्थिति को स्पष्ट करने के साथ-साथ नाटक के मंचन में भी सहयोग देते हैं। डॉ. गोयल के देहान्त के पश्चात् मिस नरूला के आगमन से पूर्व तीन पृष्ठों का मूकाभिनय है, जो स्थिति की मार्मिकता को बढ़ाता है। अकस्मात् होने वाले इस हादसे के लिए पात्र भी तैयार न थे, उस श्ब्दातीत शोक की स्थिति को नाटककार ने मूकाभिनय से सजीव किया है। जज साहब के अवसरवादी व्यावहारिक स्वभाव तथा खुराना के व्यक्तित्व की बौखलाहट भी इसी प्रयोग से अधिक मुखर होकर सामने आती है। प्रकाश-योजना का बहुत उपयुक्त प्रयोग किया गया है – नाटक में फ्लैश बैक, फैन्टेसी और स्वप्निल दृश्य बहुत आकर्षक व प्रभावशाली बनकर आया है। ऐसे स्थलों पर पार्श्व ध्वनियों का प्रयोग मार्मिकता को बढ़ा जाता है। वस्तुतः इस नाटक के सफल शिल्प संयोजन में नाटककार के निर्देशक व्यक्तित्व का सहयोग है।

कुल मिलाकर पूरा नाटक कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक सार्थक तलाश है। सत्यव्रत सिन्हा एक प्रसिद्ध रंगकर्मी निर्देशक हैं। रंगमंच के बीच जीने के कारण ही 'अमृतपुत्र' उनका पहला नाटक होते हुए भी एक सुसंगठित, रंगमंचीय गुणों से पूर्ण तथा शिल्पगत मौलिक प्रयोगों से युक्त नाटक बन सका है।

---

[1] सत्यव्रतसिन्हा - अमृतपुत्र, प्र. सं 1974, पृ.17

[2] सत्यव्रतसिन्हा - अमृतपुत्र, प्र. सं 1974, पृ.22

## 4.16 निष्कर्ष

अस्तित्ववाद मानव जीवन को उसकी यथार्थता में देखने का दर्शन है। यह मनुष्य के अस्तित्व में विश्वास करता है और परिवेश एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उसके संघर्ष और विकास का विवेचन करता है। यह किसी मनुष्य की सत्ता को ही अंतिम सत्य मानता है। व्यक्ति के अकेलेपन, आत्मनिर्वासन तथा उसके वरण की स्वतंत्रता के संदर्भ में उसके द्वारा अर्थवत्ता की खोज आदि विभिन्न संदर्भों का चित्रण 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे', 'द्रौपदी', 'समय संदर्भ' जैसे नाटकों में किया गया है। इन नाटकों के कथ्य, नाट्यशिल्प और रंगमंचीय स्तर पर किये गये प्रयोगों के द्वारा नयी-नयी संभावनाएँ उजागर होती हैं। इनके प्रयोग अनेक समकालीन और नये नाटककारों के लिए प्रेरणा स्रोत बने हैं।

इसीप्रकार असंगत नाटक की परंपरा जीवन और जगत में अंतर्निहित विसंगति और अतार्किकता के बोध से प्रारंभ हुई है। असंगत नाटककारों की मान्यता है कि आज का व्याक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनी ज़िंदगी की निरर्थकता को जबर्दस्ती ढ़ो रहा है। मशीनी विकास, जीवन में बढ़ते अर्थ के महत्व और विनाश के आतंक ने उसे निराशा, भय, कुण्ठा और संत्रास से भर दिया है। असंगत नाटक ने एक नया जीवन दर्शन अपनाया जिसका प्रभाव नाटक और रंगमंच के रूपबंध और वस्तु विन्यास पर पड़ा। असंगत नाटक के पात्र जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में थके-हारे, निराश और टूटे हुए होते हैं। अतः जीवन मूल्यों में इन्हें आस्था नहीं होती। इनकी भाषा हरकत की भाषा है। 'लोटन', 'तेंदुआ', 'रोशनी एक नदी है', 'अमृत पुत्र' आदि नाटकों द्वारा जीवन की विसंगतियों को दर्शाया गया है। जीवन के प्रति एक अलग और पूर्णतः नये दृष्टिकोण से हमारा परिचय कराने तथा नाटकीय भाषा के विभिन्न पहलुओं को खोजने की दृष्टि से इन नाटकों के प्रयोगों को सार्थक कहा जा सकता है।

.....ೞ೦ೞ೦ೞ೦.....

अध्याय पाँच

# लोकनाट्य से प्रेरित नाटकों और अधुनातन नाट्य प्रवृत्तियों में प्रयोग

## 5.0 प्रस्तावना

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से यह सर्वविदित है कि भारत की नाट्यकला कितनी प्राचीन और समृद्ध रही है। मनोविनोद की पारंपरिक विधाओं का आधार तो लोक-जीवन ही है। जिन कलाओं में जन-जीवन की सहज, स्वाभाविक अनुभूतियाँ समाहित हैं, वही लोक-मानस को आंदोलित और उद्वेलित कर पाती हैं। यही कारण है कि विविध उत्सवों, अनुष्ठानों, त्योहारों, मेलों तथा धार्मिक संस्कारों पर लोक जीवन भाव-विभोर हो जाता है और नृत्य की भंगिमाओं एवं संगीत की भावावेगमयी स्वर-तानों में मग्न होकर अपने समग्र जीवन की सुखांत शाश्वतता को साकार होता हुआ देखता है। इसप्रकार लोक-गीत, लोक - गाथा, लोक-नृत्य, लोक-कथाएँ और लोकमंच जैसी कई विधाएँ हैं, जो शताब्दियों से लोकरंजन करती आ रही हैं। इन लोकधर्मी कलाओं में शिल्प की प्रौढ़ता और अभिव्यक्ति का उत्कर्ष भले ही कम हो, पर सरलता और सरसता के बल पर ही वे दर्शकों और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती हैं। वस्तुतः ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास हुआ और मनोरंजन के ये पारंपरिक साधन स्थायित्व ग्रहण करने लगे त्यों-त्यों विविध भाव-भंगिमाओं ने इन पारंपरिक विधाओं को एक नयी भूमिका दी, जो आगे जाकर लोक-नाट्य के रूप में विकसित हुई।

स्वातंत्र्योत्तर युग बदलते प्रतिमानों एवं प्रयोगों का युग रहा है। नाट्यविधा के वर्तमान विकसित स्वरूप के पीछे परंपरा, प्रयोग और प्रगति की समृद्ध पृष्ठभूमि है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद नाटकों में लोक नाट्य शैलियों का प्रवेश एक नयी चेतना एवं ताज़गी लेकर आया है। देशों और जनसमुदायों की रुचियों की विभिन्नता के बावजूद भारतीय नाट्य-साहित्य अपने 'लोक' से जुड़ा है और इसलिए एक-सूत्रता के बंधनों में बंधा हुआ है। प्राचीन काल से लेकर अब तक का नाट्य-साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करता है कि लोक-संस्कृति और अभिजात संस्कृति की धाराएँ समानांतर गति से प्रवाहमान रही हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों को लेकर आचार्य भरतमुनि ने सर्वप्रथम शास्त्रीय विवेचन का उपक्रम किया, फलस्वरूप नाट्यशास्त्र जैसे महान ग्रंथ की रचना हुई है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र कोई आकस्मिक उपज नहीं, बल्कि पूर्व परंपरा को लेकर की गई एक सुनिश्चित योजना है। इसलिए स्पष्टतः कहा जा सकता है कि भरत के नाट्यशास्त्र का आधार लोकनाटक ही हैं।

## 5.1 लोक शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या

लोकनाट्य, लोक तथा नाट्य, इन दो शब्दों से बना है। लोकनाट्य में लोक की प्रमुखता को ध्यान में रखते हुए सबसे पहले इसी की अर्थ संबंधी अवधारणाओं को पुष्ट करना समीचीन होगा। 'लोक' शब्द को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। वेदों, उपनिषदों, मनुस्मृति तथा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में 'लोक' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग मिलता है। कतिपय विद्वानों के मतानुसार 'लोक' शब्द संस्कृत के 'लोकृदर्शने' धातु में 'घञ् ' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न हुआ है। इस धातु का अर्थ है – 'देखना'। [1] लट् लकार के अन्य पुरुष एकवचन में इसका रूप होता है – 'लोकते'। अतः लोक का अर्थ हुआ - देखनेवाला। वह समस्त जन-समुदाय जो इस क्रिया को करता है, 'लोक' के अंतर्गत समाविष्ट है। [2]

शब्द कोशों में 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं- जैसे- विश्व का एक विभाग, भुवन, संसार, पृथ्वी, मानवजाती, समाज, यश आदि। हिंदी साहित्य कोश में 'लोक' के दो अर्थों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। " एक तो वह जिससे इहलोक, परलोक अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है। वर्तमान प्रसंग में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं। दूसरा अर्थ लोक का होता है जनसामान्य - इसी का हिंदी रूप लोग है। इसी अर्थ का वाचक 'लोक' शब्द साहित्य का विशेषण है। किंतु इतने से लोक का वह अभिप्राय प्रकट नहीं हो पाता जो साहित्य के विशेषण के रूप में वह प्रदान करता है।" [3]

'लोक' शब्द के अर्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लोक' एकार्थक न होकर अनेकार्थक शब्द है। समय,परिस्थिति, परिवेश, मनोवृत्ति तथा प्रयोगानुसार लोक के अनेक अर्थ किये गये हैं। अंग्रेज़ी भाषा में भी 'फोक', 'पीपुल' और 'पब्लिक' शब्दों को साधारणतः लोक के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है। 'फोक' (folk) शब्द के संकुचित और व्यापक दोनों अर्थ उपलब्ध होते हैं। संकुचित अर्थ में फोक शब्द से असंस्कृत और मूढ़ समाज का बोध होता है, तथा व्यापक अर्थ में इसका

---

[1] सिद्धांत कौमुदी – पृ. 417

[2] राहुल साकृत्यायन (प्रधान संपादक) - हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग 16), पृ . 1 (प्रस्तावना)

[3] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान संपादक)- हिदी साहित्य कोश - प्र. सं. - सं 2015, पृ . 686

प्रयोग सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोगों के लिए होता है। साहित्य में तो 'लोक' शब्द एक विस्तृत क्षेत्र को अपने में आत्मसात् किए हुए हैं। डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है – " लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है। ये लोग नगर में परिष्कृत रुचि-संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं[1]।

इसप्रकार 'लोक' शब्द का अर्थ है - सामान्य जन समूह, जिसमें किसी भी भू-भाग पर रहनेवाले वे समस्त लोग समाहित हैं, जिसकी भावनाओं, विचारों, परंपराओं, क्रियाओं एवं मान्यताओं में वास्तविक कल्याण के तत्व विद्यमान रहते हैं और जो नागरिक सभ्यता, सविधि शिक्षा, बाह्य सजावट तथा औपचारिकता से दूर अपनी परंपरागत आदिम मनोवृत्तियों से जुडे हुए प्रकृति की गोद में अत्यधिक सादा, सरल, स्वच्छंद एवं स्वाभाविक जीवन जी रहे हैं।

## 5.2 लोक साहित्य के भेद

लोक साहित्य लोक मानस का वह साहित्य है जो लोक द्वारा, लोक के लिए, लोक जीवन की सहज और स्वाभाविक अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता हुआ लोक की भाषा में लिखा जाता है। अतः उसमें लोक-हर्षोल्लास, हास-परिहास, विषाद-पीडा, सुख-दुःख, जय-पराजय, ज्ञान-विज्ञान, चिंतन-मनन सभी कुछ अभिव्यक्त हुआ है। इन सभी स्थितियों और मनोदशाओं को वाणी देने के लिए जिन विधाओं को अपनाया गया है, उन्हें लोक-साहित्य के भेद या प्रकार कहा जा सकता है। लोक साहित्य के विद्वानों ने स्थूल रूप से लोक-साहित्य को पाँच शीर्षकों में वर्गीकृत किया है- 1) लोक गीत 2)लोक कथा 3)लोक गाथा 4)लोक नाट्य 5)प्रकीर्ण लोक-साहित्य।

## 5.3 लोकनाट्य का महत्व

लोक साहित्य की इन समस्त विधाओं में लोक नाट्य का सर्वोच्च स्थान है। वर्तमान संदर्भ में आज की तमाम स्थितियों, विसंगतियों से मुक्ति दिलाने में लोकनाट्य की भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है क्योंकि उसमें जन-भावनाओं, जन-मानस, जन-रुचि और जन-गुणों की जैविक गरिमा पूर्णतः उपस्थित रहती है तथा जन-भाषा के संयोग से इनमें

[1] डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी-विचार और वितर्क,पृ. 205

प्रभावी प्रेषणीयता और एक प्रकर का सम्मोहन भी होता है। ये नाटक अपनी प्रकृति में पूरी तरह आँचलिक तथा सामाजिक संस्कार संपन्न होने के कारण सामूहिक साँस्कृतिक चेतना को जाग्रत करने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। उसकी रचना-प्रक्रिया के सूत्र समाज की मानसिक संरचना, संस्कार, व्यवहार और सहसंबंधों के आधार पर रचे होते हैं। इसलिए हमें लोकनाट्य में भारतीय संस्कृति और प्रादेशिक रंगों का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। देशकाल के अनुरूप लोक-साहित्य से ऊर्जा ग्रहण करते हुए, लोक जीवन को सरस बनाते हुए समाज में नैरंतर्य बनाये रखने में यह नाट्यपरंपरा असंदिग्ध रूप से सफल रही है। यही नहीं मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए उसके संस्कारों को नयी स्फूर्ति एवं प्रेरणा देने का कलात्मक अवसर भी लोकनाट्य प्रदान करता है। अतः भारत के वर्तमान दौर में लोक नाट्यों को समझना न केवल इस देश की सांस्कृतिक अस्मिता, वैविध्य और एकात्मकता को जानने के लिए ज़रूरी है बल्कि संस्कृति कर्म के लिए पूरी तरह से प्रतिकूल हो चले इस उत्तर औपनिवेशिक युग में कला, संस्कृति और रंगमंच को अधिक सक्षम, गतिशील और लोकप्रिय बनाने के लिए भी ज़रूरी है।

## 5.4 लोकनाट्य की परिभाषा

कई विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से लोकनाट्य की परिभाषा दी है। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में रस, भाव, अभिनय, धर्मी; वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्ध, स्वर, वाद्य, गान एवं रंगमंच- ग्यारह नाट्यांगों की चर्चा की है। फिर धर्मी के दो भेद बताये हैं- पहला लोकधर्मी और दूसरा नाट्यधर्मी। लोकधर्मी नाट्य की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है -

"स्वभावभावोपगतं शुद्धं तु अविकृतं तथा।
लोकवार्ता क्रियापेतमङ्‌गलीला विवर्जितम् ।।
स्वभावभिनयोपेतं नाना स्त्रीपुरुषाश्रमय्
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु स्मृता"[1]

यानी जहाँ पर सब कुछ स्वाभाविक, शुद्ध एवं अविकृत (प्रकृत) रूप में प्रस्तुत किया जाए, जहाँ बहुत कुछ कल्पना पर आश्रित अंगहार आदि आंगिक विलास लीलाओं का प्रयोग न हो; जहाँ स्त्रियों का अभिनय विविध स्त्री-पात्रों द्वारा तथा पुरुष का अभिनय विविध पुरुष पात्रों द्वारा, इसतरह वस्तु का यथावत् वर्णन जिस नाट्यरूप में हो, वह

[1] नाट्यशास्त्र - अध्याय - 14, श्लोक 62-63

लोकधर्मी नाट्य है। डॉ. श्याम परमार ने लोक नाट्य की परिभाषा इसप्रकार दी है- " लोक नाट्य से तात्पर्य नाटक के उस रूप से है जिसका संबंध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के जीवन से हो और जो परंपरा से अपने-अपने क्षेत्र के जन समुदाय के मनोरंजन का साधन रहा हो।"[1] जन साधारण के कुछ आचार एवं संस्कार रूढ़ होकर युग-युग तक प्रवहमान रहते हैं, उन्हीं को लोक-धर्मी परंपराएँ या रूढ़ियाँ कहते हैं। यही रूढ़ियाँ लोक-नाट्य के स्रोत हैं।

श्री जगदीश चंद्र माथुर ने लोकनाट्य की परिभाषा इसप्रकार दी है-"जो नाट्य राजा-महाराजाओं पर कम आश्रित, मंदिर एवं धर्मिक स्थानों पर अधिक, जो मेलों और उत्सवों में जन-मनोरंजन करके पुष्ट होता हो, जो लक्षणकारों द्वारा स्थापित सिद्धांतों की उपेक्षा करता हो और जिसमें विभिन्न कलाओं का प्रयोग होता हो, उसे लोकनाट्य कहते हैं।"[2] वस्तुतः माथुर ने 'लोकनाट्य' संज्ञा को ही नकार दिया है। उन्होंने इसे 'लोकनाट्य' न कहकर 'परंपराशील नाट्य' कहा है।

डॉ. श्याम परमार ने लोकनाट्य की एक और परिभाषा भी दी है। उनके अनुसार "लोकनाट्य लोक-रंजन का आडंबरहीन साधन है जो नागरिकों के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का पर विशाल जन के हर्षोल्लास से संबंधित है। ग्रामीण जनता में इसकी परंपरा युगों से चली आ रही है। चूँकि 'लोक' में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित है। अतः लोकनाट्य एक मिले-जुले जन-समाज का मंच है। परिष्कृत रुचि के लोक के लिए जिन नाटकों का विधान है उसकी आधार-भूमि यही लोकनाट्य है।"[3]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकनाटक लोक द्वारा, लोक के लिए, अभिनय के माध्यम से लोकभाषा में प्रस्तुत, लोक जीवन की सहज, स्वाभाविक, अनौपचारिक, नृत्य, गीत और संगीतमय जीवंत एवं लोकरंजक लोक रूढ़ियों की अभिव्यक्ति का नाम है।

## 5.5 लोकनाट्य : उत्भव और विकास

विश्व में प्रचलित किसी भी देश का लोकमंच लोक जीवन की स्वाभाविक उमंग है। लोक मंच के द्वारा हमें जनजीवन के समस्त पक्षों के दर्शन होते हैं और विशिष्ट

---

[1] डॉ. श्याम परमार-लोकधर्मी नाट्य परंपरा, पृ 30-31
[2] जगदीशचंद्र माथुर- परंपराशील नाट्य, प्र. सं 1964, पृ 4
[3] डॉ.श्याम परमार भारतीय लोक साहित्य, पृ 173

जनसमुदाय की भावनाओं को प्रत्यक्ष देख भी लेते हैं। भारत में तो बहुत प्राचीन काल से ही लोक मंच की परंपरा का प्रचलन दृष्टिगोचर होता है। इसका एक ज्वलंत प्रमाण भरतमुनि का नाट्यशास्त्र है जिसमें उन्होंने नाट्य की मूल प्रेरणा और उसकी प्रामाणिकता की अंतिम कसौटी लोक-जीवन, लोक-चित्त और लोक धर्म को स्वीकार करके 'लोक' के बुनियादी महत्व को रेखांकित किया है। नाट्य-प्रयोग में लोक ही को सबसे बडा प्रमाण मानते हुए उन्होंने कहा है कि नाटक चाहे वेद हो या अध्यात्म से उत्पन्न हो तो भी वह तभी सिद्ध होता है जब वह लोकसिद्ध हो, क्योंकि नाट्य लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है:-

"वेदाध्यात्मोप पन्नं तु शब्दच्छन्द : समन्वितम् ।
लोक सिद्धं भवेत नाट्य लोक स्वभावजम् ।
तस्मात् नाट्य प्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यत्।।"

लोक मंच जनसाधारण के आह्लाद और उल्लास का एक चिरंतन आधार है। इसका उद्भव मानवीय सभ्यता के आगमन के साथ ही हुआ और यही नागरिक रंगमच का जन्मदाता है। संस्कृत नाटकों के उद्भव के मूल में भी लोकनाट्य और लोकमंच का विशेष योगदान है। संसार के सभी देशों के रंगमंचों का यही इतिहास है। माथुर के शब्दों में - "लोक रंगमंच जन साधारण विशेषतः देहाती जनता के दैनिक जीवन का एक अंग रहा है और सामाजिक उद्देश्यों का एक माध्यम, नागरिक रंगमंच वर्ग विशेष के लोगों के मनोरंजन का साधन है। उनके फुरसत के क्षणों का मन बहलाव है। लोकमंच, जीवन की स्वाभाविक और अनायास अभिव्यक्ति है और नागरिक रंगमंच, चेष्टा युक्त अभिव्यक्ति। इसलिए लोक रंगमंच सदा रहा है और रहेगा किंतु नागरिक और साहित्यिक रंगमच, राजाओं या धनिक वर्ग के आश्रय अथवा व्यवसायिक परिस्थितियों पर निर्भर रहता है और तदनुसार ही जीवित अथवा विलुप्त हो जाता है।"[1] लेकिन लोक रंगमंच का लोप कभी नहीं होता है। इसका विकास अबाध और अक्षुण गति से स्वतः होता है। कहा जाता है कि लोक नृत्यों और लोक गीतों के साथ ही 'लोक रंगमंच' का आविर्भाव भी हुआ था। इसके बहुत बाद लोक नाटक अस्तित्व में आया।

डॉ. दशरथ ओझा ने भी साहित्यिक नाटक के पूर्व लोक नाट्य को स्वीकार किया है और हिंदी नाटक के उद्भव और विकास की पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए लोक-

[1] सम्मेलन पत्रिका (सं), लोक संस्कृति अंक, सं 2020, पृ 53

नाट्य 'स्वांग' और 'रास' की परंपरा की खोज को आवश्यक माना है- "हिदी नाटक की परंपरा का मूल स्रोत जन- नाटक ही है जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक विद्यमान हैं।"[1] इसप्रकार स्पष्ट है कि मानव जीवन की भाँति ही लोकनाट्य भी अत्यंत प्राचीनतम है। लोकजीवन के सहज संस्कार ही लोकनाट्य का उद्‌गम स्रोत है। इसके उत्स के मूल में धार्मिक अनुष्ठान, ऐन्द्रजालिक क्रिया कलाप, पौराणिक गाथाओं, महान पुरुषों का जीवन, सामाजिक जीवन के आदर्श, आचार-विचार, आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक समस्याएँ आदि ही प्रेरणा रूप में काम करती रही हैं। धर्म-अनुष्ठान, मेले-ठेले, पर्व-त्योहार, फसल रोपना या काटना आदि लोकानुरंजन के ऐसे केंद्र बिंदु है जिनसे लोक नृत्यों, लोकगीतों एवं लोकनाट्यों की अतःसलिला प्रस्फुटित होती है। प्रकृति का नैसर्गिक संसर्ग भी लोक नृत्यों, गीतों, कथा संवादों और अभिनयों की मोहक पृष्ठभूमि तैयार करते रहते हैं। गाँव-देहातों में जन सामान्य का मनोरंजन करनेवाले किसी भी स्थल को लोक मंच कहते हैं, जहाँ लोक नृत्य, लोक गीत और लोकनाट्य होते हैं और लोग चारों ओर से घेर कर आनंद में बैठे रहते हैं। इस प्रकार लोकमंच कहीं भी स्वरूप ले लेता है।

भारत में लोक रंगमंच की परंपरा बड़ी समृद्ध है। संस्कृत नाटकों के बहुत पहले से भारत की सुदूर प्राचीन लोक रंगमंच परंपरा का पता लगता है। भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र', कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतल', धनंजय के 'दशरूपक', विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' और पतंजलि के 'महाभाष्य' में लोक नाट्यादि का उल्लेख मिलता है। पालि, प्राकृत और अपभ्रंश काल में लोक नाट्य परंपरा का ही आधिपत्य रहा है। "अपभ्रंश भाषा में रास, फागु, चर्चरी आदि के जो ग्रंथ उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में लोक- नाट्य परंपरा थी।'' [2]

संस्कृत साहित्य काल में लोक रंगमंच की परंपरा पूरे भारत में सौ से अधिक शाखाओं में विकसित हुई है जैसे राम लीला, रास लीला, स्वांग, जात्रा, नौटंकी , कठपुतली और विदेशिया नाटक जो अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही थी। वस्तुतः लोकनाट्यों का ज्ञात उभार दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के बीच दिखायी देता है। यह समय एक प्रकार से संस्कृत नाटकों का अवनति काल था। संस्कृत नाटक प्रायः राज्याश्रय में

---

[1] डॉ. दशरथ ओझा-हिंदी नाटकः उद्‌भव और विकास, संस्करण.2003, पृ. 39

[2] डॉ. रणधीर उपाध्याय – हिंदी और गुजराती नाट्य साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, प्र सं 1966 पृ 22

रचे और खेले जाते थे। दसवीं शताब्दी के आस-पास की राजनैतिक उथल-पुथल के चलते ये राज्याश्रय कमज़ोर हुए तथा इनके संरक्षण में पलनेवले नाटकों एवं रंगशालाओं का ह्रास होने लगा। इस समय संस्कृत भाषा भी क्षीण पड़ रही थी तथा समाज पर उसकी पकड़ कमज़ोर हो रही थी जबकि लोक मंच संस्कृत रंगमंच के तत्वों के साथ-साथ नृत्य संगीत की अनुष्ठानमूलक तथा आम जनता में प्रचलित ऐसी अन्य विभिन्न शैलियों के बीच आदन-प्रदान करता हुआ विकसित होने लगा। उत्कृष्ट साहित्यिक नाटकों की विद्यमानता में भी जननाटक की रचना होने का मुख्य कारण बतानेवाले डॉ. कीथ के शब्दों का उल्लेख करते हुए डॉ.दशरथ ओझा जी ने लिख है – "संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जनभाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिए प्रायः असंभव था। केवल अल्पसंख्यक शिष्टवर्ग उस भाषा को समझने में समर्थ था और उसी उच्चपदस्थ अल्पसंख्यक पठित समाज के लिए साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे। एतदर्थ संस्कृत नाटक केवल एक वर्ग विशेष की कलाभिरुचि और हास्य-विनोद का विषय रहा है। सामान्य जनसमुदाय से उसका कोई संबंध नहीं था।" यही कारण है कि इस जनसमुदाय ने अपनी भाषा में अपना मनोरंजन करना प्रारंभ किया और इसी की प्रतिक्रिया में लोकमंच का आविर्भाव हुआ। [1] किंतु मध्ययुग के कुछ पहले इस परंपरा का भी लोप हो गया था. कुछ विद्वानों का यह कहना है कि उपेक्षा के फलस्वरूप हमारा लोकनाट्य निर्जीव हो गया था। लेकिन जहाँ तक लोक धारा का प्रश्न है, वह कभी थमती नहीं। उसे कोई रोक नहीं सकता, सिर्फ रास्ता मुड़ सकता है। भक्ति आंदोलन के दौरान लोक नाट्यों को एक मोड़ अवश्य मिला। रामकथा और रासलीला को संवादों में ढ़ाल कर उसे लोक नाट्य मंच पर लाया गया। मध्ययुगीन लोकनाट्य मध्ययुगीनता की अनेक सीमाओं के बावजूद जीवन के नैतिक और उपकारी संदेशों के लिए संघर्ष करते थे। समकालीन युग में भी लोकनाट्य अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करते हुए अतीत और वर्तमान के बीच सेतु बनाकर परंपरा से चले आ रहे अपने समाज के विविध अनुभवों को नृत्य, गीत-संगीत नाट्य के माध्यम से अपने वर्तमान को अवगत कराए रखने का कार्य करता है । वस्तुतः लोक रंगमंच किसी भी सभ्यता या संस्कृति की वह अनमोल संपत्ति है जो निरंतर वर्तमान को अतीत का साक्षात्कार कराती रहती है।

---

[1] डॉ. दशरथ ओझा-हिंदी नाटक उद्भव और विकास, सं 2003, पृ.35

निष्कर्षत : कहा जा सकता है कि भारतीय इतिहास के मध्ययुग में, जबकि शास्त्रीय नाट्य परंपरा क्षीण अथवा विच्छिन्न होने लगी थी, हमारी बहुरूपी और बहुरंगी लोकनाट्य परंपरा अप्रतिहत एवं प्राणवान बनी रही। हिंदी क्षेत्र के रामलीला, रासलीला, नौटंकी, भगत, स्वांग, नकल, भडैती, ख्याल, माच, नाचा और विदेसिया जैसे लोकनाट्य रूप किसी भी दृष्टि से बंगाल के जात्रा, कर्नाटक के यक्षगान, महाराष्ट्र के तमाशा और गुजरात के भवई जैसे अपेक्षाकृत बहुचर्चित एवं लोकप्रिय नाट्य-रूपों से हेय अथवा कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। संस्कृत नाटक के पराभव काल में विकसित यह नाट्य धारा आज भी हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय है। आज भी इसका प्रभाव उन नाटकों से कहीं अधिक व्यापक है जो नगरों के भव्य और उच्च वर्ग के लोगों का मनोरंजन करते हैं अथवा जिन्हें साहित्यिक नाटक कहा जाता है। यह बात अलग है कि आधुनिक बनने की दौड़ में हमने अपने इन बहुआयामी लोक नाट्य रूपों के संरक्षण और विकास की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर भी, आधुनिक भारतीय नाटक और रंगमंच की सर्वाधिक उल्लेखनीय, महत्वपूर्ण एवं सार्थक उपलब्धियों के मूल में कहीं न कहीं इन लोक नाट्य रूपों या लोक नाट्य तत्वों के रचनात्मक उपयोग का निर्णायक योगदान अवश्य रहा है।

## 5.6 भारत के प्रसिद्ध लोकनाट्य

लोक-मनोरंजन के लिए जो नाट्य -रूप मिलते हैं, उन्हें लोक-नाट्य (फोक ओपेरा) कहा जा सकता है। लोक नाटकों की विशेषता यह होती है इसमें गीत,नृत्य,संगीत एवं संवादों का बहुत ही सहज एवं आनंददायक सामंजस्य रहता है। लोक मानव फुरसत के क्षणों में बडी रुचि एवं उल्लास के साथ इसे देखता है। लोक-नाट्य में रंगमंच के अभाव में, साधारण वेश-भूषा में ही पात्र अभिनय के माध्यम से सुंदर एवं यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं। लोक-नाट्य का कथानक लोकधर्मी रूढ़ियों से प्रभावित होता है तथा धार्मिक कथाओं के नायकों के चरित्रों एवं सामाजिक घटनाओं पर आधारित होता है। संसार के प्रायः सभी देशों में स्थल-भेद के अनुसार लोकनाट्य के विभिन्न रूप पाए जाते हैं।

यहाँ भारतवर्ष के कुछ प्रसिद्ध लोकनाट्यों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं –

1) **यक्षगान-** यक्षगान दक्षिण भारत का प्रसिद्ध लोकनाट्य-रूप है। यह तमिल,तेलगू, कन्नड भाषा-भाषी क्षेत्रों में अधिक प्रचलित है। तेलंगाना(आंध्र) में इसे 'विथि भागवतम्' भी कहते हैं। इसे 'प्राकृत नाटक' भी कहा गया है। यक्षगान की परम्परा अत्यधिक प्राचीन हैं।

इतना ही नहीं यह आन्ध्र, कर्नाटक तथा तामिल संस्कृति की वाहक है। यक्षगान मूलतः एक नृत्य-नाट्य है जिसमें गीतबद्ध संवादों का प्रयोग होता है। इस नाटक में साधारण लोगों के साथ-साथ वेश्याएँ भी भाग लेती थीं। स्त्रियाँ पुरुष-वेश धारण कर यक्षगानों में भाग लेती थीं। 'यक्षगान' में रामायण, महाभारत तथा भागवत की प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कथाओं को ही लिया जाता था।

2) **वीथि नाटकम्** - वीथि नाटकम् या विथि भागवतुम् तेलगू लोकमंच है। इसमें 'यक्षगान' की अनेक विशेषताएँ हैं। इसे यक्षगान का एक भेद स्वीकार किया गया है। इसे खुला लोकमंच कहा जा सकता है। इस मंच पर 'कुचिपुडि' कलाकार अपना अभिनय प्रस्तुत कर जनता का मनोरंजन प्रस्तुत करते हैं। इसमें सामूहिक गान को अधिक महत्व दिया जाता है। कृष्णलीला का अभिनय विथिनाटकम् का विषय है। इसका अभिनय मन्दिरों में उन्नतमंच पर किया जाता है।

3) **तमाशा** – यह महाराष्ट्र का अत्यन्त प्राचीन लोकनाट्य है । इस नाट्य के अभिनय करनेवाली मंडली को 'फड़' कहा जाता है। इसमें नृत्य एवं नर्तकी का विशेष महत्व है जो सजधज कर जनता का मनोरंजन करती है। 'ढफ' और 'तुन्तुन्या' ग्रामीण वाद्यों का इसमें उपयोग किया जाता है। इसके प्रारम्भ में गणेश की स्तुति की जाती है। फिर लोकगीत गाए जाते हैं। श्रृगार प्रधान लावनियाँ तथा वीरों की कीर्ति के गीत प्रधानरूप से गाए जाते हैं। संवादों का भी कुशल आयोजन होता है। अन्त में 'भेदिक' गीत गाया जाता है जिसमें गूढ़ विषयों की दृष्टकूट-शैली में चर्चा की जाती है। तमाशा का मंच अत्यन्त ही साधारण लोकमंच होता है।

4) **जात्रा** - बंगाल, उड़ीसा तथा पूर्वी बिहार में यह लोकनाट्य-रूप अधिक प्रचलित है। जात्रा का अर्थ है – जुलूस, उत्सव या प्रवास। इन नाटकों में कृष्ण के मथुरा-प्रवास की कथा अभिनीत की जाती है। यात्रा का अभिनय खोल और मृदंग के साथ सामूहिक गीत के रूप में मन्दिरों के आँगन में होता था। इसका मंच उन्नतमंच होता है। पहले इसमें स्त्रियों का प्रवेश नहीं होता था, पुरुष को ही स्त्री का अभिनय करना पड़ता था। बाद में इसमें स्त्रियों का प्रवेश होने लगा।

5) **भवाई** - भवाई गुजरात का अत्यन्त प्रचलित लोकनाट्य है। भवाई में दैनिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का अभिनय धार्मिक कथाओं के विश्वास पर आधारित है। वेश-भूषा भी दैनिक जीवन की होती है। तबले, नगाड़े तथा तेज़ आवाज़ वाले वाद्यों का प्रयोग किया

जाता है। अभिनेता कभी स्वतन्त्र रूप से तथा कभी समवेत स्वर में गाकर अभिनय करता है। इसमें भी प्रारम्भ में गणपति की वंदना की जाती है। साधारण जनता के लिए यह अत्यन्त ही मनोरंजन का साधन है। पुरुष ही इसमें स्त्रियों का अभिनय करते हैं। इन लोकनाट्यों में विदूषकों को 'रंगलों' कहा जाता है। इन्हीं 'रंगलों' पर भवाई की सफलता निर्भर रहती है।

6) **कठपुतली**- प्रचीनकाल से ही कठपुतली लोकरंगमंच का महत्वपूर्ण अंग रहा है। यद्यपि समस्त उत्तर भारत में कठपुतली का खेल अत्यन्त प्रचलित है परन्तु इसका अधिक प्रचार राजस्थान में ही है। इसके निर्माण में विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं होती। एक खाट खड़ी करके रंगीन पर्दा टाँग दिया जाता है। चारपाई के पीछे सूत्रधार खड़ा होकर कठपुतलियों से जुड़े सूत्र को हाथ की उँगलियों में बाँधकर नचाता है। एक व्यक्ति या स्त्री ढ़ोलक बजाकर कथा का वर्णन करती है। प्रायः मुगल दरबार से सम्बन्धित घटनाएँ ही खेली जाती हैं।

7) **ख्याल** - राजस्थानी लोकमंच का अत्यन्त प्रचलित रूप 'ख्याल' है। 18वीं शताब्दी के आस-पास आगरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी जो आगे चलकर 'ख्याल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। ख्याल में उर्दू-फारसी का मिश्रण पाया जाता है। इसको नए-नए कथानको में बाँधना अत्यन्त कठिन है। इसमें भी स्त्री-पात्रों के स्थान पर पुरुष-पात्र ही कार्य करते हैं। धार्मिक, पौराणिक तथा किंवदन्तियों पर आधारित कथाओं को ही इसमें अभिनीत किया जाता है।

8) **माँच** - मध्यप्रदेश में, विशेषकर मालवा में 'माँच' नामक लोकनाट्य प्रसिद्ध है। माँच के प्रणेता बालमुकुन्द गुप्त ने समस्त माँच रचनाओं को ख्याल कहा है। नौटंकी की भाँति इसका रंगमंच भी साधारण होता है। ग्राम तथा शहरों में खुले तथा ऊँचे स्थान पर तख्त बिछाकर यह खेला जाता है। किसी प्रकार के रंगमंचीय आडम्बर की इसमें आवश्यकता नहीं होती।

9) **नौटंकी** – नौटंकी उत्तर भारत का लोकप्रिय लोकनाट्य है। सदियों से नौटंकी ग्रामीण तथा शहरी जनता का मनोरंजन करती चली आ रही है। श्रृंगारपूर्ण कथानक, लोकप्रिय भाषा एवं छंद तथा लोकधुनों पर आधारित संगीत के कारण नौटंकी मनोरंजन का प्रतीक बन गई है। इसका 'नगाड़ा' तो नौटंकी का पर्याय ही बन गया है। जयशंकर प्रसाद जी ने

नौटंकी को नाटकी का अपभ्रंश माना है। नौटंकी के प्रारम्भ में मंगलाचरण गाया जाता है। नौटंकी का प्रमुख पात्र 'रंगा' होता है जो नौटंकी की कथा के स्थान, समय, नायक एवं उससे संबंधित प्रमुख पात्रों का वर्णन कर कथा का प्रारंभ गाकर करता है और बीच-बीच में कथासूत्र जोड़ता चलता है। इसमें धार्मिक, पौराणिक तथा श्रृंगारी प्रेमाख्यानक कथाओं को महत्व दिया जाता है। अब कथा के विषय सामाजिक एवं राष्ट्रीय तक होने लगे। नौटंकी में पहले स्त्रियों की भूमिका सुन्दर लड़के ही करते थे। किंतु आजकल स्त्रियाँ भी अभिनय करने लगी हैं। नौटंकी में हास्य का बाहुल्य होता है। नौटंकी के मंच के लिए किसी प्रकार की रूप-सज्जा तथा विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं।

10) **रास**- ब्रज की जनता का सरल, आडम्बरहीन रंगमंच रास है। नृत्य, गीत, वाद्यसंगीत का अपूर्व समावेश इसमें होता है। ब्रज के विविध लोकजीवन की सुन्दर अभिव्यक्ति रास में होती है। भगवान कृष्ण का गोपियों के साथ एक मंडल में नृत्य करना रास का प्रधान अभिनय है। अनेक नर्तकियों से युक्त नृत्य को ही रास कहा जाता है। रास में मुख्यतः संगीत, नृत्य, गीत, आदि को प्रमुख स्थान मिला है। इसमें पात्र आरम्भ से अन्त तक मंच पर ही रहते हैं। ये नाटक छन्दोबद्ध एवं गेय होते हैं। मंगलाचरण अन्य लोकनाट्यों की भाँति इनमें भी होती है।

11) **रामलीला** - महाकवि तुलसीदास ने रामलीला का श्रीगणेश किया। रामलीला में मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन की विविध झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। 'रामचरितमानस' नाटकीय वर्णनों से भरा पड़ा है। रामलीला का रंगमंच अपने ढ़ंग का यथातथ्यवादी रंगमंच है। प्रायः दशहरे के आसपास इसे खेला जाता है। इसके लिए एक मंच एवं प्रेक्षागृह की आवश्यकता नहीं होती वरन् भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपेक्षित दृश्य के अनुकूल वातावरण से लाभ उठा लिया जाता है। एक विस्तृत मैदान में एक ओर अयोध्या मान लिया जाता है तो दूसरी ओर लंका। रामलीला उत्तर प्रदेश ही नहीं, वरन् संपूर्ण भारतवर्ष में खेले जानेवाला धार्मिक मंच है। इसकी वेशभूषा एवं रंगसज्जा पर विशेष परिश्रम नहीं किया जाता।

12) **विदेसिया** –विदेसिया बिहार का संगीत, नृत्य और नाट्य मिश्रित सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजन का साधन है, जो मात्र बिहार में ही नहीं उत्तरप्रदेश, बंगाल आदि में भी लोकप्रिय रहा है। विदेसिया अन्य लोकनाट्य के समान कोई शैली नहीं है वरन् भिखारी ठाकुर का

एक नाटक है 'विदेसिया' जो इतना अधिक प्रसिद्ध हुआ कि बिहार की नाट्यशैली का पर्याय बन गया । यह लोकनाट्य चार-छः चौकियों के अस्थाई मंच पर भी खेला जाता है। उसमें दर्शक तीन तरफ से बैठते हैं। मंच पर कोई स्थायी दृश्यबंध नहीं होता है। मंच के पीछे सिर्फ एक साधारण रंगीन कपड़ा लटका दिया जाता है।

13) **अंकिया** – यह आसाम का एक रात्रि नाट्य है। एक अंकी होने के कारण इसका नाम अंकिया पड़ा। अंकिया असम के वैष्णव मठों में प्रदर्शित होनेवाला मठ नाट्य है। इसमें मुख्यतः कृष्ण और राम से संबंधित पौराणिक नाटक प्रदर्शित किये जाते हैं। डॉ. श्रीराम शर्मा लिखते हैं – " इस लोक नाट्य पर नाट्य शास्त्रीयपरंपराओं का भी प्रभाव परिलक्षित होता है : सूत्रधार, नांदी पाठ, पात्रों की सूचनाएँ एवं अंत में भरतवाक्य- सभी कुछ शास्त्रीय नियमों के अनुसार। मंडली (गायन-वादन) भाओनाघर (मंच) के पीछे बैठती है।" [1]

14) **नाचा** – नाचा लोकनाट्य रूप का उद्‌भव एवं विकास छत्तीसगढ़ के कृषि प्रधान ग्रामीण समाज में हुआ है तथा उसमें अनेक परंपरागत विधाओं ने सम्मिलित होकर उसे समृद्ध किया है। नाचा का कथानक मुख्यतः धार्मिक पौराणिक अथवा सामाजिक जीवन पर आधारित रहता है जिसमें किसी घटना विशेष को कथासूत्र में बाँधकर लोकगीतों एवं लोकनृत्य के द्वारा मंच पर प्रस्तुत किया जाता है। नाचा का मंच आडंबरहीन होता है। इसकी भाषा मुख्यतः छत्तीसगढ़ी है। श्री रामचंद्र देशमुख और हबीब तनवीर जैसे प्रतिभाशाली रंगकर्मियों ने नाचा शैली के द्वारा छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य में नवीन प्राणों का संचार किया।

अन्य प्रमुख लोकनाटक रूपों में पंजाब के 'भाँगड़ा', बंगाल के 'छाऊ', 'नकाब', गुजरात के 'गर्बा', आगरा के 'भगत', राजस्थान के ' गवरी', आन्ध्रा के 'पुत्तलिका नृत्य', 'पगटिवेषम', 'बेहुरूपिया', 'हरिकथा', 'बुर्रकथा', 'कुरवंजि', 'गोल्लकलापमु', मिथिला के 'कीर्तनिया', उत्तरप्रदेश के 'नकल', स्वाँग, केरल के 'चविट्टु नाटकम्', तमिलनाडु के 'तेरुकूत्तु', कश्मीर के 'जश्न अथवा (भांड पथर), महाराष्ट्र के ललित, दशावतार आदि का भी विशेष महत्व है। ये तमाम रूप लोकजीवन

[1] डॉ . श्रीराम शर्मा - लोक साहित्य सिद्धांत और प्रयोग, पृ 115

को अपने में संजोए हुए हैं। प्रत्येक प्रांत की संस्कृति के अनुरूप ही इनका स्वरूप है। ये भारत को अनेकता में एकता के सूत्र में बाँधकर यहाँ की संस्कृति को रंगमय बनाते हैं।

## 5.7 लोकनाट्य की विशेषताएँ

लोकनाट्य की कुछ स्वरूपगत विशेषताएँ हैं जो समस्त लोकनाट्य शैलियों में सामान्यतः पाई जाती हैं। यही विशेषताएँ लोकनाटकों को एक सूत्र में बाँधती हैं और इस तरह सारे भारतवर्ष के एक रंगमंच का बोध होता है। श्याम परमार के शब्दों में – "लोकनाट्यों की विशेषता उसके लोकधर्मी स्वरूप में निहित है। लोक जीवन से उसका अंग-अंगी का नाता है। बाह्याडंबरों और नागरिक सुसंस्कृत चेष्टाओं के बिना लोक के मनोभावों और प्रतिक्रियाओं का स्वतंत्र विकास केवल 'लोकधर्मी नाट्य शैली' में ही संभव है। लोकवार्ता का एक स्वतंत्र अंग होने के कारण लोकजीवन में इन नाटकों का अपना अनोखा आकर्षण है।" [1]

लोकनाट्यों का लोकजीवन से इतना घनिष्ट संबंध है कि लोक के प्रत्येक उत्सव, त्योहार, मांगलिक अवसर एवं कार्यों के समय इनके अभिनय के बिना कार्यों तथा उत्सवों को संपन्न नहीं माना जाता। यहाँ लोकनाट्य की कुछ सामान्य विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है, जिनके कारण उन्हें हमारे देश की संस्कृति का सार्वभौमिक स्वरूप माना जा सकता है।

1. **कथानक** - लोकनाटकों का कथानक प्रायः धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक होता है। लोकनाट्यकार कथानक के किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता। इसका कथानक लोकधर्मी रूढ़ी से प्रभावित होता है। कुछ लोक नाट्यों में कथानक का नितांत अभाव होता है। इन लोकनाट्यों में किसी जाति विशेष के व्यक्ति की स्वभावगत विशेषताओं पर आधारित अभिनय होता है, जोकि 'नकल करना' कहलाता है। जैसे- धोबी की नकल, भंगी की नकल आदि. कभी-कभी जिन कथाओं को लोक नाट्य का आधार बनाया जाता है, उनमें समुचित अनुकरण कौशल के अभाव में विकृति आ जाती है और लोक अभिनेता कथा के प्रसंगों का ठीक-ठीक आविर्भाव नहीं कर पाते। किंतु दर्शकों के मनोरंजन-व्यापार में इस कथा विकृति से कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता।

---

[1] श्याम परमार- लोकधर्मी नाट्य परंपरा, पृ 7

2. **पात्र** - लोक नाट्यों में प्रायः पुरुष ही स्त्री-पुरुष दोनों का अभिनय करते हैं। लोक नाट्य के पात्र किसी भी वर्ग या जाति के हो सकते हैं। लोक नाट्य के अभिनेताओं में स्थानीय वैशिष्ट्य होता है। लोक नाट्य रूपों में परिवर्तन होने पर पात्रों के नाम भी परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे माच में 'बैढ़ब', 'शेरमारखाँ', भवाई में 'रंगला', एवं वर्तमान में 'रंगली' का पात्र भी मिलता है। नौटंकी में 'रंगा', तमाशा में 'सरदार', 'सोगाड्या' तथा ख्याल में 'हलकारा' आदि पात्र आता है। पात्र प्रायः वेश-भूषा पर ध्यान न देकर केवल अभिनय द्वारा ही जनता को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं।

3. **रूप योजना का अभाव** - लोक नाट्यों में पात्र एवं देशकाल के अनुरूप लंबे-चौडे प्रसाधन, अलंकार लोक नाट्यों में पात्र एवं देशकाल के अनुरूप लंबे-चौडे प्रसाधन, अलंकार, भड़कीले वस्त्र आदि का अभाव रहता है। कोयला, काजल, खड़िया, गेरू आदि पोत कर तथा मुखौटा लगाकर एवं रंगीन वस्त्र धारण कर पात्र मंच पर प्रवेश करते हैं।

4. **संवाद** - लोकनाट्यों में संवाद सरल, संक्षिप्त, एवं प्रभावपूर्ण होते हैं। दीर्घ एवं जटिल संवादों को सुनने का धैर्य दर्शकों को नही होता। संवाद गद्य और पद्य दोनों में हो सकते हैं। इन नाटकों में संवाद प्रश्नोत्तर पद्धति का उपयोग करते हैं।

5. **भाषा** - लोकनाट्यों की भाषा बड़ी सरल और सीधी-सादी होती है जिसे कोई अनपढ़ व्यक्ति भी बड़ी आसानी से समझ सकता है। जिस क्षेत्र या प्रवेश में इन नाटकों का अभिनय होता है, नट या पात्र वहाँ की क्षेत्रीय बोली का ही प्रयोग करते हैं। यह भाषा अलंकृत न होकर दैनिक प्रयोग में व्यवहृत भाषा होती है।

6. **सामूहिक अभिनय** - लोक नाट्यों में व्यक्ति विशेष का महत्व नगण्य होता है। समूह, जाति अथवा समाज की भावनाएँ संपूर्ण नाटक मंडली के संयुक्त अभिनय के द्वारा व्यक्त होती है।

7. **आडंबरहीन रंगमंच** - लोकनाट्य अधिकतर खुले हुए रंगमंच पर हुआ करते हैं। जनता खुले मैदान में ज़मीन पर बैठकर नाटक देखती है। ऊँची भूमि और चबूतरों पर अथवा तख्त बिछाकर रंगमंच का निर्माण कर लेते हैं। मंच पर पर्दों का अभाव होता है। दृश्य-परिवर्तन की सूचना पद्यमय कथन से समझा दी जाती है। पात्रगण किसी दीवार या पेड़ की आड़ में अपना प्रसाधन करते हैं।

8. **प्रदर्शन** - लोकनाट्य के प्रदर्शन थोड़े ही खर्चे में किये जा सकते हैं। और निर्धन से निर्धन व्यक्ति का ऐसा मनोरंजन हो पाता है जिसमें संगीत भी है, नृत्य भी और संवाद भी।

9. **प्रकाश व्यवस्था** - लोकनाट्यों की प्रकाशव्यवस्था अति साधारण होती है। तेल की मशाल से ही काम चला लिया जाता है। अभिनय करनेवाला व्यक्ति ही मशाल को पकड़े रहता है।

10. **संगीत, नृत्य एवं वाद्यों का उपयोग** - लोकनाट्यों का प्राण संगीत है। संगीत, वाद्य यंत्रों के बिना अधूरा है। किंतु पार्श्व से इसका उपयोग वे नहीं जानते । नगाडे, हारमुनियम और झांझ, मंच पर दर्शकों के सामने दिखाई देते हैं। पद्यात्मक संवादों पर नगाड़े की ताल दी जाती है। वास्तव में आरंभ से लेकर अंत तक वाद्य लोकनाट्यों में बजते ही रहते हैं।

11. **दर्शक की भूमिका** - लोकनाट्यों के प्रदर्शन में दर्शक और नट दोनों का निकट संबध होता है और प्रायः दर्शक भी प्रदर्शन में हिस्सा लेते हैं।

12. **बहुजन संप्रेषण का माध्यम** - लोक नाट्य में भरत के मूल उद्देश्य की पूर्ति हुई यानी सार्व भौमिक भावों की अभिव्यक्ति, सभी वर्गों के लोगों के चरित्र का प्रदर्शन तथा सर्वसाधारण के हित, सुख और उपदेश का संवर्द्धन । बुद्ध का वचन बहुजन सुखाय लोकनाट्य पर निः संदेह लागू होता है।

लोकमंच में न कोई नाटककार और न ही उसका कोई आलेख होता है –"लोक नाट्य किसी के द्वारा रचा नहीं जाता; न उसके संवाद या गीत ही कोई लिखता है और न कोई उसका पूर्वाभ्यास होता है। फिर भी रंगमंच पर वह नाटक अपनी प्रबल परंपरा के कारण असफल नहीं होता। नाटक की धुनें पहले से सबको कंठस्थ रहती है।" [1] इसप्रकार लोकनाट्य परंपरा की उत्पत्ति एवं विशेषताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यह परंपरा जीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति करती है। आज लोकनाट्य परंपरा का जो स्वरूप हमारे सामने है, उससे स्पष्ट होता है कि यह ऐसे वटवृक्ष के समान है जिसने कई शाखाओं एवं प्रशाखाओं को जन्म दिया और उसे पोषित भी किया। आज भी होली आदि विशेष त्योहारों पर या शादी-बारातों में लोकनाट्यों का खुलकर अभिनय होता है जो उसकी लोकप्रियता को ही सिद्ध करता है।

---

[1] डॉ . महेंद्र भानावत-लोक नाट्य परंपरा और प्रवृत्तियाँ, देवीलाल समर - (अनुवचन) प्र. सं. 1971, पृ. 5

## 5.8 लोकनाटक तथा शास्त्रीय नाटक : अंतर

❖ लोकनाट्य लोकमानस की कृति होती है जबकि शास्त्रीय नाटक एक व्यक्ति विशेष की कृति होती है।

❖ लोकनाट्य में लोक (जन-जीवन) के उल्लास एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। इसके विपरीत शास्त्रीय नाटक से तात्पर्य उन कलात्मक अभिव्यक्तियों से है जिनका विकास बौद्धिक आधार पर कला, दर्शन और काव्य तत्वों के समन्वय से हुआ है।

❖ लोकनाट्य जितने लिखे जाते हैं, उससे कहीं अधिक वे रचे जाते हैं। ये तो अलिखित परंपरा का प्रचलित रूप है। शास्त्रीय नाटक में आरंभ से अंत तक की क्रियाएँ निश्चित एवं लिखित रूप में होती है।

❖ लोकनाट्य में शास्त्रों या नियमादि का कोई स्थान नहीं होता और न ही संकलन त्रय की अपेक्षा रखी जाती है। बौद्धिकता के फलस्वरूप शास्त्रीय नाटक में क्लिष्टता और एक नियमबद्धता होती है, संकलन त्रय की अपेक्षा रहती है।

❖ लोकनाट्य का दर्शक रंगमंच का सक्रिय अभिन्न भाग है और उसकी दृष्टि रसात्मक होती है जबकि शास्त्रीय नाटक के दर्शक में आलोचनात्मक दृष्टि की प्रधानता होती है और वह केवल आनंदभोक्ता बनकर मंच से दूर रहता है।

❖ लोकनाट्य में पात्र दृश्य या वेशभूषा का सहारा न लेकर मात्र अपने आंगिक-वाचिक अभिनय पर ही प्रमुख रूप से अवलंबित रहते हैं। इनमें स्त्रीपात्रों की भूमिका भी पुरुष ही निभाते हैं। शास्त्रीय नाटक में पात्र अपनी अभिनय-क्षमता, वेशभूषा, प्रसंगानुकुल प्रकाश व्यवस्था एवं अन्य ऊपरी साज-सज्जाओं से सज्जित होकर दर्शकों को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करता है कि वह अमुक पात्र है।

❖ लोकनाट्य व्यवसायिक नहीं है जबकि शास्त्रीय नाटक व्यवसायिक दृष्टि रखता है।

❖ जहाँ लोकनाट्य की प्रस्तुति अत्यंत सादगी लिए हुए और अनौपचारिक होती है वहीं शास्त्रीय नाटक में चमत्कारिकता और भव्यता की प्रधानता होती है।

❖ लोकनाटक का मंच खुला और आडंबरहीन होता है जबकि शास्त्रीय नाटकों में मंच पीठ तथा दर्शक दीर्घा के पीठ के बीच एक पर्दे का विधान होता है और आभूषण, वेशभूषा, प्रकाशव्यवस्था आदि पर विशेष बल दिया जाता है।

इसतरह लोकनाटक एवं शास्त्रीय नाटक दोनों के अलग-अलग रूप हैं और उनकी अपनी सीमाएँ भी हैं। परंतु कश्मीर से लेकर केरल तक संपूर्ण देश में फैली लोकनाट्य परंपरा में विविधता है। साथ ही उनमें एक-एक अंतःसूत्रों को एक मज़बूत कड़ी में बाँध रखने की शक्ति भी है।

## 5.8 स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक में लोकनाट्य शैली का प्रयोग

आधुनिक हिंदी नाटक में 1960 मे बाद लोकनाट्य शैली का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा। वास्तव में भारतेंदु युग से ही लोकनाट्य शैली का प्रयोग शुरू हो चुका था। इस युग में उभरी नवजागरण की ललक ने जहाँ साहित्य को चेतना के आयाम पर नयी करवट लेने के लिए प्रेरित किया वहीं उसे रचनात्मक स्तर पर नई दिशा दी एवं उसे नये साँचे में ढालने की कोशिश की। हिंदी की नाट्ययात्रा के प्रारंभ में ही देखा जाए तो भारतेंदु जी की नाट्य सफलता का रहस्य लोकरंगमंच के चैतन्य प्रभाव को आत्मसात करने में ही है। भारतेंदु कृत 'नीलदेवी' और 'भारत दुर्दशा' में गज़लों का आधिक्य ही नहीं 'होरी' और 'ठुमरी' क प्रयोग भी हुआ है। उनके एक और नाटक 'चंद्रावली' को 'रासलीला' का ही विकसित रूप माना जा सकता है जो अत्यधिक गीत संपन्न है। लोकनाट्य रूपबंध का प्रभाव और आधुनिकता-बोध दोनों दृष्टियों से उनका 'अंधेर नगरी' प्रहसन भी महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने अंधी न्याय-व्यवस्था के कटु यथार्थ को व्यंग्य रूप में स्थापित किया है। लेकिन भारतेंदु के पश्चात् एक अंतराल तक हिंदी का नाट्यक्षेत्र लोकनाट्य से अछूता रहा है। उसमें एक ठहराव-सा आ गया और हिंदी नाटक रंगमंच की वस्तु चिरकाल तक नहीं बन सका। किंतु छठे दशक के आरंभ में जब हिंदी रंगमंच एक नये आंदोलन के रूप में उभरने लगा तो लोकनाट्य रूपों और शैलियों को पुनः एक नया और बहुआयामी जीवन मिला।

लोकनाट्य के पुनर्जागरण के पीछे कई सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कारण थे जो समय समय पर नाट्यकार को प्रभावित करते रहे हैं। समाज में व्याप्त समस्याएँ स्वतंत्रता के बाद अधिक उभरकर सामने आने लगीं और समाज का आम आदमी अपने अधिकारों के लिए लड़ने की छटपटाहट महसूस करने लगा। राजनैतिक क्षेत्र में भी कई विसंगतियाँ फैलने लगीं । इन सब परिस्थितियों ने नाटककार को नये विषय दिये और अधिकांश रचनाओं में मध्यवर्ग एवं निम्न वर्ग के संघर्ष को उभारा ग्या। सामान्यतः

नाटककार भी इसी वर्ग से आया था, उसने उन समस्याओं को भोगा था, इसलिए नाटककार की लेखनी इस ओर घूमी। चूँकि समाज का एक बहुत बड़ा तबका अशिक्षित था, तो उसे उसी की शैली में समझाना आवश्यक था और उसमें पुनर्जागरण एवं विद्रोह करने की भावना को प्रबल भी करना था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध में फँसी भारतीय संस्कृति को मुक्त कर हमें अपनी मिट्टी और संस्कृति की पहचान कराना भी महत्वपूर्ण बन गया था। इसतरह स्वतंत्रता के बाद हमने हर क्षेत्र में अपने निजी और मौलिक स्वरूप की पहचान का प्रयत्न शुरू किया तो रंगमंच के क्षेत्र में भी भारतीय रंगमंच और नैजिक रंगदृष्टि की खोज प्रारंभ हुई। उस समय आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, अपने संपूर्ण विकास और उपलब्धियों के बावजूद शहरों तक, प्रबुद्ध वर्गों तक और भव्य प्रेक्षागृहों तक सिमटता जा रहा था। अन्य इलकट्रॉनिक माध्यमों के द्रुत विकास के कारण भी नाटकों के प्रति जनाकर्षण कम होता जा रहा था। तब अपनी विधा और अस्तित्व को लेकर चिंतित रंगकर्मियों और नाटककारों ने कुछ मौलिक और अर्थपूर्ण कर गुज़रने की आकांक्षा से अपने नाटकों में लोकनाट्य तत्वों के रचनात्मक प्रयोग का मार्ग अपनाया। यही नहीं, ब्रेख्त की नाट्य अवधारणा ने समूचे विश्व को ही नहीं, भारतीय नाटककारों को भी प्रभावित किया था। ब्रेख्त के थिएटर में विद्यमान लोकनाट्य तत्वों ने भारतीय नाटककारों को भी लोकनाट्य की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी।

यह तो सर्वविदित है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक प्रधानतः प्रयोगधर्मी है। अतः नित नये-नये प्रयोगों की प्रवृत्ति ने भी नाटककारों का ध्यान लोकनाट्य परंपरा के पुनरान्वेषण की ओर प्रेरित किया। परिणाम स्वरूप रंगमंच को दर्शकों से जोड़ने के प्रयत्न में लोकगीतों, संगीत एवं नृत्य का समावेश भी नाटकों में होने लगा। लोकनाट्य के विभिन्न रूपों, रूढ़ियों और विविध तत्वों का शैली के रूप में प्रयोग करके जहाँ रंगमंच के दृश्य धरातल पर नाट्यरचना से दर्शकों के एक व्यापक वर्ग को जोड़ने की कोशिश की गयी, वहीं रचनाशैली की एकरसता और ऊब को तोड़ने का भी सार्थक प्रयास किया गया। लगभग देश के विभिन्न शहरों में, विभिन्न रंगकर्मियों ने एक नए रंग और रूप के साथ, लोक नाटकों को पेश करना शुरू किया। इस दृष्टि से संभवतः देश के सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति हबीब तनवीर हैं। हबीब तनवीर ने विशेषकर छत्तीसगढ़ के लोक जीवन को, नाट्यरूप में आधुनिक रंगमंच के साथ जोड़ने का साहसपूर्ण एवं सराहनीय कार्य किया।

इसी तरह बिहार में बिदेशिया को हृषिकेश सुलभ के लेखन और सतीश आनंद के निर्देशन ने 'अमली' नाटक के रूप में न केवल पुनर्जीवन दिया, बल्कि उसे आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिक भी बनाया। आंध्र में यक्षगान की समकालीनता को लेकर गंभीर चिंतन एवं प्रयोग किए गए। डॉ. शंकर शेष के चर्चित नाटक पोस्टर को मध्यप्रदेश की पांडवानी लोक शैली में प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की गयी। 1950-60 के बीच की 'आगरा बाजार' और 'मिट्टी की गाड़ी' उनकी महत्वपूर्ण नाट्य-प्रस्तुतियाँ हैं। इप्टा से प्राप्त रंग-संस्कारों के साथ-साथ हबीब तनवीर पर ब्रेष्टिय शैली का विशेष प्रभाव रहा। परन्तु ब्रेख्त की शैली का सर्जनशील उपयोग करते हुए अन्होंने खुद अपनी एक नयी शैली निर्माण की। हबीब तनवीर ने अपने 'नया थियेटर' के अन्तर्गत छत्तीसगढ़ एवं राजस्थान की लोककथाओं का लेखन-निर्देशन किया, जो लोककलाकारों द्वारा उन्हीं की भाषा और उन्हीं के लोकरूपों में प्रस्तुत की गई। "हबीब तनवीर की लम्बी रंग-यात्रा में, 'अगरा बाजार', 'मिट्टी की गाड़ी', 'बहादुर कलारिन', 'चरणदास चोर'आदि की ख्याति और उपलब्धि निर्विवाद है। हबीब तनवीर के रंगकर्म के सम्बन्ध में श्री देवेन्द्र राज अंकुर कहते हैं, "उनके अभिनेता महानगरों के शिक्षित नवयुवक-युवतियाँ न होकर गाँव की जमीन से जुड़े हुए वे लोग थे, जो अपने साथ वहाँ की लोकपरंपराओं को लेकर आये थे। दूसरे उन्होंने अपने नाटकों में किसी एक भाषा का प्रयोग न करके एक प्रान्त विशेष की बोलियों का इस्तेमाल किया और अन्ततः दूसरे नाटककारों की रचनाओं की अपेक्षा स्वयं नाट्य-रचना का काम ज्यादा-से ज्यादा किया। इससे जहाँ उनके रचनात्मक व्यक्तित्व की बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते हैं, वहीं लगभग चालीस वर्षों तक लगातार एक ही दिशा में किये गये रंगकार्य के ठोस परिणाम भी सामने आते हैं, जिसने परवर्ती रंगकर्मियों को प्रेरित किया।"[1]

जहाँ हबीब तनवीर जैसे निर्देशकों ने किसी लोक कथा का आधार लेकर नाटक स्वयं लिखकर प्रस्तुत किये वहीं दूसरी ओर समकालीन सन्दर्भों से जुड़े कथ्यवाले नाटक को पारम्परिक शैली में प्रस्तुत करते हुए नये को पुराने के साथ जोड़ने का प्रयोग किया। शान्ता गाँधी का भवई शैली में 'जस्मा ओडन' राजिन्दरनाथ का कीर्तन शैली में

[1] देवेंद्रराज अंकुर -पहला रंग , पृ. 31

'घासीराम कोतवाल', ब.व. कारंत का यक्षगान शैली में शेक्सपियार का नाटक('मैकबेथ', 'बरनम वन') बिदेसिया शैली में संजय उपाध्याय का 'मैला आंचल' जैसे कई रंग-प्रयोग हिन्दी रंगकर्मी का अपनी जड़ों से जुड़ने का प्रयास ही दर्शाते हैं। "अर्थात् एक ओर तो लोक नाटकों को, उनके पारंपरिक रूप में एक नयी साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया जाने लगा। दूसरी ओर आधुनिक हिंदी एवं अन्य भारतीय नाटकों को, लोकनाट्य शैलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने लगा तथा तीसरी ओर लोक कथाओं एवं गीतों और नृत्यों को, आधुनिक नाटकों में समाने की चेष्टाएँ की जाने लगीं। इन सारी बातों से यही नतीजा निकलता है कि समकालीन हिंदी नाटक, लोक नाट्य शैलियों के प्रयोग की वजह से अधिक समय सार्थक और सशक्त बना।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटकों में लोकनाट्य शैली के प्रयोग से महत्वपूर्ण बात यह रही कि प्राचीन द्वारा वर्तमान को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी। इन नाटकों में कथ्य के स्तर पर अतीत को समसामयिक परिस्थितियों से जोड़ा गया एवं आधुनिक संवेदनाओं को अभिव्यक्ति दी गयी। लोक नाट्य शिल्प का अनेक रूपों में प्रयोग हुआ और हिंदी नाट्य क्षेत्र में इस प्रयोग से नया उन्मेष एवं नया जीवन संचरित हुआ। आगे लोकनाट्य से प्रेरित हिंदी नाटकों में कथ्य, शिल्प एवं रंगमंचीय धरातल पर हुए प्रयोगों से जो नवीन दिशाएँ खुली हैं और जिससे भारतीय रंगमंच की नयी पद्धतियाँ और नयी शैलियाँ निर्मित हो रही हैं, उसपर विचार विश्लेषण करना समीचीन होगा।

### 5.8.1 कथ्यगत प्रयोग

लोकनाटक सामान्यतः किसी परंपरागत कथा को लेकर चलता है। कुछ नाटककारों ने लोक कथा को आधार बनाकर इनपर नाटकों की रचना की है। इस श्रेणी में 'सगुन पंछी' और 'एक सत्य हरिश्चंद्र' (लक्ष्मीनारायण लाल), 'चरनदास चोर' (हबीब तन्वीर), 'जैमती' (हमीदुल्ला'), 'हानूश'(भीष्म साहनी), 'बजे ढिंढोरा उर्फ खून का रंग' (अशोक मिश्र), 'दुलारीबाई' (मणि मधुकर) आदि कई नाटक लोककथाओं के आधार पर लिखे गये हैं। पर नाटककारों ने इनमें भी नवीनता का समावेश करने का प्रयत्न किया है। ध्यातव्य है कि नाटक किसी भी समय का हो सकता है, पर रंगमंच

[1] नेमिचंद्र जैन (सं) - नटरंग, सी.भास्कर राव- आधुनिक हिंदी नाटक और लोक नाट्य परंपरा, जनवरी 1991-सितंबर 1991, खंड 14, अंक 55, पृ.38

हमेशा अपने समय का होता है। अतः समसामयिक चेतना से संपृक्ति उसकी अनिवार्य शर्त है। केवल लोकनाट्य के बाह्य स्वरूप को धारण कर लेने से अथवा उसकी रूढ़ियों को स्वीकार कर लेने से कोई नाटक जीवंत नहीं बन सकता। 'बकरी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना), 'रसगंधर्व' (मणिमधुकर), 'आला अफसर' (मुद्राराक्षस) जैसे नाटकों की प्रयोगधर्मिता एवं लोक-प्रियता का मुख्य कारण यही है कि इसमें नाटककारों ने समसामयिक कथानकों , एवं संदर्भों को लोक नाट्यों के रूप में पेश किया है। कहीं-कहीं नाटककारों ने कथानक एवं शिल्प दोनों लोक नाट्य से लिये हैं, लेकिन उनका उद्देश्य जहाँ एक ओर अपनी भूमि एवं परंपरागत संस्कार की ओर दर्शकों को लेना है, वहीं वे समकालीन परिस्थितियों को भी नाटकों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। कहीं स्त्री-पुरुष संबंधों को लोकनाट्य शिल्प एवं क्थानक के माध्यम से अभिव्यक्ति प्रदान की है तो कहीं समकालीन शासन ववस्था और सामाजिक विसंगतियों को उभारा गया है।

नाटककारों ने इन लोकनाटकों के रूप को पूर्णातः उसी रूप में नहीं अपनाया बल्कि अपनी कल्पना शक्ति से उस रूप में परिवर्तन भी प्रस्तु किये हैं । कहीं- कहीं शुद्ध लोक नाट्य प्रयोग हैं तो कहीं सिर्फ कथानक लोक साहित्य का है। कहीं सिर्फ शिल्प लोक नाट्य से लिया गया है एवं कथानक पूर्णतः आधुनिक। कहीं लोकनाट्य के शिल्प एवं आधुनिक शिल्प का मिश्रित रूप है। कहीं-कहीं कथानक के प्रारंभ में सिर्फ नटी का प्रवेश किया गया है। इसप्रकार स्वातंत्र्योत्तर नाटाकों में लोक-नाट्य कला का प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों एवं भिन्न-भिन्न संदर्भों मे हुआ है।

नाटकों में लोक नाट्य शैली के प्रयोग से कथानक में एक नयापन एवं ताज़गी आयी है। नाटक 'तोता-मैना' डॉ. लक्षीनारायण लाल ने 1960 में लिखा था। किस्सा तोता-मैना एक प्रचलित लोक गाथा है, जिसमें अंगध्वज राजा की कथा है। इस नाटक के माध्यम से डॉ. लाल स्त्री-पुरुष संबंधों पर प्रकाश डालना चाहते थे। इस नाटक का शिल्प भी लोक नाट्य शैली पर आधारित है। इसी का पुनर्लिखित रूप 1977 में 'सगुन पँछी' के नाम से प्रकाशित हुआ। सगुन पँछी में दो वर्गों के दांपत्य-जीवन की तुलना करते हुए जन सामान्य के स्वस्थ यौन संबंध को रेखांकित किया गया है। तोता-मैना का विवाद नर-नारी का शाश्वत विवाद है। इस नाटक के सभी प्रसंग यह स्पष्ट करते है कि विरोधों के बावजूद स्त्री और पुरुष एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं।

डॉ. लाल के अतिरिक्त मणि मधुकर, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, मृणाल पांडे, हबीब तनवीर और हमीदुल्ला तथा अन्य कई नाटककारों की नाट्यरचनाओं में लोकनाट्य प्रयोग का संयोजन मिलता है। 'रस गंधर्व' (मणि मधुकर) के पूर्वार्द्ध के मध्य में राजा भोज की कथा का माध्यम लेकर लोककथा को प्रवेश दिया गया है। 'खेला पोलमपुर' (मणि मधुकर) में भी लोकनाट्य की रूढ़ियों, कथा गायन के रस और लोक कथाओं का संयोजन कर समकालीन समाज और राजनीति की विसंगतियों पर चोट करने की चेष्टा की गयी है।

वस्तु संयोजन में मणिमधुकर कठपुतली का कलात्मक प्रयोग करते हैं जो उनकी एक विशेषता है। इनके नाटकों के दर्शक अधिक सक्रिय भूमिका निभाते हैं क्योंकि छोटे-छोटे प्रसंगों और बिखरी-बिखरी घटनाओं को परस्पर जोड़ने और संगति बैठाने का काम नाटककार दर्शकों पर ही छोड़ देता है। इसप्रकार कथ्य के स्तर पर लोक नाट्य शिल्प के माध्यम से एक ओर अपनी संस्कृति, अपनी परंपरा, अपनी रंग-शैली से जुड़ने का प्रयास किया गया है तो दूसरी ओर आधुनिक अनुभूति, संवेदनाएँ एवं समस्याओं को अभिव्यक्ति प्रदान की है।

### 5.8.2 शिल्पगत प्रयोग

स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में लोक नाटकों का प्रयोग शिल्प के धरातल पर अपना कर नाटकों को एक नया अर्थ एवं रूप मिला है। सर्वेश्वर दयाल सकसेना, मुद्रा राक्षस, मणि मधुकर, बृजमोहन शाह आदि कई नाटककारों ने लोक नाट्य शैली से प्रभावित होकर नवीन शिल्पगत प्रयोग किये हैं। सर्वेश्वर दयाल ने अपने राजनैतिक व्यंग्य नाटक 'बकरी' का शिल्प लोक नाट्य शैली पर रचा है। यह नाटक सामान्य जन के लिए लिखा गया नाटक है। श्री जयदेव तनेजा के शब्दों में- "यह नाटक कथ्य और शिल्प की दृष्टि से एक ऐसा अभिनव प्रयोग है, जो एक स्तर पर रंगमंच की सर्वव्याप्ति की संभावनाएँ उजागर करता है तो दूसरे स्तर पर खास तौर से हिंदी के व्यंग्य प्रधान नाटकों को एक नया अयाम देता है। एक स्तर पर रंगमंच को कला की कसौटी पर भी खरा उतारते हुए सामाजिक यथार्थ से, राजनीति से जुड़ने की तमीज़ सिखाता है, तो दूसरे स्तर पर उन

तमाम तकनीकी जटिलताओं को फोड़ने की क्षमता प्रदर्शित करता है, जो जन साधारण को अभिजात्य वर्ग से, गाँव को शहर से दूर रखने में सहायक होते रहे हैं।"[1]

कुछ साहित्यिक नाटकों का कथ्य एवं शिल्प-दोनों लोक रंग से रंगे हुए हैं जैसे-डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का 'एक सत्य हरिश्चंद्र'। शिल्प की दृष्टि से यह पूर्णतः मौलिक और अपनी धरती से उपजा अभिनव रंगप्रयोग है जिसमें नौटंकी, रामलीला, पारसी और यथार्थवादी शैलियों का सम्मिश्रण किया गया है। श्री नरनारायण राय के शब्दों में – "एक सत्य हरिश्चंद्र' में गाँव की मिट्टी की महक उसकी आत्मीय विशेषता है। शास्त्रीय और संस्कृत नाटकों की रूढ़ियों का उपयोग कर बड़े कौशल से नाटक को लोक धर्मिता की बगल में ला खड़ा किया गया है।"[2]

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में विभिन्न लोकनाट्य शैलियों का प्रयोग किया गया है। उत्तरप्रदेश की नौटंकी शैली का उपयोग हिंदी नाटकों में अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक हुआ है। विनोद रस्तोगी का 'नई लहर', मुद्रा राक्षस का 'आला अफसर', सक्सेना का 'बकरी' आदि कई नाटकों में नौटंकी शैली का उपयोग किया गया है।

हिंदी के नये प्रयोगशील नाटक पात्रों की विशिष्ट वेशभूषा का आग्रह लेकर नहीं चलते। पात्र भी आवश्यकतानुसार अपनी भूमिकाएँ बदलते रहते हैं। उदाहरण के लिए 'रसगंधर्व' में युवती धार की राजकुमारी भी है, पुतली भी है, नारी भी है, राजमाता भी है, प्रधानमंत्री भी है, अप्सरा भी है, नटी भी है। इसी तरह उसमें आया, लेखक, राजकवि भी है, जनकवि भी है, अफसर भी है, सूत्रधार भी है। पात्र 'स' कैदी भी है, बटन होल में गुलाब का फूल धारण करनेवाला समर्थ पुरुष भी है। लाल के 'सगुन पंछी' और 'एक सत्य हरिश्चंद्र' में भी यह बात देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति लोक नाट्य शैली की प्रेरणा से आयी है।

नाटकों के पात्रों द्वारा विभिन्न मुखौटों का प्रयोग भी लोक नाट्य शैली के अंतर्गत आता है। डॉ. लाल के 'सूर्यमुख' तथा 'नरसिंह कथा' के अतिरिक्त शंभुनाथ सिंह के

---

[1] जयदेव तनेजा- समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच, प्र.सं. 2002 , पृ.28

[2] डॉ. नरनारायण राय - नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की नाट्य साधना, पृ.123

'दीवार की वापसी' तथा बी.एम. शाह के 'त्रिशंकु' में भी मुखौटों का प्रयोग किया गया है। हमीदुल्ला के 'दरिंदे' और सर्वेश्वरदयाल के 'बकरी' में पात्र पशु मुखौटों से युक्त होकर मंच पर आते हैं। नाटककारों ने नट-नटी तथा विदूषकों का विशेष रूप से प्रयोग किया है। कथानक आधुनिक हो या पौराणिक, शिल्प लोक नाटकों का हो या आधुनिक, विदूषक हर जगह प्रवेश पा गये हैं। 'नरसिंह कथा' में जयविजय विदूषक, 'सबरंग मोहभंग' का पुरुष-स्त्री, 'कहत कबीरा' (शिवकुमार जोशी) का मन्नीराम, 'त्रिशंकु' (बृजमोहन शाह) का थियटरवाला, लोक नाटकों के विदूषक एवं नट-नटी से ही प्रेरित प्रयोग हैं। इसके आलावा लगभग सभी नाटकों में गीत, नृत्य, एवं पद्यात्मक संवादों का प्रयोग भी हुआ है।

इसप्रकार स्वातंत्र्योत्तर नाटकों में लोक नाट्य शैली के प्रयोग की यह एक विशेषता रही है कि नाटककारों ने अपने परंपरागत संस्कारों की तरफ़ दृष्टि दौड़ायी है और साथ ही अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा उनमें नये-नये प्रयोग भी किये हैं। यही कारण है कि इनमें लोक नाट्य का शिल्पगत प्रयोग नये आयामों को छूता है।

### 5.8.3 रंगमंचीय प्रयोग

लोकनाटक मूलतः प्रस्तुतीकरणात्मक होता है। इसके प्रभाव से हिंदी नाटकों के प्रदर्शन में एक नया मोड़ आया। मंच की भव्यता, साज-सज्जा, दृश्य विधान, रंगोपकरण आदि के स्थान पर खुले एवं सादे मंचों ने जगह ले ली। खुले मंच पर सहज रूप से हुई अभिव्यक्ति को दर्शक वर्ग ने खुले हृदय से सराहा है। 'यक्ष प्रश्न' का मंचन खुले आकाश के नीचे हुआ। पहला भाग गोधूलि बेला में और दूसरा जलती मशालों की रोशनी में। डॉ. लाल का ही 'संस्कार ध्वज', 'सगुन पँछी', भारत भूषण अग्रवाल का 'अग्निलीक', डॉ. चंद्र का 'भस्मासुर अभी जिन्दा है', बादल सरकार का 'जुलूस' आदि कई नाटक खुले मंच पर प्रस्तुत किये जा चुके हैं।

"समकालीन हिंदी रंगमंच पर लोकरंग परंपरा का प्रयोग और प्रभाव मुख्यतः तीन धाराओं के होनेवाले प्रदर्शनों में दिखाई देता है। पहला, परंपरागत लोकनाटकों के प्रस्तुतीकरण, दूसरा, संस्कृत नाटकों एवं पश्चिमी नाटकों के लोक रंगी प्रदर्शन और

तीसरा पारंपरिक नाटकों की मूलभूत विशेषताओं को आत्मसात करते नए नाट्यलेखों के प्रदर्शनों में किसी न किसी रूप में यह प्रभाव गहराई में विद्यमान है।" [1]

लोकनाट्य के प्रयोग के पीछे जहाँ अपनी परंपरा से जुड़ने का आकर्षण है वही मंच की समस्या को दूर करने में भी इसका महत्वपूर्ण हाथ रहा है। लोक नाटकों का मंच बहुत सादा, सहज एवं सरल होता है। कहीं पर भी चौकी या दरी बिछाकर लोगों के एकत्र हो जाने पर नाटक शुरू हो जाता है। लोक नाटकों के इस सहज रूप ने नाटककारों एवं अपनी ही परंपरा को भूल बैठे दर्शकों को आकर्षित किया है। नाटककार और दर्शक प्रेक्षागृहों की चकाचौंध एवं जटिलताओं से नाटक को बाहर लाना चाहते हैं जिसमें लोक नाट्य शिल्प के नवीन प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं।

इसप्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लोकनाट्य के प्रयोग से स्वातंत्र्योत्तर हिंदी में कथ्य, एवं रंगमंच के धरातल पर नई-नई संभावनाओं की राह निकल आई है, साथ ही हमें अपनी विपुल लोक संस्कृति की पहचान भी प्राप्त हुई है।

अतः यह स्पष्ट है कि आधुनिक काल के आरंभिक दौर से लेकर आज तक अंग्रेज़ी और दूसरे पाश्चात्य नाट्य प्रयोगों से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी हमारे रंगकर्म का एक एक महत्वपूर्ण हिस्सा अपने नाट्य-प्रयोगों केलिए अपने वैविध्यपूर्ण एवं प्राणवत लोक नाट्य रूपों से प्रेरणा ग्रहण करता रहा है और कर भी रहा है। ब.व. कारंत के शब्दों का उल्लेख करते हुए जयदेव तनेजा ने लिखा है- "हमारा लोक रंगमंच चूँकि जीवंत रंगमंच है, इसलिए आज हमें वही प्रेरणा दे सकता है, न कि शास्त्रीय रंगमंच। शास्त्रीय रंग-परंपरा का प्रयोग हम केवल दार्शनिकता या सिद्धांत के स्तर पर ही कर सकते हैं।" इसके अतिरिक्त, "हम कितने भी आधुनिक या शहरी क्यों न हो जाएँ, पर आज भी हमारी जड़े गाँव में ही हैं, हमारी 'इंस्टिक्टीविटी' का संबंध आज भी गाँव से ही है। इसलिए भारतीय रंगमंच की खोज में लोक रंगमंच से जुडना मुझे सही लगता है। भारतीय संगीत और रंगमंच की चर्चा करनी हो तो तमाशा, यक्षगान, भवई वगैरह के अलावा भला हम और किस भारतीय रंगमंच की बात कर सकते हैं?"[2]

---

[1] आशीष त्रिपाठी-समकालीन हिंदी रंगमंच और रंगभाषा, प्र. सं.2007, पृ.270

[2] डॉ.जयदेव तनेजा : हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा, प्र.सं. 1994, पृ.127

आगे लोकनाट्य शैली से प्रेरित चार नाटकों का विश्लेषण किया गया है जिनमें कथ्य, शिल्प और रंगमंच के स्तर पर प्रयोग हुआ है।

## 5.9 हबीब तनवीर : चरनदास चोर

हबीब तनवीर भारत देश के शीर्ष-स्तरीय रंग कर्मियों में एक है। छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य के अद्वितीय प्रयोग ने उन्हें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित बनाया है। उन्होंने अपनी कल्पनाशीलता, संयोजन क्षमता, निर्देशकीय क्षमता, सामाजिक उत्तरदायित्व और विचारशीलता से लोकनाट्य को नई दृष्टि दी। हबीब जी ने मिट्टी की गाड़ी, आगरा बाज़ार, चरनदास चोर, बहादुर कलारिन आदि अनेक नाटकों की सृष्टि की। शहरी और ग्रामीण रंगमंच के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में उन्होंने महत्वपूर्ण काम किया है। लोक कलाकारों को अपने नाट्य दल क अभिन्न अंग बनाकर अपनी प्रस्तुतियों को प्रामाणिकता के साथ-साथ एक नया आयाम देने में वे समर्थ हुए हैं। लोकनाट्य और लोककला की ताकत और शख्सियत को समझने की, उसे दिल में उतारने की और उसके प्रति लोगों के मन में इज्ज़त पैदा करने में हबीब जी को बडी कामयाबी मिली है। उन्होंने अपने नाटकों के द्वारा नई ज़मीन की तलाश की है। उन्होंने अपने कार्य क्षेत्र के रूप में खासकर छत्तीसगढ़ी लोक नाट्य और लोक संस्कृति को ही चुना है।

श्री हबीब तनवीर का 'चरनदास चोर' मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ अंचल की लोकशैली 'नाचा' में ढ़ाला गया नाटक है। प्रस्तुत नाटक 1975 में लिखा गया है जिसने अपनी ताज़गी और रोचकता के कारण पूरे देश में तहलका मचा दिया। डॉ. हबीब तनवीर के शब्दों में "चरनदास चोर के प्रोडंक्शन को सारी दुनिया मानती है। यह कारण है कि 1982 में 'एडिनबरा' में अन्तर्राष्ट्रीय नाट्य समारोह की 52 प्रस्तुतियों के बीच 'चरनदास चोर' को प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। नाचा कलाकारों की ओजपूर्ण और कुशल प्रतिभा पुरस्कृत हुई। इसके बारे में श्री प्रतिभा अग्रवाल का कहना है- "यह दर्शकों का मनोरंजन करता था। उन्हें नाच-गाने के रस का आनंद देता था उन्हें हँसाता था, उनके आसपास की दुनिया की सच्चाई को उनके सामने खोलकर रखता था, धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र में दिखलाई पडनेवाली विसंगतियों से उनका साक्षात्कार कराता था।"[1] वस्तुतः हबीब तनवीर ने बड़ी कुशलतापूर्वक इस नाट्य के कथ्य, शिल्प, शैली और रंगमंच के स्तर पर प्रयोग का द्वार खोलकर नया आयाम प्रदान किया है।

---

[1] वागर्थ - डॉ. हबीब तनवीर - वागर्थ के संवाद से , पृ.46

### 5.9.1 कथ्यगत प्रयोग

प्रस्तुत नाटक लोककथा पर आधारित है जिसके सूत्र वर्तमान समाज से जुड़ जाते हैं। इसका कथानक वास्तविक है और काल्पनिक भी। प्रस्तुत नाटक की कथा राजस्थान की लोककथा पर आधारित है। तनवीर जी ने स्वयं कहा है कि " . . . . . विजयदान देथा ने राजस्थान की एक मशहूर लोक-कथा मुझे सुनाई जिसमें एक ऐसे चोर की कहानी कही गई थी जो खेल-खेल में अपने गुरु को वचन दे बैठता है कि 'मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा' और अपने आपको इस को वचन को निभाने के लिए मजबूर पाता है।"[1] नाटककार ने इसी कथा को नाट्यरूप में 'नाचा' शैली में ढाला। प्रारंभ में यह नाटक छत्तीसगढ़ी में लिखा गया था जिसे बाद में खड़ी बोली हिंदी में लिखा गया।

नाटक में चरनदास एक चोर है, जिसने यह प्रण लिया था कि वह कभी झूठ नहीं बोलेगा। चोर होने के बावजूद वह लोगों का प्रेम और श्रद्धा प्राप्त करता है क्योंकि चोरी के धन को वह गरीबों और ज़रूरतमंदों के बीच बाँट देता है। लेकिन अपनी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा के कारण परेशानियों में पडता रहता है और इस प्रकार कथा आगे बढ़ती है। विभिन्न घटनाओं, स्थितियों के बीच से आगे बढ़ती हुई कथा कहीं आज के समाज की हल्की चुटकी लेती है। कहीं उसे करारा तमाचा लगाती है, कहीं उस पर तीखा व्यंग्य करती है तो कहीं पलभर रुककर सोचने को मजबूर करती है। ऐसे ही नाटक बढ़ता है और सुखान्त की ओर बढ़ता हुआ अचानक दुखान्त में रूपान्तरित हो जाता है। इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने समाज के एड्ड सत्य को उत्घाटित ड्डिया है। डॉ. नीना शर्मा के अनुसार- "वर्तमान आदमी जब तक बेईमानी का चोला पहन कर घूमता है तब तक वह इस समाज की विषैली व्यवस्था के बाणों से बचा रहता है जहाँ उसने सत्य को अपनाया वही इन बाणों की शय्या पर उसे सोना पडता है। इसी सत्य का उत्घाटन हबीब तनवीर ने बडे हल्के-फुल्के किन्तु सशक्त कथ्य के माध्यम से बडे ही मनोरंजन रूप में प्रस्तुत किया है।"[2]

### 5.9.2 शिल्पगत प्रयोग

'चरनदास चोर' नाटक की भाषा, गीत, संगीत एवं नृत्ययोजना तथा मंच संयोजन में नाचा शैली का प्रयोग देखा जा सकता है। नाटककार ने स्वयं इसका प्रयोग छत्तीसगढ़

---

[1] हबीब तनवीर – चरनदास चोर, (भूमिका), प्र.सं.1986, पृ.16-17

[2] डॉ. नीना शर्मा - आधुनिक हिंदी नाटकों में लोकनाट्यों के प्रभाव का अनुशीलन, प्र . सं. 1999, पृ. 152

के नाचा के लोक कलाकारों द्वारा मंचित किया है, जिसके कई सफल प्रदर्शन भारत ही नहीं, वरन् भारत के बाहर विदेश में भी किये गये है।"[1]

नाचा एक नृत्य प्रधान लोकनाट्य रूप है। नृत्य की प्रधानता होने पर पात्रों को नृत्य और गीत दोनों में पारंगत होना आवश्यक है। चरनदास चोर में कथा के अनुरूप पात्र का संयोजन किया गया है। इसकी कथा लोककथा है। और नाटक के पात्र सामाजिक परिवेश में दृष्टिगोचर होते हैं जिसमें, हवलदार, सेठानी, पूजारी, किसान, मालगुलजार आदि पात्र हमारे आसपास के ही लगते है। अन्य पात्रों में राजा, मंत्रि आदि की योजना भी की गयी है। लोकनाट्य शैली में इस प्रकार के कई पात्र देखे जा सकते हैं। पात्र योजना में और एक खासियत यह है कि इस नाटक का नायक एक साधारण व्यक्ति है। लोकनाट्य शैली की भी यह एक खासियत है। लोकनाट्य की विशेषता यह है कि उसका नायक धीरोदात्त हो ज़रूरी नहीं है। कोई साधारण व्यक्ति भी उसका नायक हो सकता है चाहे वह राजा हो या चोर। इस नाटक का नायक एक चोर है। जो सत्य की प्रतिष्ठा पर बल देता है। उसका यही सत्य बोलना उसकी मौत का कारण बनता है। इस नाटक के अन्य पात्र भी सामाजिक पात्र है। इस नाटक के पात्रसंयोजन में ऐसा प्रयोग हुआ है कि एक पात्र एक से अधिक पात्रों की भूमिका का निर्वाह करता है क्योंकि कई पात्र ऐसे हैं। जो एक बार मंच पर आने के बाद दुबारा नहीं आते हैं। पात्रों की वेशभूषा साधारण है और जो पात्रोचित भी है। पात्रों की वेशभूषा के लिए भगवा कपडा आदि का प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार पात्रों की मुख-सज्जा भी बिलकुल साधारण ही है। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'चरनदास चोर' पात्रयोजना में नाचा लोकनाट्य शैली के प्रयोग का निर्वाह करता है।

नृत्य प्रधान लोकशैली 'नाचा' में रचित चरणदास चोर के संवाद में 'लोकभाषा' प्रयोग स्वाभाविक है। यानी कि जिस अंचल से नाचा जुडी है उस क्षेत्र की भाषा का प्रभाव तो ज़रूर नाचा में होगा ही। लोगों द्वारा प्रयुक्त भाषा में जो खासियत है उसे ही नाटक में उतारा गया है। पूरे नाटक में छोटे छोटे संवादों का प्रयोग है। आम बोलचाल की भाषा ऐसी ही होती है। नाचा में भी इसी तरह के संवाद मिलते हैं। संवादों में कहीं-कहीं हास्य की सृष्टि भी हुई है। नाचा की ये विशेषतायें 'चरनदास चोर' नाटक के संवाद और भाषा में भी हैं। 'चरनदास चोर' में आम बोलचाल की भाषा का उपयोग किया गया है। इसके कई उदाहरण दृष्टव्य हैं-

---

[1] डॉ. नीना शर्मा - आधुनिक हिंदी नाटकों में लोकनाट्यों के प्रभाव का अनुशीलन, प्र . सं. 1999, पृ. 157

"हवलदार : आऊ का करबे कथम साले तोर हाथ गोड या काटके तिडी-बिडी बगरा हूँ बेटा।

चोर : (रोते हुए) मैं मरगेंव मोर ढाई मोर हाथ गोड सब तिड़ी बिड़ी बगरे रही जी! अऊ का करबे महाराज।

हवलदार : गोर गुस्सा या भडकाथस रे तोड हाथ गोड ला काटके चिक्कन चटनी असन पीस के फ्राई करवा के काला कुत्ता ला खवाहूँ बेटा।"[1]

इन संवादों में देशी भाषा का खूब प्रयोग किया गया है। अंचल विशेष की भाषा होने से नाटक पढते वक्त पूरी तरह संवाद को समझने में थोडा बहुत मुश्किल हो जाता है। वही इन संवाद और भाषा की कामयाबी है यानी लोकशैली को नाटक में भरपूर लाया गया है। इसके अलावा अंग्रेज़ी बोली का भी प्रयोग हुआ है। जैसे 'चिक्कन', 'पीस', 'फ्राई' आदि। इस नाटक में गद्यसंवादों का ही प्रयोग है। पद्य का उपयोग गीत के रूप में किया गया है। 'नाचा' शैली पर आधारित 'चरनदास चोर' नाटक में नृत्य एवं गीत दोनों का प्रयोग 'नाचा' के गीतों एवं संगीत के अनुसार किया गया है। इस नाटक के बारे में डॉ.नीना शर्मा का कहना है – "इसके संवाद जहाँ नाटक को आगे बढ़ाते हैं वही गीत भी कथासूत्रों को जोडने एवं कथा को आगे बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण सहयोग देते हैं।"[2] इस प्रकार कथासूत्रों को जोडने वाले कई गीत नाटक में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे –

"चरनदास यम के चोरी तैं मत करबे
सत्यनाम सही नाम नहीं पावे हो...
चरनदास यम ...
झूठ नई छटे हो झूठ के बोलइया से,
जुआ नई छटे हो जुआ के खेलइया से
अपन जीव जीव के कइसे मुक्ति लगावे हो
चरनदास यम ..।"[3]

---

[1] डॉ. हबीब तनवीर- चरणदास चोर – प्र. सं. 2004, पृ.114

[2] डॉ. नीना शर्मा - आधुनिक हिंदी नाटकों में लोकनाट्यों के प्रभाव का अनुशीलन - पृ. 154

[3] डॉ. हबीब तन्वीर – चरणदास चोर – पृ. 145

उपर्युक्त गीत मात्र गीत न होकर एक सच्चाई की ओर संकेत भी हैं। यानी कि यह गीत केवल तथ्य को सामने लाने वाला नहीं, उससे आगे का भी है। गीतों के माध्यम से नाटककार ने कथा को बाँधे हुए उसे व्यंग्य से रोचक बनाने का प्रयास भी किया गया है।

नाटक में गीतों का प्रयोग कथासूत्र को आगे बढ़ाने के लिए हुआ है। एक ओर विशेषता भी गीतों में समाहित है जो नाटक की घटनाओं पर टिप्पणी करता भी है। 'चरनदास चोर' नाटक में प्रयुक्त इस प्रकार के गीतों पर नज़र डालने पर लगता है कि वे गीत कथा को आगे बढ़ाने के साथ-साथ कथा पर टिप्पणी भी करते हैं।

### 5.9.3 रंगमंचीय प्रयोग

'चरनदास चोर' नाटक की योजना साधारण एवं मुक्ताकाशी रंगमंच की माँग करती है। लोकशैली पर आधारित हर नाटक ऐसे खुले रंगमंच पर ही खेला जाता है। नाचा का मंच चारों ओर से खुला होता है। एक विशाल मैदान में तख्त डालकर पीछे पर्दा डालकर भी नाचा का प्रदर्शन होता है। चरनदास चोर नाटक की हर घटना जो किसी भी विशेष प्रकार की साज-सज्जा के बिना मुक्ताकाशी रंगमंच पर खेला जा सकता है।

इस नाटक के दो अंक हैं। जहाँ पहले अंक को पाँच दृश्यों में बाँटा है तथा दूसरे अंक में भी पाँच दृश्य हैं। सभी दृश्य किसी सजावट या पर्दे अथवा प्रकाश व्यवस्था के बिना आबाध गति से चलते हैं। पात्रों का संयोजन इस प्रकार किया गया है कि पात्रों के प्रस्थान एवं प्रवेश से दृश्य परिवर्तन होता है। पूरे नाटक में ऐसा कोई दृश्य नहीं है कि जिसके मंचन में कठिनाई आये।" [1] मंचन प्रक्रिया में गीतों एवं नृत्य का प्रयोग भी प्रभावपूर्ण है। नाटक में ऐसे कई पात्र हैं जो गीत एवं नृत्य के सहारे मंच पर आते हैं और चले जाते हैं। नाचा लोकशैली में भी ये सब विशेषताएँ हैं जिसे चरनदास चोर नाटक में खूब उतारा गया है। नाचा में भी पात्रों के प्रवेश प्रस्थान के द्वारा दृश्य परिवर्तन होता है। इस नाटक में प्रतीक योजना और मूक अभिनय का सहारा भी लिया गया है। जैसे धान के बोरे उठाना, मंदिर से गहने चुराना, खजाने का बक्सा मंच पर लाना आदि को मात्र अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस प्रकार संपूर्ण नाटक लोकनाट्य के मुक्ताकाशी रंगपरम्परा का निर्वाह करता है और मंच पर अनौपचारिकता के कारण लोकनाट्य के तत्वों के अधिक निकट लगता है।

'चरनदास चोर' की प्रस्तुति ने सारे देश के रंगकर्मियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, और उसके प्रदर्शनों का ऐसा अविराम चक्र शुरू हो गया, जो आज तक गतिमान है।

---

[1] डॉ. नीना शर्मा - आधुनिक हिंदी नाटकों में लोकनाट्यों के प्रभाव का अनुशीलन , प्र.सं. 1999, पृ. 156

अगस्त सन् 1982 में इंग्लैंड में आयोजित 'फ़ैस्टीवल ऑफ़ इंडिया' में इस नाटक को भारत की समारोह समिति ने एकमत से प्रदर्शन के लिए चयनित किया। साथ ही इस नाटक को एडिनबरा के अन्तरराष्ट्रीय नाट्य-समारोह में भी आमन्त्रित किया गया। फ्रिंज़ फ़ैस्टीवल के नाम से ख्यात इस अत्यन्त प्रतिष्ठित नाट्य-समारोह में भारत की यह पहली भागीदारी थी। एडिनबरा फ़ैस्टीवल के शुरू होने से पहले ही इस नाटक ने वहाँ के रंग-जगत में हलचल मचा दी थी। नौ अगस्त 1982 के स्कॉट्समैन ने लिखाः "अगले सप्ताह सोमवार को जब एडिनबरा के एसेम्बली कक्ष में 'चरनदास चोर' का प्रदर्शन होगा तो यह नया थिएटर के तीस आदिवासी लोक अभिनेताओं की भारत के बाहर पहली प्रस्तुति होगी। यद्यपि वे न पढ़ सकते हैं, तथापि उनका यह ऊपरी तौर से दिखने वाला पिछड़ापन ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। एक बार जब वे मंच पर आते हैं तो वे ऐसा ओज और उन्मुक्त आनन्द बिखेर देते हैं जिसके पाश में भारत के शहराती और देहाती, दोनों ही दर्शक आ चुके हैं और अब वे यही काम यहाँ भी कर सकते हैं। ..... यह नाटक आधुनिक भारतीय नाटक की सम्भावित शक्ति को भी प्रकट करता है। नया थिएटर पूर्व और पश्चिम का विवेकपूर्ण समन्वय कर ऐसी रचना का विकास कर रहा है जो विश्व-रंगमंच की प्रथम पंक्ति में स्थान पाने के योग्य है। एडिनबरा में हबीब तनवीर और उनके आदिवासी अभिनेताओं को अन्तरराष्ट्रीय अभिस्वीकृति प्राप्त हो सकती है।"[1] 13 अगस्त सन् 1982 को एडिनबरा महोत्सव में 'चरनदास चोर' की प्रस्तुति ने विश्व रंगमंच के इतिहास में नया पृष्ठ जोड़ दिया।

इसीप्रकार समीक्षक विक्टोरिया रॉडिन ने 29 अगस्त के 'ऑब्ज़र्वर' में अभिमत दिया :

"इस प्रदर्शन के साक्ष्य से यह निश्चित है कि इसका प्रयोग विश्वजनीन है। कुछ महीने पहले पीटर ब्रूक ने 'द टाइम्स' में अपने साक्षात्कार के अधिकांश हिस्से में विनम्रता के साथ 'नया थिएटर' कम्पनी के काम की 'ग्रास रूट पॉप आर्ट' के रूप में प्रशंसा की थी। ...इस कम्पनी की स्थापना के पीछे हबीब तनवीर का उद्देश्य एक ऐसे भारतीय रंगमंच की रचना करने का है, जो पश्चिमोन्मुखी नगरवासियों और दूसरी ओर, समय की

[1] भारतरत्न भार्गव -रंग हबीब, पहला संस्करण-2006, पृ.126-129

धारा से कटे हुए देहातों में रहने वाले लोगों के बीच की दूरी लोक-नाट्य के शुद्धिकृत और संस्कारित रूप द्वारा पाट सकें"। [1]

इसप्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संगीत-नृत्ययुक्त नाचा शैली के माध्यम से प्रस्तुत 'चरनदास चोर' नाटक ने भारतीय लोकरंग परंपरा को समृद्ध किया है। इस नाट्य प्रयोग के माध्यम से मात्र मनोरंजन ही नहीं, समकालीन विद्रूपताओं-विषमताओं पर प्रहार करते हुए सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक एक सांस्कृतिक भूमिका का निर्माण करने में भी नाटककार सफल निकला है।

## 5.10 सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : बकरी

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का हिन्दी के प्रयोगशील नाटककारों में महत्वपूर्ण स्थान है। वैसे वे मूलतः कवि थे। नाटक के क्षेत्र में वे अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में आये, और अपने प्रथम प्रकाशित नाटक 'बकरी' द्वारा ही नाटककारों की प्रथम पंक्ति में पहुँच गये। सक्सेना जी के छोटे, किन्तु समर्थ नाटक 'बकरी' ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह नाटक जहाँ एक ओर युगीन संदर्भों, जीवन यथार्थों और विसंगतियों को सामने लाता है, वहीं दूसरी ओर इसे लोकनाट्य की नौटंकी शैली से जोड कर जनसामान्य से संबंध स्थपित करने का प्रयास भी किया गया है। सर्वेश्वर जी ने तीन पूर्णकार नाटक, दो एकांकी और चार बाल-नाटक भी लिखे हैं। बकरी, लड़ाई, कलभात आएगा, अब गरीबी हटाओ आदि उनके प्रमुख नाटक है।

सर्वेश्वर जी के नाटक भारतीय परिवेश की उपज है और उनकी प्रयोगशीलता, अभिव्यक्ति को शक्ति और विस्तार देती है। प्रयोगशीलता की दृष्टि से, सर्वेश्वर के नाटकों में 'बकरी' सर्वश्रेष्ठ है। यह नाटक आधुनिक संदर्भों को नौटंकी-शैली में सम्प्रेषित करता है। इसके नट-नटी नौटंकी के रंगा के रूप में हैं। हर दृश्य के बाद नट—गायन की योजना है। इस नाटक की प्रयोगशीलता के विषय में डॉ. नरनारायण राय लिखते हैं – "हिन्दी रंगमंच का तीसरा उल्लेखनीय प्रयोग यह माना जायेगा कि एक ही नाटक का लोकनाट्य शैली, नौटंकी शैली, यथार्थवादी शैली, प्रतीक शैली विभिन्न शैलियों में प्रयोग कर रचना और विधान में चमत्कार उत्पन्न करने की कोशिशों की जाती रही हैं। हिन्दी के

[1] भारतरत्न भार्गव -रंग हबीब, पहला संस्करण-2006, पृ.126-129

'बकरी' नाटक का प्रयोग इस दृष्टि से उल्लेखनीय कहा जायेगा, क्योंकि इसका प्रदर्शन अब तक कई शैलियों में किया जा चुका है।" [1] हिन्दी जगत में इस नाटक की चर्चा कथ्य, शिल्प, शैली, मंच सभी स्तरों पर हुई है। इस कथ्य को प्रस्तुत करने के लिए कथानक, घटनाओं, पात्रों, शिल्प का कोई आरोपित ताना-बाना नहीं बुना गया है बल्कि तीन डाकू, एक सिपाही और उनके द्वारा गाँव की एक गरीब औरत की बकरी हड़प लेने के प्रसंग और उसी उतार-चढ़ाव द्वारा सारी विडम्बना प्रस्तुत की गयी है। उनके संवाद, उनकी मुद्रायें, उनके गीत, अभिनय और स्थितियाँ स्वतः इस क्रूर सत्य को कहती चलती है।

### 5.10.1 कथ्यगत प्रयोग

यह नाटक समकालीन भारत में गाँव की दुर्दशा और निहित स्वार्थी नेताओं द्वारा आम जनता के शोषण को लेकर लिखा गया तीखा राजनीतिक व्यंग्य है। दुर्जनसिंह, सत्यवीर और कर्मवीर – ये तीन लोग विपती नामक सीधी-सादी महीला की बकरी चुराकर उसे गाँधीजी की बकरी घोषित कर देते हैं। विपती के चीख-पुकार करने पर वे उसे जेल में बंद करवा देते हैं। बकरी के नाम पर सेवाश्रम, बकरी स्मारक निधि आदि का कारोबार करते हुए वे गाँव वालों को लूटते हैं। बकरी के थन को चुनाव चिह्न बनाकर कर्मवीर चुनाव लड़ता है और चुनाव जीत जाता है। इस बीच गाँव वालों को पता लगता है कि चुनाव जीत जाने के बाद गरीब विपती की बकरी को तथाकथित भक्त खाकर समाप्त कर चुके हैं। तब गाँव का विद्रोही युवक तथा अन्य लोग शहर में एक भोज में खाते हुए इन लोगों को पकड़कर पीटते हैं। समाज में व्याप्त छिछली राजनीति, पुलिस और कथित नेताओं की मिली-भगत और आम जनता का अन्याय सहना और उसमें आती हुई नयी चेतना, इन सबका चित्रण हिंदी नाट्य साहित्य में पहली बार इतने बेबाक और सुलझे हुए ढंग से यहाँ किया गया है। वस्तुगत प्रयोग की दृष्टि से यही इस नाटक की नवीनता और सफलता है। इस वस्तुगत वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए नाटककार ने स्वयं कहा है : "यह नाटक न लिखा जाता – (1) यदि हिंदी में कोई ऐसा नाटक होता जिसमें जन-चेतना को लोक भाषा और लोक रूपों के माध्यम से सामाजिक अन्याय के साथ जोड़ने का एक नया व्याकरण देखने को मिलता । (2) यदि हिन्दी के तथाकथित

[1] नरनारायण राय – हिन्दी नाटक और नात्य समीक्षा, प्र. सं. 1977, पृ. 23

श्रेष्ठ नाटक बड़े प्रेक्षाग्रहों, भारी ताम-झाम और विद्वत् पेक्षअक समाज के मोहताज न होते। यदि हिन्दी के नाटककार यशः प्रार्थी न होकर आम आदमी की पीड़ा, आम आदमी की ज़बान में आम आदमी के बीच ले जाना हिंदी रंगमंच के लिए आज अनिवार्य मानते।"[1]

ये सब आवश्यकताएँ आज के परिवेश की माँग हैं। 'बकरी' नाटक इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह नाटक आम आदमी के शोषण-कथा को बडे साहस के साथ दर्शकों के सामने रखता है। "बकरी बदले हुए तेवर का सीधा-सादा प्रभावशाली नाटक है जिसमें समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक व्यंग्य का तीखापन भी है और सारे प्रपंच, दबाव को निरन्तर झेलती हुई आम जनता का असन्तोष, विद्रोह, खीझभरी झुंझलाहट और एक निर्णय भी है। आम आदमी के चारों तरफ छायी कूर व्यवस्था के जाल, अन्याय के प्रति साहसपूर्ण प्रहार से सहसा दर्श्क जुड़ जाता है क्योंकि यह उसका "भोगा हुआ सत्य" है।"[2] विदेशी दासता से मुक्ति तो हुई लेकिन स्वतन्त्रता के बाद अपने ही नेताओं ने देश की गरीब साधारण जनता को किस प्रकार छलना आरम्भ किया, पूरे नाटक में सत्ता के इसी भ्रष्ट, स्वार्थी-प्रवृत्ति और महत्वाकांक्षा के द्वारा उसकी कूटनीतियों, आम आदमी के साथ षड्यन्त्र के द्वारा आज के हमारे देश के राजनीतिक चरित्र को सामने लाया गया है।

### 5.10.2 शिल्पगत प्रयोग

शिल्प की दृष्टि से इस नाटक के संबंध में प्रसिद्ध नाट्य- निर्देशिका कविता नागपाल का यह विश्लेषण उचित है "बकरी का शिल्प लोचपूर्ण है। इसे नौटंकी और पारसी थियेटर के शैलीगत प्रवाह में बाँधा गया है। लेकिन जहाँ नौटंकी में साहसिक घटनाओं, पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंगों के अतिरंजित रूप आम जनता को संवेदित करते हैं वहीं 'बकरी' का विशेष कथ्य उसे पारंपरिक नौटंकी शैली से थोड़ा-सा हटाता हुआ एक तीखा सामाजिक व्यंग्य बना देता है। इस व्यंग्य को और तीखा बनाने के लिए नाटककार ने पारसी रंगमंच और पुरानी नौटंकी की लोकप्रिय धुनों का उपयोग किया है जिसके लिए भाषा की आम मुहावरेदारी और लयात्मकता बुनियाद का काम करती है।"[3]

"पारसी रंगशैली और हिन्दी प्रदेश के प्रसिद्ध लोक नाटक "नौटंकी" शैली के मिले-जुले रूप को आधार बनाकर सर्वेश्वर ने "रंगदृष्टि" का परिचय दिया है। एक ओर

---

[1] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना-बकरी (भूमिका), सं. 1999, पृ.6

[2] गिरीश रस्तोगी-समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना, प्र.सं. 1990, पृ.176

[3] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना-बकरी (निर्देशक की बात), सं. 1999, पृ.10

इसमें नौटंकी की तरह नगाड़ा, बहरेतबील, नट-नटी, गायन-नर्तन, नौटंकी की प्रचलित धुनें-भजन,गजल, कव्वाली, फिल्मीधुन और वैसा ही अभिनय है जिससे दृश्यात्मक समस्यायें हल हो जाती हैं, दूसरी ओर पारसी रंग विधान, पारसी नाटकों जैसी अभिनयात्मकता, बीच-बीच में तुकबन्दी, पद्यात्मकता भरे संवाद, अतिरंजनापूर्ण अभिव्यक्ति, आकस्मिक चमत्कारिकता भी है। सर्वेश्वर ने नट-नटी संवादों और गीतों को समकालीन व्यंग्य से जोड़ा है जो उसे पारम्परिक नौटंकी शैली से हटाता हुआ "नया" भी लगता है। नट-नटी बड़ी आसानी से दृश्यों के बदलने उनके परस्पर सम्बन्ध और क्रम का, राजनीतिक सन्दर्भ और जनजीवन का संकेत देते नाटक को निरन्तर आगे बढ़ाने में सहायता करते रहते हैं। उनका प्रवेश प्रस्थान हमेशा एक अर्थ ले लेता है। पूरे नाटक के गीतों की रचना बड़ी सहज है और ऐसी प्रचलित धुनों में बँधी है कि पहले ही तुरन्त गीत और धुन पकड़ में आ जाती है। फिल्मी धुनों का इतना अच्छा प्रयोग नाटक को प्रभावशाली बनाता है। राष्ट्रीय गान को भी बकरी माता के जय-जय गान में बदलकर सारे नाटकीय व्यंग्य को तो मूर्त किया ही गया है, साहस का परिचय भी दिया गया है, इसी प्रकार "झंडा ऊँचा रहे हमारा" गीत को व्यंग्यात्मक रूप देना, गाँधीजी से सम्बद्ध फिल्मी धुनों को पकड़ना, यहाँ तक कि "रघुपति राघव राजा राम" की धुन पर भजन की व्यंग्यात्मक रचना करना कल्पनाशीलता के उदाहरण हैं। नाटक के प्रतीक, संकेत भी काफी स्पष्ट हैं, दुरूह नहीं हैं। [1]

नाटक की अपनी विशेषतायें ज़रूर ध्यान आकृष्ट करती हैं। लोक भाषा और वह भी ग्रामीणों के मुँह से उनकी बोली का, उनके लहज़े, लय का प्रयोग कराना, उनकी बोली में उनकी समस्या, पीड़ा, विवशता को व्यक्त करना बहुत सार्थक लगता है।

पारंपरिक रंगमंच के विभिन्न अभिप्रायों का विरूपण या पैरेडी की भावना के साथ प्रयोग, प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से 'बकरी' के शिल्प की उल्लेखनीय विशेषता है। उदाहरण के लिए नाटक के भूमिका दृश्य में मंगलाचरण में गायन शैली नौटंकी की ली गयी है, परंतु गायन मंडली के बीच एक नट विद्रोही है। उसे मंगलाचरण पर यकीन नहीं। सारी मंडली मंगलाचरण गाना शुरू करती है। नट चुप रहता है। नटी के आँखे तरेरने पर वह गाता है। पर उसे राजनैतिक संदर्भ से जोड़ देता है। उदाहरण के लिए नटी जब गाती हैः

"सदा भवानी दाहिने सम्मुख रहे गणेश
पाँच देव रक्षा करें ब्रह्मा विष्णु महेश -- इत्यादि

[1] गिरीश रस्तोगी-समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना, प्र.सं. 1990, पृ.178-179

तो नट उसके उत्तर में गाता हैः -

पाँच देव सम पाँच दल, लगी ढोंग की रेस।- इत्यादि।[1]

मंगलाचरण के बाद नटी व नट का जो वार्तालाप होता है, उसमें नट समकालीन परिस्थिति की अवतारणा के साथ तथाकथित कलात्मक, सुरुचि संपन्न नाटकों पर भी छींटाकशी करता है। इस प्रकार परिस्थितियों की विडंबना दिखाने के लिए इस नाटक में आद्यंत विरूपण-शैली का उपयोग किया गया है।

### 5.10.3 रंगमचीय प्रयोग

रंगशिल्प की दृष्टि से नाटककार ने इस नाटक की संपूर्ण परिकल्पना इस प्रकार की है कि इसे संपन्न रंगशाला, सादे हॉल, खुले मौदान या गली-कूचों, कहीं पर भी खेला जा सके। इसीलिए यह नाटक आपात्काल के दिनों में भी गाँव देहातों तक में खेला जाता रहा है। गिरीश रस्तोगी ने लिखा है -"सबसे अधिक आकर्षक पक्ष है नाटक का नया रंगशिल्प जो भारतीय सन्दर्भ और हिन्दी रंगमंच की मूल प्रकृति के अन्वेषण के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है। हिन्दी नाटक को बनावटी मंच और पश्चिमी शिल्प प्रयोगों से हटाकर "खुलेपन" और "सहजता", "लचीलेपन" और "परम्परागत लोकरूप" तक ले आना हिन्दी नाटक के विकासात्मक पक्ष का महत्वपूर्ण अंग है। नाटक भी रंगमंच की दिशा बदलता है, अभिनय शैली का मानदण्ड बदलता है, दर्शकों की बनी बनायी अभिरुचि को तोड़ता है, उन्हें नये संस्कार देता है, भाषागत अभिव्यक्ति में एक स्वाभाविक मोड़ पैदा करता है- ये सब बातें "बकरी" से सामने आती हैं।" [2]

नाटक के नये शिल्प और उसके "खुलेपन" पर निश्चय ही सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने हिन्दी नाटक को नया लचीला प्रयोग्धर्मी शिल्प दिया है और साथ ही हिन्दी रंगमंच को उसकी ज़मीन दी है और बहुत-सी सम्भावनाओं के प्रति सतर्क किया है। कुलमिलाकर कह सकते है कि यह बड़ा ही नुकीला नाट्य प्रयोग है।

## 5.11 मणि मधुकर : दुलारी बाई

मणि मधुकर ने अपने नाटकों में लोक-नाट्य और लोक-कथाओं का प्रचुरता से उपयोग किया है। इस दृष्टि से उनके दो नाटक विशेष उल्लेख्य हैं। 'दुलारीबाई' तथा 'इकतारे की आँख'। 'दुलारीबाई' में हास्य-व्यंग्य के पुट के साथ प्रतीकात्मक शैली में पारसी रंगमंच और राजस्थान के कुचामणि ख्याल की शैली का उपयोग करते हुए, आम आदमी के स्वप्न, संकल्पों और आकांक्षाओं की कथा प्रस्तुत की गयी है। इसके साथ ही

[1] सर्वेश्वरदयाल सक्सेना-बकरी , सं. 1999, पृ.15

[2] गिरीश रस्तोगी-समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना, प्र.सं. 1990, पृ.178

भारतीय जन-जीवन में व्याप्त रूढ़ियों और संस्कारगत दुर्बलताओं पर प्रहार भी किया गया है।

### 5.11.1 कथ्यगत प्रयोग

'दुलारी बाई' नाटक हास्यपूर्ण रचना है जिसमें व्यंग्य भी गौण रूप में उभर का आया है। जहाँ एक ओर दुलारी बाई के पुश्तैनी जूते उन सड़ीगली परंपराओं एवं रूढ़ियों का प्रतीक है जिसे चाहते हुए भी व्यक्ति छोड़ नहीं पाता एवं बंदर के मरे हुए बच्चे की तरह चिपकाये रहता है वहीं दूसरी ओर स्वप्न दृश्य में नाटककार ने मानव मन की लिप्सा का सजीव किन्तु कठोर चित्र प्रस्तुत किया हैं। सहज ढंग से देखने पर यह नाटक विशुद्ध हास्य रस का पिटारा है, जो दर्शकों का हल्का फुल्का मनोरंजन करता है। एक कंजूस औरत की कथा इस नाटक का प्रमुख आधार है एवं उसी के इर्द-गिर्द अन्य घटनाएँ घटित होती है।

दुलारीबाई गाँव की एक सामान्य स्त्री है जिसके पास अपने पुरखों की दी हुई अटूट धन-संपत्ति है पर वह स्वभाव से अत्यंत ही कंजूस है। गाँव का बहुरूपिया कल्लू उससे विवाह करना चाहता है जबकि दुलारीबाई राजा से विवाह का स्वप्न देखती है। वह वास्तविकताओं को न समझकर अपनी कल्पित, अवास्तविक दुनिया में जीने लगती है। कल्लू बहुरूपिया उसकी इस कमजोरी का लभ उठाता है। वह राजा का वेश बनाकर आता है और दुलारीबाई धोखे में उससे विवाह कर लेती है। वस्तुस्थिति ज्ञात होने पर दुलारीबाई कल्लू को बहुत बुरा-भला कहती है किंतु रात में वह एक सपना देखती है जिसमें ईश्वर उसे वरदान देते हैं कि जिस वस्तु को वह छुयेगी वह सोना बन जायेगी। इस वरदान की दुखद परिणतियों को अपने स्वप्न में साक्षात्कार करके दुलारीबाई यथार्थ के धरातल पर लौटती है और कल्लू को पति रूप में स्वीकार कर लेती है।

नाटक में सर्वत्र प्रतीकात्मक और अभिव्यंजनापूर्ण शैली का कथ्य को प्रभावशाली ढंग से कहने के लिए उपयोग किया गया है। नाटक का बहुत बड़ा घटनाचक अत्यंत मनोरंजक ढंग से दुलारीबाई के पुश्तैनी जूतों के इर्द-गिर्द घुमता है। ये पुश्तैनी जूते भारतीय समाज की संस्कारगत निर्जीव रूढ़ियों के प्रतीक हैं, जिन्हें वह उतारना नहीं चाहता है, और यदि उतारने का प्रयास भी करता है तो वे उससे और चिपके जाते हैं। दुलारीबाई अपने पुरखों के फटे-पुराने जूतों को अपने कंजूस स्वभाव के कारण पहनती रहती है पर इन जूतों के कारण वह एक के बाद एक कई मुसीबतों में फँसती जाती है और उनसे छुटकारा पाने के लिए तड़पने लगती है, किंतु फेंक देने और छोड़ दिये जाने पर भी जूते उसके पास वापस लौट आते है। जूतों से जुड़ी हुई छोटी-छोटी हास्यपूर्ण घटनाएँ नाटक की वस्तु की

गहरी सांकेतिकता प्रदान करती है और शिल्प के स्तर पर दर्शकों या पाठकों को बाँधे रखती है। दुलारीबाई के जूतों का प्रसंग विदेशी लोककथा पर आधारित है। स्वप्न में सोना ही सोना देखने का दृश्य भी मीडास की कथा से प्रेरित है।

### 5.11.2 शिल्पगत प्रयोग

नाटक की भाषा शैली, संवादों की भंगिमा और शिल्प, लोक-नाट्य और पारसी रंगमंच से प्रभावित है किंतु पारंपरिक रंगमंच के तत्त्वों का रूढ़ि रूप में यथावत उपयोग न करके नाटककार ने प्रयोगधर्मिता की दृष्टिसे उनमें नयी परिकल्पनाएँ जोड़ी हैं। गिरीश रस्तोगी का मत है कि "नाटक में पारसी रंग विधान को काफी हद तक मणि मधुकर ने पकड़ा है और उसमें राजस्थान के कुचामणी ख्याल के नाट्यशिल्प को घुलामिलाकर एक नये रंग शिल्प को तलाशा है। इसलिए नाटक में मंगलाचरण, सूत्रधार, गायन, वादन, नर्तन, मंडली, पुतले गायन कीर्तन भी हैं। चार पाँच पात्र बदल-बदलकर कई-कई भूमिकाएँ करते हैं।"[1], इस प्रकार यह फारसी एवं लोकनाट्य शैली का मिलाजुला रूप है।

'दुलारी बाई' नाटक के पात्र सामाजिक परिवेश के ही पात्र हैं। ननकू मोची, दुलारी बाई, कल्लू, कटोरीमल, पटवारी आदि पात्रों की रचना की है। पात्रसंयोजन कलात्मक रूप में आया है। नाटककार ने एक ही पात्र द्वारा एक से अधिक भूमिका का निर्वाह करवाया है। नाटककार ने यह बात दर्शकों के समकक्ष कहलवाई है ताकि दर्शक जान जाये कि एक व्यक्ति एक से अधिक भूमिका का निर्वाह करेगा। इसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है –

"दुलारी – ठीक है। देखो अपनी नाट्य मंडली में कुल पाँच जने हैं – दो तीन चौथा वो सूत्रधार और पाँचवा जाने क्या नाम है उसका लेकिन नाटक में पात्र कई हैं। मुझे तो शुरू से आखिर तक दुलारीबाई ही बने रहना हैं, तुम तीनों को तमाम पात्रों की एक्टिंग करनी है – नाम बदलकर।"[2] इस नाटक में जब भी पात्र आते हैं अपना परिचय देते है। कुचामणी ख्याल की यह विशेषता है कि उसके पात्र मंच पर प्रवेश करते हैं तो पहले अपना परिचय देते हैं। यह परम्परा इस नाटक में भी अपनाई। "कल्लू- (दर्शक से) हाजरीन इस गाँव में दुलारीबाई के कई प्रेमी है। एक मैं भी हूँ। जी हाँ अब बेटा कल्लू भांड का रोल में हैं और रिझाने खिझाने चला है दुलारीबाई को।"[3]

---

[1] डॉ. गिरीश रस्तोगी - समकालीन हिंदी नाटककार, प्र, सं. 1982, पृ. 173

[2] मणि मधुकर - दुलारीबाई, प्र.सं. 1985, पृ.15

[3] मणि मधुकर - दुलारीबाई, प्र.सं. 1985, पृ.25

लोकनाट्य के प्ररंभ की तरह इस नाटक का प्रारंभ भी मंगलाचरण से होता है। इसमें किसी देवी देवता के बजाय दर्शकों का आहवान करने हेतु मंगलाचरण का प्रयोग सूत्रधार के द्वारा किया गया है। इसका

उदाहरण ध्यातव्य है.....

"दर्शक देव पधारे
धन्य है भाग्य हमारे !
धोती कुर्ता साड़ी ब्लाउज कौट पेंट और टाई
पहन के आए आज यहाँ देखेंगे दुलारीबाई
छोड़के कारज सारे दर्शक देव पधारे।
गोद में छोरा कंधे छोरी बगल में बीबी बिराजे
होठ में सिगरेट कि मुँह में पान का बीड़ा साजे
आँख में चश्मा धारे दर्शक देव पधारे।"[1]

पारंपरिक रंगमंच में होने वाले मंगलाचरण के स्थान पर यहाँ दर्शकों की वंदना सूत्रधार के द्वारा करायी गयी है। प्रस्तावना में अपने साथी अभिनेताओं द्वारा देवताओं की वंदना न करने पर जो आपत्ति उठायी जाती है तो उसके उत्तर में सूत्रधार ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं के बीच चलने वाली राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता का दृश्य प्रस्तुत कर देता है।

भाषा शैली की दृष्टि से इस नाटक में पारसी रंगमंच की शैरो-शायरी वाली भाषा का भी उपयोग किया है और लोक-नाट्य की कोमलकांत पदावली की देशी बोलियों से संपन्न भाषा का भी। लोकगीतों और सामूहिक गान का जगह-जगह उपयोग, प्रस्तुति को आकर्षक बनाने के लिये किया है।

### 5.11.3 रंगमचीय प्रयोग

लोकनाटक की मुक्ताकाशी रंगपरम्परा ने आधुनिक नाटककारों को अधिक प्रभावित किया है जहाँ बिना साज सज्जा के नाटक प्रस्तुत किया जा सकता है। 'दुलारीबाई' नाटक कुचामणी ख्याल से प्रभावित है जिसमें बिना किसी तामझाम के साधारण मंच पर इसकी प्रस्तुति की जा सकती है। यह नाटक अंकों में विभाजित नहीं है, किन्तु जगह-जगह दृश्यालोप ज़रूर होता है। अतः प्रकाश(लाईट्स) की व्यवस्था के द्वारा

[1] मणि मधुकर – दुलारीबाई, प्र.सं. 1985, पृ.9

दृश्य परिवर्तित होते हैं। अगर नाटक को साधारण मंच पर करना हो तो पात्रों के प्रस्थान प्रवेश की प्रक्रिया के द्वारा यह नाटक प्रस्तुत किया जा सकता है। इस नाटक के गीत एवं संवाद ने मंच के कई जटिल दृश्यों को सरल बना दिया है। कई दृश्य को प्रतीक रूप में अभिनय के द्वारा भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इस नाटक के संवाद भी नाटक में मंच की दृश्ययोजना को सरल बनाते हैं। जैसे- दुलारी –"यह तो किसान जी का मंदिर आ गया, रास्ते में। चलूँ, पहले भगवान के दर्शन कर लूँ अन्दर जाकर फिर ननकू मोची के यहाँ जाऊँगी- ज़्यादा दूर नहीं है उसका घर यहाँ से।"[1]

शिल्पगत नयी परिकल्पनाओं में काठ के पुतलों का गीत एक अभिप्रायपूर्ण प्रयोग है जो दुलारीबाई की धन के पीछे पुतले की तरह भागने की मनोवृत्ति को सूचित करता है। पुतलों का अभिनय गायन मंडली के ही दो अभिनेता मुखौटा लगाकर करते हैं।

"गायन-मंडली : हम तो काठ के पुतले हैं, ये दुलारीबाई,
दुलारीबाई है, ये दुलारीबाई !
बिल्ली जैसी चौकन्नी है दौड़ी-दौड़ी
निन्नानवें के फेर में पकड़े दाँत से कौड़ी-कौड़ी
हम तो काठ के पुतले -
जोंक कहे कोई इसको या फिर खटमल की मौसी
दो पइसे का नफा हो तो पैदल पहुँचे चन्दौसी
हम तो काठ के पुतले-"[2]

लोक-नाट्य की पद्धति के अनुरूप गायन मंडली को नाटककार ने बराबर सक्रिय रखा है तथा नाटक के पात्र बीच-बीच में दर्शकों को संबोधित भी करते हैं। यही नहीं दुलारीबाई मंच पर अपने अवतरण के पश्चात् गायन मंडली के सदस्यों से एक अभिनेत्री के रूप में संवाद करती है। इस प्रकार के प्रयोगों को हम भारतीय लोक-नाट्य परंपरा के माध्यम से हिंदी रंगमंच पर ब्रेख्त की शैली का पुनराविष्कार कह सकते हैं।

गिरीश रस्तोगी ने 'दुलारीबाई' को 'नयी शैली और आधुनिक संदर्भ का रोचक मंचीय नाटक' स्वीकार किया है और स्पष्ट लिखा है कि "दुलारीबाई खुले रंगमंच का, रंगमंच की प्रचलित रूढ़ि को तोड़नेवाला, नये प्रयोग का एक मनोरंजक उदाहरण है"[3]

---

[1] मणि मधुकर - दुलारीबाई, प्र.सं. 1985, पृ.38

[2] मणि मधुकर - दुलारीबाई, प्र.सं. 1985, पृ.9

[3] डॉ. गिरीश रस्तोगी- समकालीन हिन्दी नाटककार, प्र. सं. 1982, पृ.14

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस नाटक के द्वारा मणि मधुकर ने शैली, शिल्प और कथ्य की दृश्यात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से नये नाटककारों के बीच अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिय है। उन्होंने शैली शिल्प और कथ्य सभी आधारों पर नये और सार्थक प्रयोग प्रस्तुत किये हैं और हिन्दी नाटक को एक नयी संभावना का एहसास दिलाया है।

## 5.12 भीष्म साहनी : हानूश

भीष्म साहनी ने हिन्दी नाट्य-जगत् को कई महत्वपूर्ण नाटक दिये हैं जिनमें 'हानूश', 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' तथा 'माधवी'आदि नाम उल्लेख्य हैं। 'हानुश' चेकोस्लोवाकिया देश की एक लोक-कथा पर आधारित नाटक है। हानूश एक ताले बनाने वाला कारीगर है, जिसे घड़ी बनाने की धुन सवार होती है। कई वर्षों के अथक परिश्रम और विभिन्न प्रयोगों के बाद वह अपने देश में पहली बार घड़ी बनाने में सफल होता है। सारे देश में उसका सम्मान किया जाता है परंतु देश का बादशाह उसकी आँखे फुड़वा देता है ताकि वह ऐसी दूसरी घड़ी न बना सके। नाटक एक ओर स्वार्थी अभिजात समाज की हृदयहीनता और शोषण वृत्ति को उघाड़ता है, और दूसरी ओर, एक सर्जनशील व्यक्ति की मूलभूत नैतिकता, कलाकार के संघर्ष, मानव मूल्यों के लिए जान की बाजी लगा देने के आत्मबल और गहरी मानवीय करुणा को रेखांकित करता है। व्यंजन और विडंबना(आयरनी) का ऐसा सूक्ष्म और कलात्मक प्रयोग हिन्दी नाटक के लिए एकदम अनूठा और विरल है।

समकालीन भारतीय नाट्य साहित्य के संदर्भ में 'हानूश' की चर्चा करते हुए श्री नेमिचंद्र जैन ने लिखा है - "निस्संदेह 'हानूश' हिंदी नाटक की विशेष उपलब्धि है और उससे समकालीन भारतीय नाट्यसाहित्य में हिंदी नाटक को ऊँचा और नया दरजा मिलेगा। राकेश के नाटकों की ही तरह यह भी यथार्थवादी शैली में लिखा गया है। और यद्यपि उसमें शिल्प के स्तर पर वह प्रयोगशीलता और नई ज़मीन तोड़ने की कोशिश नहीं तथापि उसमें कथा और शिल्प की अन्विति कहीं ज़्यादा है और किसी भी शिल्पगत तड़क-भड़क या वैचित्र्य के बिना ही जीवन की नाटकीय विडंबना की बड़ी मार्मिक पकड़ है"[1]

---

[1] नेमिचंद्र जैन- आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच, प्र. सं. 1978, पृ. 131

### 5.12.1 कथ्यगत प्रयोग

'हानूश में कथ्य के धरातल पर प्रयोग तो किया गया है, पर वह शैली और शिल्प पर भी समान रूप से घटित होता है। इस नाटक में कम-से-कम तीन कथ्य ऐसे हैं जिन्हें अलग-अलग शैली में प्रस्तुत कर नाटक के वस्तु को भिन्न ढंग में प्रस्तुत किया गया दिखाया जा सकता है। अर्थात् यह नाटक अपने हर नये प्रदर्शन में नये कथ्य के साथ नये रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है यद्यपि कथानक वही रहेगा। साहित्य जगत के समक्ष हानूश को प्रस्तुत करते हुए इसकी प्रकाशकीय विज्ञप्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि यह नाटक कलाकार की दुर्दमनीय सिसृच्छा और उसकी निरीहता को रूपायित करने के उद्देश्य से तथा धर्म और शासन(चर्च बादशाह) के गठबंधन के साथ सामाजिक संघर्ष को अभिव्यक्ति देने के उद्देश्य से लिखा गया है। खुद नाटककार ने अपने दो श्ब्द के अन्तर्गत यह स्वीकार किया है कि यह नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का एक प्रयास मात्र है। इस प्रकार तीन कथ्य तो इस नाटक से ही स्पष्ट हो जाते हैं। यही है इस नाटक के शैली, शिल्प और कथ्य की विशिष्टता, वह प्रयोग जो बाहर से नहीं दीखता, पर नाटक के भीतर विद्यमान है। विषयवस्तु के स्तर पर इस नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है कि विदेशी कथा तथा देश, काल, वातावरण और पात्र-इन सबके विदेशी होने पर भी अपने प्रभाव और मानवीय संकट की अनुभूति की दृष्टि से यह नाटक सार्वभोम और सार्वजनीन बन गया है। कदाचित् हिंदी नाटक के क्षेत्र में विदेशी कहानी का उपयोग इतने गहरे संवेदन और जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए पहली बार हुआ है।

प्रस्तुत नाटक इस भ्रम को तोड़ता है कि भाषा या कहा जाए बाहरी रंग-कौशल, को नाटकीयता का आधार बनाने के लिए मुख्य औजार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, विचार तत्व को नहीं। 'हानूश' में पहली बार विचार तत्व को प्रमुखता देते हुए उसे नाटकीय बाना पहनाने की सफल कोशिश मिलती है। प्रस्तुत नाटक न तो घड़ियों के आविष्कार की कहानी कहता है और न ही हिन्दी के ऐतिहासिक नाटकों की तरह मध्ययुग की ऐतिहासिक कथा कहने का प्रयास किया गया है। नाटककार ने एक-दो तथ्यों के अतिरिक्त सब कुछ अपनी कल्पना से बुनकर मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में मानवीय स्थिति को दृश्यात्मक रूप दिया है।

प्रयोग की दृष्टि से इस नाटक का मर्म सप्राणता उसकी विषयवस्तु में चित्रित नायक 'हानूश' के संघर्ष, यातना तथा सफलता और असफलता की कथा में है। इस

कथा के माध्यम से सत्ता के दोहरे चरित्र को बारीकी से इस नाटक में रेखांकित किया गया है। व्यवस्था अपने आप में क्रूर और अमनवीय हुआ करती है। अनेक वर्षों के बाद अथक परिश्रम और साधना से हानूश घड़ी बनाने के अपने स्वप्न को साकार करता है जिसके पुरस्कार स्वरूप बादशाह उसे अपने दरबार में स्थान भी देते हैं और उसे हमेशा के लिए अंधा भी बना देते हैं। नाटककार ने हानूश की कथा के माध्यम से समाज को अपनी मर्जी से चलाने वाली शोषणकारी और दमनकारी शक्तियों की कार्य-पद्धति की पहचान करायी है।

नाटक की वस्तु से केंद्रीय अभिप्राय यही ध्वनित होता है कि हानूश जैसे एक मामूली मजदूर बहुत बड़ा काम कर सकता है, प्रतिभा किसी अभिजात वर्ग की बपौती नहीं है। यही मामूली आदमी अकेला और निहत्था होते हुए भी सत्ता के आगे चुनौती बनकर खड़ा हो जाता है। सत्ता उसे समाप्त कर सकती है, उसके काम, शिल्प-साधना के परिणाम तथा संघर्ष को नहीं। इस सारे सोच को भीष्म जी ने हानूश के चरित्र के द्वारा मार्मिक रूप में साकार किया है।

### 5.12.2 शिल्पगत प्रयोग

वस्तु और शिल्प के स्तर पर नाटक की संरचना औपन्यासिक फैलाव लिए हुए है। यह कई वर्षों के अंतराल को समेटे हुए है। भीष्म साहनी कहानीकार उपन्यास्कार के रूप में भी जाने जाते हैं। उनकी औपन्यासिक परिकल्पना इस नाटक में प्रतिफलित हुई है। कालचक्र, परिवर्तन के स्थान, स्थितियाँ, पात्र और घटनाएँ किस तरह नया रूप लेती हैं- यह नाटक में हम अनुभव करते हैं। हानुश की शिल्प साधना और संघर्ष यात्रा में भी कई पड़ाव आते हैं। समय के बदलाव के साथ चरित्रों का रूपांतरण नाटककार दिखाता है, जो नाटक में प्रयोग की दृष्टि से एक और महत्वपूर्ण तत्व है। हानूश को हम तीन रूपों में यहाँ देखते हैं-प्रारंभ में अपनी धुन और लक्ष्य के लिए समर्पित ज़िद्दी रूप, फिर बीच में कमज़ोर होकर अपनी साधना छोड़कर गृहस्थी की ओर ध्यान देने की चिन्ता से प्रेरित उसका मानवीय सद्भावनापूर्ण रूप और सफलता के बाद व्यवस्था द्वारा सम्मान के साथ अंधा बना देने पर विकट निश्चय और दृढ़ संकल्प से भरा उसका जुझारू रूप। पात्र के ये रूप कई वर्षों के अंतराल में विकसित होते हैं पर इनके पीछे हानूश व्यक्ति एक है, जो विश्व की प्रगति के लिए समर्पित है। अंतिम दृश्य में उसका यह स्वरूप सामने आता है, जब वह अपनी घड़ी तोड़कर प्रतिशोध लेना चाहता है, पर घड़ी को तोड़ नहीं पाता। शिल्पी के अपने रचना से संबंध को व्यवस्था से द्वंद्व के संदर्भ में यहाँ उठाया गया है।

कलाकार निर्माण में विश्वास रखता है विनाश में नहीं, चाहे वह विनाश उसके अधम शरीर का अन्धे शरीर का ही अन्त क्यों न हो। इसप्रकार नाटक में प्रयोगधर्मिता यहाँ स्वयं खिंच कर आ गयी है, उसके लिए किसी तरह का आयास नही है। गिरीश रस्तोगी के शब्दों में -" 'हानूश' अपने शिल्प की सादगी, कथ्य के पैनेपन और तीव्र घनीभूत, तनावपूर्ण , मानसिक स्थितियों के भावात्मक चित्रण के कारण दर्शक की आन्तरिक चेतना को झकझोरते हुए सुखद आश्चर्य की अनुभूति कराता है। 'हानूश' में जीवन के उलझाव-भटकाव है और उन्हीं से बुनती जाती परिस्थितियाँ तथा परिस्थितियों की मार और चोट है। वहाँ न कथा-विन्यास के स्तर पर कोई मकड़-जाल बुना गया है, न पात्रों के चरित्र-चित्रण के स्तर पर। बिना किसी अनोखेपन, अजूबेपन के पात्र संघर्ष के बीच से सहज भाव से उभरते चले जाते हैं।"[1]

उपर्युक्त वस्तुगत तथा शिल्पगत संरचना के भीतर कात्या के चरित्र और हानूश के साथ उसके दाँपत्य जीवन के चित्रों ने नाटक में एक और नया आयाम जोड़ा है। प्रारंभ में कात्या पति को घर पर ध्यन न देने के लिए कोसती हुई चिड़चिड़े रूप में सामने आती है। धीरे-धीरे उसके भीतर की संवेदनशील नारी और समर्पित पत्नी का रूप सामने आता है। नाटक के अंत तक पहुँचते हुए हम पाते हैं कि हर तरफ से संघर्ष में टूटते-हारते हानूश की सच्ची संगिनी वहीं है।

वस्तु के अनुरूप भाषा 'हानूश' की प्रयोगधर्मिता की एक और सफलता है। इसमें जीवंत, बोलचाल की उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा का इस्तेमाल कर नाटककार ने हिन्दी नाटक के क्षेत्र में साहित्यिक भाषा का विकल्प दिया है। समीक्षक नेमिचन्द्र जैन की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं – "कुल मिलाकर भाषा में चमक है, व्यंजना है और रवानी भी जो अपने आप में एक बड़ी सफलता है।"[2]

"हानूश अपने आपमें बहुत लचीला नाटक है। उसमें अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं। नाटको का अपने शिल्प में लचील होना उसकी अनिवार्य शर्त मानी जानी चाहिए। यही लचीलापन हानूश की भाषा में भी है – एक घरेलू, सहज प्रवाह, बोलचाल की भाषा का सार्थक स्वरूप। कुल मिलाकर नाटक भाषा के निरर्थक विस्तार को काटता है और भाषा के बिना भी संकेतों के माध्यम से बहुत कुछ कहता है। संकेत मानव की सर्वप्रथम भाषा

[1] भीष्म साहनी - हानूश- गिरीश रस्तोगी- (भूमिका), प्र.सं.1986, पृ.16
[2] नेमिचंद्र जैन - आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच, प्र. सं. 1978, पृ.131

है। इसका सार्थक प्रयोग नाटक के अन्तिम दृश्य में अधिकारियों और हानूश की बातचीत में टकराव के अन्दर हुआ है। स्वयं हानूश बहुत कम, टूटा-फूटा बोलकर भी संवादों की गहरी सांकेतिकता, अपने हावभाव और कुछ ही हरकतों से सारी विडम्बना और जटिलता को प्रस्तुत कर देता है। यह संयम और अनुशासन नाट्य-लेखन की विशिष्टता हो जाता है।"[1]

### 5.12.3 रंगमंचीय प्रयोग

भीष्म साहनी के इस नाटक का प्रथम मंचीय प्रयोग एक प्रसिद्ध निर्देशक राजेन्द्रनाथ के निर्देशन में किया गया। भूमिका में साहनीजी यह स्वीकार भी करते हैं कि निर्देशक महोदय के सलाह-मशविरे से उन्होंने संवादों में काफी सुधार किये हैं। दूसरे अंक का तीसरा दृश्य और तीसरे अंक का दूसरा दृश्य निश्चिय ही इस कौशल-प्रयोग के साक्षी हैं कि उनमें अभिनय द्वारा अभिव्यक्ति के प्रचुर अवसर और अभिनय की पर्याप्त सम्भावनाएँ विन्यस्त हैं। इस नाटक में यद्यपि अंकों का, दृश्यों का भी आकार बड़ा है फिर भी पात्र समूहों को निरन्तर प्रवेश और प्रस्थान के माध्यम से बदलते रहकर लेखक ने निरंतर बनाये रखते हुए प्रसंगान्तर उपस्थित किया है।

इस नाटक की रचना यथार्थवादी रंग-परिकल्पना से अनुशासित है। दृश्यबन्ध सम्बब्धी जो निर्देश दिये गये हैं उनमें दृश्य स्थल की यथावत् प्रस्तुति का उल्लेख है। फिर भी किसी भी निर्देशक की सूझ-बूझ, कल्पना, कौशल और अनुभव से इस नाटक में नयी भंगिमाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं, जिसमें हर नये प्रदर्शन का अपना आकर्षण बना रह सके, उसमें नवीनता लाई जा सके। कई सम्भावनाओं के बावजूद यह नाटक उस परम्परा की एक कड़ी बन गया है जिसके सहारे हिन्दी के अपने रंगमंच के मूर्त्त रूप लेने की आशा की जाती है।

"आज भी 'हानूश' न केवल भीष्म साहनी की श्रेष्ठतम रचना है, बल्कि समग्र आधुनिक हिन्दी नाट्य-साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है जो कथ्य, चरित्र, भाषा, अभिनय, शिल्प और साहित्यिक एवं रंगमचीय मूल्यों की दृष्टि से यह अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करती है कि किस प्रकार रचनाकार की अनुभूति से, घनी संवेदनात्मकता से एक सहज लेकिन गहन, मार्मिक और सार्थक रचना जन्म लेती है।"[2]

---

[1] भीष्म साहनी - हानूश- गिरीश रस्तोगी - (भूमिका), प्र.सं.1986, पृ.25
[2] भीष्म साहनी - हानूश- गिरीश रस्तोगी - (भूमिका), प्र.सं.1986, पृ.26

## 5.13 अद्यतन नाट्य प्रयोग

### कहानी, उपन्यास, कविता का मंचावतार

जब ऐसे कई प्रतिभाशाली सर्जनशील रंगकर्मी हिन्दी रंगमंच की ओर आकर्षित हुए जो रंगकर्म को सृजनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे, पैसा कमाने का नहीं, तब ऐसे रंगकर्म की तलाश प्रारम्भ हुई जो उन्हें कलात्मक तुष्टि प्रदान कर सके और साथ ही जो रंगकर्म को केवल मनोरंजन का ही नहीं बल्कि जीवन के सत्य और यथार्थ की गहरी खोज और प्रस्तुति का माध्यम बना सके। इसी तलाश के अन्तर्गत कई रंग-प्रयोग हिंदी रंगमंच में किये जाने लगे जिनमें से एक महत्वपूर्ण प्रयोग रहा, कथा एवं काव्य साहित्य का मंचावतार।

नाटक का दृश्य-श्रव्य होना उसे कहानी, उपन्यास एवं कविता जैसी साहित्यिक विधाओं से अलग कर देता है, उनकी रचना मूलतः किसी पाठक द्वारा पढ़े या सुनने के लिए ही होती है। परन्तु कहानी, उपन्यास एवं कविता में भी किसी-न-किसी रूप में छोटा-बड़ा नाटक अवश्य मौजूद रहता है, और नाटक में भी कोई न कोई कहानी मौजूद रहती है। फर्क सिर्फ यह है कि नाटक मंच पर प्रस्तुत होता है क्योंकि वह मंचित होने के लिए ही रचा गया है न कि केवल पढ़ने के लिए। कुछ सर्जनशील निर्देशकों ने उपन्यास, कहानी, कविता में छुपे नाटकीय तत्व को पकड़कर उनके सफल मंचन के द्वारा आज एक नई परिभाषा बनायी है कि कहानी, उपन्यास, कविता जैसी साहित्यिक विधायें केवल पढ़ने-सुनने के लिए ही नहीं होती बल्कि दृश्यत्व का अनुभव देने के लिए भी हो सकती है।

### 5.13.1 कहानी का रंगमंच

कहानियों का रंगमंच हिन्दी रंगमंच का आधुनिकतम प्रयोग है। "कहानी पढ़ते समय पाठक जिस अनुभूति का साक्षात्कार करता है और सूक्ष्म रूप से छिपा हुआ जो दृश्य-संसार उसके सामने बनता सँवरता है, उन दृश्यों को रचना के भीतर से तलाश करके मंच पर प्रदर्शित करने से ही 'कहानी-रंगमंच' का रूप बनता है। एक पाठक जब कहानी को पढ़ता या सुनता है, उसी समय वह कहानी का दृश्यात्मक रूप भी देखता चले, इसी कल्पना को निर्देशक अंकुर ने इस रंग-प्रयोग से साकार किया है।"[1]

---

[1] नेमिचंद्र जैन (सं)-नटरंग, महेश आनंद कहानी रंगमंच नया रंग मुहावरा, अंक 60-61, जुलाई-दिसंबर 1994, पृ.42

कहानियों के रंगमंच का प्रारंभ देवेन्द्रराज अंकुर के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की ओर से सन् 1975 में निर्मल वर्मा की तीन कहानियों 'धूप का टुकड़ा', 'डेढ़ इंच ऊपर' तथा 'वीकएण्ड' का चुनाव करके प्रस्तुत किया गया था। इस प्रदर्शन का शीर्षक रख गया 'तीन एकान्त'। इस प्रकार 1976 से कहानियों के रंगमंच की परम्परा का सूत्रपात हुआ और अब तक इस परम्परा में कई प्रदर्शन आयोजित हो चुके हैं। किसी कहानी को पढ़ते समय जो दृश्य-जगत् पाठक के मानसपटल पर बनता है उसी को मंच पर साकार करने का प्रयास कहानी के रंगमंच में होता है। इसका एक उदाहरण हम गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' के मंचन का दे सकते हैं। कहानी के पहले अनुच्छेद में एक शहर के बाज़ार और सड़क का चित्र आँखों के सामने घूम जाता है। इस दृष्टि से श्री देवेंद्रराज अंकुर ने इस कहानी के मंचन में प्रारंभ में मदारी के लहजे में डुगडुगी बजाते हुए दो पात्रों को कथक के रूप में प्रस्तुत किया, जिनके साथ दो पात्र घोड़े और ताँगे वाले बनकर बोली क मलहम लगाते हुए मंच पर चक्कर लगाते हैं। फिर घोड़े की लातों में आ रही एक बालिका को एक बालक बचा लेता है। इस प्रकार कहानी सामने घटित होने लगती है। वस्तुतः कहानी के रंगमंच का उद्देश्य किसी विशेष साहित्यिक की निजता और आंतरिक लय को पकड़ना है।

कहानी और विशेषकर उपन्यास में पात्रों एवं घटनाओं की अधिकता के साथ-साथ, समय और स्थान का भी बहुत बड़ा फैलाव होता है, जिसे मंच के सीमित दायरे और प्रदर्श्न समय की निश्चित सीमा में बाँधना बहुत कठिन कार्य होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, रंग-प्रस्तुतीकरण की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए, आलेख की एकाग्र-प्रभाव की दृष्टि से सम्पादित करना ज़रूरी हो गया। दृश्य-बंध एवं मंच उपकरणो का उपयोग कम-से-सम करने पर बल दिया जाने लगा। "संस्था के सीमित कलाकारों से कथा के बहुसंख्य चरित्रों का अभिनय कराने की ज़रूरत ने वस्त्र एवं रूप-सज्जा से मुक्त होने का रास्ता सुझाया। चरित्र, स्थिति और परिवेश के तमाम ब्यौरों तथा विवरणों को संस्कृत नाटकों की परम्परा का लाभ उठाते हुए कथा वाचन, सूत्रधार या कई बार किसी चरित्र से ही कहलवाने के प्रयोग किये गये। परिणामस्वरूप, प्रस्तुति को प्रभावशाली बनाने का सारा दायित्व अभिनेता और निर्देशक के कंधों पर ही आ पड़ा। इसलिए 'कहानी का रंगमंच' में प्रदर्शन-शैली की सादगी, अभिनेता की प्रतिभा (जिसमें वाचिक एवं सात्विक के साथ-साथ आंगिक कुशलता भी अनिवार्य है, क्योंकि मूकाभिनय इस रंगमंच का अनिवार्य तत्व

है) निर्देशक की कल्पनाशीलता तथा दर्शक की जागरूकता ज़रूरी और बुनियादी शर्त बन गयी।"[1]

कहानियों के रूप विधान और कथा-विन्यास को हानि पहुँचाए बिना ध्वनियों और अभिनय-मुद्राओं में ढ़ालने की नयी शैली कहानी के रंगमंच के नाम से अब जानी जाती है। रंगमचीय साक्ष्य से कहानी के भीतर मौजूद व्यंग्यार्थ को दर्शकों तक संप्रेषित करना इस अभियोजन का मूल लक्ष्य होता है। सीधे-सादे प्रस्तुतीकरण के माध्यम से कथा के अर्थ को दर्शकों तक इस प्रकार संप्रेषित करना कि दर्शकों को कहानियाँ देखने के साथ-साथ सुनने का भी अनुभव हो, कहानी के रंगमंच का सृजनात्मक पक्ष है। यह सारा काम किसी विशेष रंग उपकरण की सहायता लिये बिना कहानियों के रंगमंच के द्वारा किया जा सकता है, इसे साबित करने के लिए अब तक ऐसे पचीसों प्रदर्शन किये जा चुके हैं।

देवेन्द्र राज अंकुर के साथ ही राजिन्दरनाथ (निर्मल वर्मा की 'दूसरी दुनिया', 'कव्वे और काला पानी'), ब.व. कारंत (फणीश्वरनाथ रेणु की 'पंचलाइट' श्रीकांत वर्मा की 'अरथी' हरिशंकर परसाई की 'भोलाराम का जीव') सत्यदेव दुबे (निर्मल वर्मा की 'वीक एन्ड', 'धूप का टुकड़ा', डेढ़ इन्च ऊपर') आदि कई निर्देशकों ने कहानी के रंगमंच को आगे बढ़ाया है।

### 5.13.2 उपन्यास का रंगमंच

कहानी के रंगमंच की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रवृत्तियाँ उपन्यास के रंगमंच में दृष्टिगोचर होती हैं। उपन्यास, कहानी से इस अर्थ में भिन्न विधा है कि उसमें कहानी की तुलना में देश, काल और वातावरण का अपेक्षाकृत विस्तार और परिपूर्णता रहती है। इसलिए उपन्यास को रंगमंच पर नाटक के रूप में प्रस्तुत करने का उपक्रम कहानी के रंगमंच की तुलना में सर्वथा भिन्न प्रकार की दिशाएँ और चुनौतियाँ लेकर उपस्थित होता है।

हिन्दी के प्रख्यात उपन्यासों के नाट्य-रूपांतर तैयार करके उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य श्रीमती गिरीश रस्तोगी ने किया है। उनके हिन्दी के दो महत्वपूर्ण उपन्यासों के नाट्य-रूपांतर इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। आचार्य

---

[1] जयदेव तनेजा- हिंदी रंगकर्म : दशा और दिशा, प्र.सं -1994, पृ.102-103

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नामक उपन्यास का इसी नाम से तथा श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' का नाट्य-रूपांतर 'रंगनाथ की वापसी' के नाम से उन्होंने किया है। श्रीमती रस्तोगी यह मानती हैं कि हर साहित्यक विधा और कला माध्यम का अपना निश्चित शिल्प, विशिष्ट शर्तें होती हैं फिर भी विभिन्न साहित्यक विधाओं के संबंध-सूत्र परस्पर एक-दूसरे से जुड़ते भी हैं। उन्होंने उपन्यास के नाट्य-रूपांतर को रचनात्मक स्तर पर एक बड़ी चुनौती माना है क्योंकि इसमें नाट्य-रूपांतरकार को तिहरे दायित्व से जूझना पड़ता है। पहला दायित्व उपन्यास की मूल आत्मा, लेखक के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण तथा सार की रक्षा दूसरा दायित्व उस मूल आत्मा को नाट्य-विधा का संश्लिष्ट स्वाभाविक और उपन्यास के अनुकूल स्वरूप प्रदान करना है तथा तीसरा दायित्व दर्शक, अभिनेता आदि का ध्यान रखते हुए रंगमंच की सीमाओं, शर्तों और आवश्यकताओं के प्रति पूर्णतः सतर्क रहते हुए उस उपन्यास को नाट्य-विधा में उतारने का है।[1]

उपन्यास में वर्णित घटनाओं, स्थितियों, प्रसंगों तथा पात्रों की भीड़-भाड़ को काँट-छाँट कर, उपन्यास की आत्मा को बिना धक्का पहुँचाए, साहित्य और रंगमंच की बुनियादी ज़रूरतों के बीच सन्तुलन रखकर, रचना के मूल संवेदन और अनुभव को दर्शकों तक लेकर जाना एक चुनौती भरा रचनात्मक दायित्व होता है। डॉ. जयदेव तनेजा के अनुसार, "शब्दों तथा उनके संयोजन के बीच व्यक्त-अर्द्धव्यक्त अथवा सांकेतिक अर्थो और व्यक्ति के भीतर तथा बाहर की दुनिया को अभिनेता के शरीर, हाव-भाव, गति-विन्यास, सम्वादों के लय-विधान, दृश्य-बंध, मंच-उपकरण, प्रकाश और ध्वनि के माध्यम से कैसे अभिव्यक्त करें, इसका कोई बना-बनाया फार्मूला नहीं है। उपन्यास में आये वर्णन, विवरण और विश्लेषणों के लम्बे-लम्बे अंशों को रूपान्तरकार एवं निर्देशक नेपथ्य-उद्घोषणा, सूत्रधार की अवतारणा अथवा अन्य किसी नये या विशिष्ट पात्र के स्थूल माध्यम से प्रस्तुत करे या प्रतीक अथवा अन्य किसी सूक्ष्म संकेत-साधन में व्यक्त करें - यह उसकी मौलिक प्रतिभा, दृष्टि, सूझ-बूझ और समझ पर निर्भर करता है। किन्तु रचना की कठिनाई और चुनौति ही सच्चे रचनाकार को सम्मोहित करती है। सम्भवतः यही कारण है कि मौलिक एवं नये

[1] जयदेव तनेजा : हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा, प्र.सं. 1999, पृ.72

नाट्यालेखों की कमी को पूरा करने के लिए हिन्दी रंगकर्मियों ने देश-विदेश के बहुसंख्य उपन्यासों को नाट्यान्तरित करके रंगमंच पर प्रदर्शित किया है।"[1]

उपन्यासों के मंचन में प्रमुखतः दो रास्ते निर्देशकों ने अपनाये हैं। एक तो उपन्यास के मूल रूप में ही बिना नाट्यान्तर किये किया गया प्रस्तुतीकरण, उदा.देवेन्द्र रज अंकुर के निर्देशन में मन्नु भंडारी का 'महाभोज'। दूसरा है उपन्यास के व्यापक फलक को रंगमंच की सीमाओं, तथा शक्तियों को ध्यान में रखते हुए उसका नाट्यान्तर करना, उदा.श्री लाल शुक्ल के 'रंगदरबारी' का गिरीश रस्तोगी द्वारा किया गया नाट्यान्तर, 'रंगनाथ की वापसी'। बी.एम.शाह के निर्देशन में कृष्णा सोबती के 'मित्रों मरजानी' की प्रस्तुति।

उपन्यासों को नाट्य-रूप में लाने की दिशा में गिरीश रस्तोगी, प्रतिभा अग्रवाल, देवेन्द्र राज अंकुर, रंजीत कपूर, भानु भारती आदि रंगकर्मियों का योगदान उल्लेखनीय है।

### 5.13.3 कविता का रंगमंच

कहानी और उपन्यास के रंगमंच से सर्वथा भिन्न विधा कविता के रंगमंच की है। किसी कविता को या कुछ कविताओं को मिलाकर रंगमंच पर प्रस्तुत करने के प्रयास में अनेक प्रकार की चुनौतियाँ और संभावनाएँ रहती हैं। पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी रंगमंच पर प्रतिष्ठित कवियों की कविताओं को प्रस्तुत करने के प्रयास हुए हैं। इस प्रकार के प्रयत्न काव्य-नाटक की प्रस्तुति से भी भिन्न हैं तथा एक विशेष प्रकार की शैली और शिल्प की माँग करते हैं। कविता के रंगमंच से आशय न तो मंच पर कविताओं की स्वर और मुद्राओं के साथ पाठ से है और न उस पर आधारित स्वतंत्र नाट्य-रूपांतर की प्रस्तुति से ही। इसमें किसी कविता या कुछ कविताओं को मिलाकर विशिष्ट पार्श्व ध्वनियों, पात्रों की गतियों, मुद्राओं और उनके समूहों के द्वारा कविता में निहित आशयों को रंगमंचीय भाषा में मूर्त करने का प्रयास किया जाता है।

संस्कृत नाट्य परम्परा से लेकर कविता और रंगमंच का बड़ा पुराना और अन्तरंग सम्बन्ध रहा है। लोक-नाटकों में इनके बहुआयामी सम्बन्ध को साफ तौर से देखा और समझा जा सकता है। पारसी नाटकों में ही नहीं बल्कि भारतेन्दु तथा प्रसाद के नाटकों में भी गीत-संगीत का अपना महत्व था किंतु प्रसाद के बाद यथार्थवाद को अपनानेवाले

[1] जयदेव तनेजा : हिन्दी रंगकर्म : दशा और दिशा, प्र.सं. 1994, पृ.73

समस्या प्रधान नाटक में रंगमंच के काव्य का बहिष्कार किया गया। इप्टा के नाटकों में फिर एक बार गीत-संगीत महत्वपूर्ण बन गया और फिर एक बार काव्य को हिन्दी नाटक में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

समकलीन हिन्दी रंगमंच पर नाटकों में गीतों के उपयोग के साथ ही काव्य-नाटकों के माध्यम से काव्य का उपयोग एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। एक तरफ जहाँ कई काव्य-नाटकों का सफल मंचन हुआ है वहीं दूसरी ओर नाटकीय संभावनाओं से भरपूर कविताओं के प्रभावी प्रदर्शन रंगकर्मियों द्वारा किये गये हैं। धर्मवीर भारती के 'अंधा युग', दुष्यंत कुमार के 'एक कंठ विषपायी', डॉ. लक्ष्मीनारायण लल के 'सूखा सरोवर', नरेश मेहता के 'संशय की एक रात', अज्ञेय के 'उत्तर प्रियदर्शी', भारत भूषण अग्रवाल के 'अग्निलीक' जैसे अनेक मंचीय काव्य-नाटकों में नाटक और कविता के बहुविध पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप देखा जा सकता है जहाँ नाटक के लिए काव्य का इस्तेमाल किया गया।

आम तौर पर कविता पढ़ी या फिर कवि-सम्मेलनों में सुनी जाती है परन्तु अब नाटकीय संभावनाओं से भरपूर कविताओं को रंगकर्मियों द्वारा प्रभावी ढंग से सीधे श्रोता समुदाय तक पहुँचाने की यानी काव्य-पाठ की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। नाटकीय तत्व से भरपूर पंचवटी प्रसंग, राम की शक्तिपूजा (निराला), अँधेरे में(मुक्तिबोध), असाध्य वीणा(अज्ञेय), मोची राम(धूलिल), कुआनो नदी (सर्वेश्वर), आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय), सन्नाटा (भवानी प्रसाद मिश्र) जैसी अनेक कविताओं के प्रभावी मंचन के लिए नाटकीय प्रस्तुतीकरण का उपयोग किया गया। इनके अतिरिक्त विजय सोनी द्वारा मनोशारिरिक शैली में अभिमंचित मुक्तिबोध की लम्बी कविता 'अंधेरे में(आशंका के दीप) गिरीश रस्तोगी के निर्देशन में धर्मवीर भारती की नाट्य कविता 'मुनादी' तथा मुद्राराक्षस के निर्देशन में अज्ञेय की बिम्बात्मक कठिन कविता 'असाध्य वीणा' के रूपान्तरों के साथ-साथ धूमिल की 'मोचीराम' तथा सर्वेश्वर की 'कुआनो नदी' जैसी अनेक कविताओं को भी समसामयिक हिन्दी रंगमंच पर पेश किये गये हैं।

कविताओं को रंगमंच और नाटक में रूपांतरित करने का प्रयास श्रीराम शर्मा की कविताओं पर आधारित अशोक भौमी के काव्य नाटक 'नन्हे कंधे-नन्हे पैर' में देखा जा

सकता है। इस नाटक में श्रीराम शर्मा की विभिन्न कविताओं के साथ-साथ पात्रों के विशिष्ट समूह और उनके बीच में एक बच्चे की उपस्थिति की परिकल्पना, प्रयोग की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। पात्रों का घुटने के बल चलना, उनमें से एक पात्र का कुर्सी बनना और बच्चे का दौड़कर उस पर चढ़ने का प्रयास, दूसरे पात्र का उसी मुद्रा में निश्चल होना, कुर्सी का बार-बार खिसकना और बच्चे का बार-बार नीचे गिरना, दर्शकों का रूमाल टोपी, गुलाब आदि मंच पर फेंकना इत्यादि प्रयोग रंगमंच की दृष्टि से सांकेतिक और अभिव्यंजनापूर्ण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के रंगमंच में जटिल भाव संवेगों और अमूर्त मनःस्थितियों को रंगमंच पर मूर्त किया जाता है। अपनी जटिलता और दुरूहता के कारण तथा अपने विशिष्ट शिल्प और पद्धति के कारण भी यह प्रयास इस प्रबंध में पूर्व चर्चित प्रयोगों से भिन्न है।

## 5.14 एकल नाट्य

हिन्दी रंगमंच पर एकल-प्रदर्शन एक लोकप्रिय एवं उल्लेखनीय प्रयोग की तरह उभरकर आ रहा है। एक नई प्रवृत्ति या परम्परा के रूप में इसका आरम्भ 1996 में 23 से 26 मार्च के बीच राट्रीय नाट्य विद्यालय के दीक्षान्त समारोह के अवसर पर हुआ। नसीरूद्दीन शाह, रत्ना पाठक शाह, पीयूष मिश्रा, आशीष विद्यार्थी, लक्ष्मण देशपाण्डे और पंकज कपूर के एकल-प्रदर्शन हुए और यह संयोग मात्र नहीं है कि चौथे भारत रंग महोत्सच में बारह एकल नाट्य-प्रदर्शन किये गये। इनके अतिरिक्त, दलित लेखक शरन कुमार लिम्बाले की तेजाबी आत्मकथा 'अक्करमाशी' को लोकेश जैन ने और स्टीफन ज्विग की रचना 'एक अनजान औरत का खत' को असिमा भट्ट ने सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया।

आधुनिक हिन्दी रंगमंच पर इसके आरम्भिक प्रयोग का श्रेय सम्भवतः 1975 में देवेन्द्र राज अंकुर के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमण्डल द्वारा प्रस्तुत निर्मल वर्मा की एकालापी कहानियों के 'तीन एकान्त' नामक प्रदर्शन को दिया जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एकल केवल प्रतिभावान, संवेदनशील, अनुभवी, अभिनय-कला में निपुण और सहज-सजग बहुरूपियों की ही विधा है। यह किसी भी अभिनेता के लिए चुनौती ही नहीं कसौटी भी है। "एकल-अभिनेता की मूलभूत पूँजी है, उसकी देह और

आवाज। कभी-कभी वह किसी वस्त्र या वस्तु का बहुविध एवं बहुरूपी रचनात्मक प्रयोग भी करता है। इसलिए एकल को किसी अभिनेता की जन्मजात प्रतिभा, अभ्यासजन्य निपुणता, कल्पनाशीलता, अनुभव की गहराई तथा अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता में निर्मित नट-व्यक्तित्व की कसौटी माना जाता है। यह न्यूनतम से अधिकतम प्रदर्शन-सामर्थ्य की कठिन कला है। इसमें अभिनेता की सफलता-असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह विविध चरित्रों एवं स्थितियों के अनुसार अपनी आवाज़ के घनत्व एवं उतार-चढ़ाव तथा सम्वादों के लहजे-अन्दाज़ के साथ-साथ अपने अंग-प्रत्यंगों के हाव-भावों, गतियों, भंगिमाओं, मुद्राओं और छवियों को कितनी जल्दी, अनायास एवं विश्वसनीय रूप में बदलकर प्रभावशाली ढ़ंग से दर्शकों तक सम्प्रेषित कर पाता है या नहीं ?"[1]

अभिनेता की स्वतन्त्र पहचान की कोशिश के साथ-साथ एकल नाट्य-प्रयोगों की ओर बढ़ते रुझान के पीछे कई और महत्वपूर्ण व्यावहारिक कारण भी हैं। सर्वप्रथम आज के व्यस्त जीवन में रंगकर्म के लिए बहुत सारे प्रतिभाशाली रंगकर्मियों का एक साथ मिलना कठिन कार्य हो गया है। बढ़ती महँगाई में इतने सारे कलाकारों की तनख्वाह, बड़े सेट, वेशभूषा आदि के लिए बहुत पैसा खर्च करना पड़ता है। जब केवल एक या फिर दो कलाकार होते हैं तो पूर्वाभ्यास के लिए अधिक समस्याएँ निर्मित नहीं होती जिसके कारण कई कलाकार इस प्रकार की प्रस्तुतियों की ओर आकर्षित होने लगे हैं। दूसरी बात यह है कि जब लोग कम होते हैं तो खर्चा भी कम होता है साथ ही जगह-जगह जाने में भी आसानी होती है। फिल्म या टेलीविज़न से जुड़े कलाकार अपनी रंगकर्म की भूख मिटाने के लिए एकल प्रस्तुति करने में अधिक रुचि रखते हैं। समय की कमी के कारण वे अन्य कलाकारों के साथ अपने समय को एडजस्ट नहीं कर पाते हैं जिसके कारण उन्हें इस तरह की उन्हीं पर केन्द्रित प्रस्तुतियाँ करने में सुविधा होती है।

हिन्दी रंगकर्म की मौजूदा परिस्थितियों और ज़रूरतों को देखते हुए फिलहाल तो एकल-प्रदर्शनो के विकास एवं विस्तार की काफी सम्भावनाएँ निश्चय ही प्रतीत होती हैं। हिन्दी के कई नाटककारों ने तो बाज़ार की माँग को देखते हुए अपनी रचनात्मकता का मुँह एकल नाट्य लेखन की ओर ही मोड़ दिया है।

---

[1] नया ज्ञानोदय – जयदेव तनेजा-एकल नाट्य : एक से अनेक होने की कला, पृ.95

यह सही है कि एकल प्रस्तुतियों की ओर बढ़ती रंगकर्मियों की रुचि अभिनेता के महत्व को फिर एक बार स्थापित कर रही है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि एकल प्रस्तुतियों को महज आत्मतुष्टि का साधन बनने नहीं देना चाहिए बल्कि इसमें रंगकर्म को, सभी कलाओं के समावेशी माध्यम के रूप में स्थापित करते हुए थिएटर की आत्मा को बरकरार रखने का प्रयास करते रहना चाहिए।

## 5.15 नुक्कड़ नाटक

समकालीन हिन्दी रंगमंच के विकास में नुक्कड़ नाटक एक महत्वपूर्ण प्रयोग रहा है। आज के व्यस्त, भागमभाग से भरी ज़िन्दगी में जहाँ रंगशालाओं में आने के लिए दर्शक के पास बहुत कम समय बचता है वहाँ यह नाटक, अपने संदेश के लिए सीधे दर्शक के पास पहुँच जाता है। सड़क, गली, चौराहा, कहीं भी कोई भी स्थल जहाँ लोग हों, वह नुक्कड़ नाटक की प्रस्तुति के लिए काफी होता है।

नन्दल हितैषी लिखते हैं, "नुक्कड़ नाटक का शाब्दिक अर्थ ही हुआ, वह नाटक जो गाँव, शहर या कस्बे के किसी भी मोड़ पर, किसी चौराहे या नुक्कड़ पर खेला जा सके। जहाँ किसी भी प्रेक्षागृह, परिधान, रूप-सज्जा या मंचदीपन आदि की आवश्यकता नहीं होती। यहीं पर बेहद ज़रूरी हो जाता है कि ऐसे नाटकों की विषयवस्तु भी आम लोगों के बीच से उठाई जाए, उन्हीं की भाषा और उन्हीं के मुहावरे के अनुकूल प्रदर्शन हों।" [1]

सामान्यतः नुक्कड़ नाटकों के अन्तर्गत वे नाटक आते हैं जो सामयिक, सार्थक और उत्तेजक कथ्य के द्वारा जन-जागरण करते हुए, आम आदमी को अन्याय, अत्याचार, शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से किसी भी खुले स्थान पर सामान्य-जन के बीच उन्हीं की भाषा और उन्हीं के मुहावरों में प्रस्तुत होते हैं। इस प्रकार का रंगकर्म इप्टा-आन्दोलन की महत्वपूर्ण उपलब्धि रहा। परन्तु स्वातंत्र्योत्तर काल में मोहभंग की स्थिति के कारण इसका ज्वलंत रूप आठवें दशक में दिखाई दिया। जनवादी विचारधारा से प्रेरित लोगों ने अपनी सामाजिक, राजनीतिक प्रतिबद्धता व्यक्त करने के लिए इस रंगमंच का सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया। "नुक्कड़ नाटकों का प्रारम्भ लगभग 1974 के छात्र-आन्दोलन, और विशेष रूप से आपात-काल के बाद(जब अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता तक छिन गई थी) से माना जा सकता है। 1967 के किसान

[1] कुँवरपाल सिंह (सं)- वर्तमान साहित्य – नन्दल हितैषी- नुक्कड़ नाटक, जुलाई - अगस्त 2000, पृ.196

आन्दोलन ने भी हमारे सोच के स्तर को प्रभावित किया।"[1] "प्रसिद्ध रंगकर्मी सफदर हाश्मी के श्ब्दों में कहें तो 'मूल रूप से नुक्कड़ नाटक विरोध का एक ऐसा संघर्षशील राजनीतिक मंच है जिसका काम

जन-साधारण को आन्दोलित करके 'उन्हें संघर्षरत संगठनों के पीछे लामबन्द करना है।"[2]

नुक्कड़ नाटकों का वर्तमान स्वरूप हमारी लोक-नाट्य परम्परा से प्रभाव ग्रहण करने के साथ-साथ, कहीं-न-कहीं ग्रोटोवस्की, ब्रेख्त और प्रत्यक्षतः बादल सरकार के अन्तरंग रंगमंच की अवधारणा से भी काफी प्रभावित रहा है। बादल सरकार के नाटक 'जुलूस' ने इस आन्दोलन को बढ़ाने और लोकप्रिय बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', शंकर शेष का 'पोस्टर', शरद जोशी का 'एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ', 'अंधों का हाथी' जैसे कई नाटकों के मंचन भी सफलता से नुक्कड़ नाटक के खुले मंच पर प्रदर्शित हुए हैं। आम तौर पर इनके नाटकों के आलेख प्रस्तुति के दौरान या उससे कुछ समय पहले कलाकारों के द्वारा ही तैयार किए जाते हैं, जो किसी न किसी ज़्वलंत समस्या या घटना से जुड़े होते हैं।

नुक्कड़ नाटक को लोकप्रिय बनाने में 'जनम' नाट्य संस्था का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सफदर हाशमी ने नुक्कड़ नाटक के माध्यम से अपनी परिवेशगत प्रतिबद्धता को निभाने का महत्वपूर्ण प्रयास किया जिसके परिणाम के रूप में उन्हें अपनी जान तक गँवानी पडी। 'मशीन', 'औरत', 'गिरगिट' 'जनता पागल हो गई', 'सवा सेर गेहूँ' 'अँधेरे के खिलाफ', 'हमें बोलने दो' आदि नुक्कड़ नाटक काफी प्रभावशाली रहे हैं। दिल्ली के 'जनम', 'निशान्त नाट्य मंच', 'प्रयोग' चण्डीगढ में 'जनवादी रंगमंच', जबलपुर में 'विवेचना', पटना में 'जन नाट्य संघ', आगरा में 'रंगकर्मी', मुम्बई में 'इप्टा आदि छोटे-बड़े शहरों में स्थित रंग-समूहों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है और अभी भी कर रहे हैं। राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधःपतन तथा उदारीकरण, निजीकरण, खुले बाज़ार के इस दौर में नुक्कड़ नाटक सामाजिक प्रबोधन का एक कारगर हथियार सिद्ध हो रहा है।

---

[1] वर्तमान साहित्य – नन्दल हितैषी- नुक्कड़ नाटक, जुलाई - अगस्त 2000, पृ.197

[2] वर्तमान साहित्य – नन्दल हितैषी- नुक्कड़ नाटक, जुलाई - अगस्त 2000, पृ. 196

संक्षेप में वस्तुगत शिल्प तथा रंग शिल्प की दृष्टि से नुक्कड़ नाटक में निम्नलिखित प्रयोगधर्मी तत्व उल्लेख्य हैं :

1. लोकगीतों और समूह गान का बीच-बीच में प्रयोग;
2. सूत्रधार का प्रारंभ में, नाटक के बीच में और अंत में भी दर्शकों से सीधे बातचीत करना
3. शैली की दृष्टि से विशुद्ध अभिधावादी या बेबाक शैली में सीधे-सीधे बात कहने का आग्रह।

यद्यपि उपर्युक्त विशेषताएँ हिंदी के अनेक पूर्व चर्चित नाटकों में भी मिलती हैं, किंतु नुक्कड़ नाटक में इनका प्रतिफलन जिस तरह हुआ है, वह प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से उसे अलग रूप में पहचानने के लिए बाध्य करता है। उदाहरण के लिए दर्शक व पात्र की निकटता का अनुभव हम 'नुक्कड़ नाटक' में जिस तरह करते हैं, वह साहित्यिक दृष्टि से लिखित नाटकों में संभव ही नहीं है। दर्शकों को तत्काल नाटक का हिस्सा बना लेने की क्षमता 'नुक्कड़ नाटक' में भरपूर रहती है। 'सवा सेर गेहूँ' प्रेमचन्द में ब्राह्मण के द्वारा सताया गया मजदूर शंकर उसके कर्ज के बाकी रुपये चुकाने के लिए आसपास खड़े दर्शकों से पैसे माँगने लगता है। नुक्कड़ नाटक जिस ढ़ंग से खेले जाते हैं, उसमें अभिनेता और दर्शक भौतिक दृष्टि से भी एक-दूसरे के इतने निकट खड़े रहते हैं कि इस प्रसंग में दर्शक नाटक की घटना में शरीक होकर शंकर को अपनी जेब से पैसे निकालकर देने लगें तो कोई अस्वाभाविकता नहीं होगी। नुक्कड़ नाटक के अभिनेता अपना मजमा सड़क पार के चौराहों पर कहीं भी लगा देते हैं और ऐसी स्थिति में दर्शकों की भीड़ गोलाकार होकर अभिनेताओं के चारों ओर घेरा बनाकर खड़ी हो सकती है। नुक्कड़ नाटक की यह भौतिक परिस्थिति उसके रंगशिल्प को ही नहीं, समस्त वस्तुगत और शिल्पगत संरचना को प्रभावित करती हैं।

नुक्कड़ नाटक कम-से-कम साधनों में किसी भी स्थान व परिस्थिति में प्रस्तुत किये जाने के लिए तैयार किये जाते हैं। इस स्थिति में भी इनके वस्तुगत और शिल्पगत तंत्रो को अत्यधिक प्रभावित किया है। स्थूल उपादानों या भौतिक साधनों की अपेक्षा देह की मुद्राओं से काम चलाने की प्रवृत्ति इन नाटकों में सर्वत्र देखी जा सकती है। एक ही अभिनेता बिना वेशभूषा, प्रसाधन आदि को बदले क्रमशः कई भूमिकाओं में उतर सकता है। 'औरत' नामक नाटक में कई कामगार महिलाओं की भूमिका एक ही स्त्री पात्र से करायी गयी है। इसके साथ ही इन नाटकों में पात्र वर्ग-प्रतिनिधि भी होते हैं। उदाहरण के

लिए 'जनता पागल हो गयी है' में पुलिस, सरकार, पूँजीपति और जनता-ये चार पात्र प्रस्तुत किये गये हैं जो चार अलग-अलग वर्गों के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार नुक्कड़ नाटक का संपूर्ण तंत्र प्रचलित नाट्य-परंपरा से कुछ अलग हो जाता है। यहाँ एक बुजुर्ग स्त्री छोटी-सी बच्ची की भुमिका कर सकती है जैसा हम 'औरत' नामक नाटक में देखते हैं। चूँकि सारे पात्र प्रायः मंच पर उपस्थित बने रहते हैं इसलिए जिन पात्रों का किसी दृश्य में काम नहीं है, उन्हें दृश्य में शरीक पात्रों से अलग दिखाने के लिए फ्रीज़ या स्थिर मुद्रा का भी प्रयोग इन नाटकों में बार-बार किया जाता है।

निश्चय ही नुक्कड़ नाटक का रंगमंच अपनी सारी सीमाओं के रहते हुए भी हिन्दी रंगमंच की विकास-यात्रा का एक प्रयोग से पूर्ण पड़ाव है। इस रंगमंच ने नाटक को पिछले दो दशकों में रंगशाला की चहारदीवारी से बाहर लाकर जनता के बीच स्थापित कर दिया है, तथा नुक्कड़ नाटकों के दर्शक शहरी और ग्रामीण दोनों वर्गों से हज़ारों की तादाद में हैं। किसी भी अन्य रंगमंच की अपेक्षा नुक्कड़ नाटक का रंगमंच अधिक समकालीन है।

निकर्षतः कह सकते हैं कि नुक्कड़ नाटक का रूप सहज, सरल, बोधगम्य होता है, क्योंकि उसका मूल प्रयोजन सामान्य जन की समस्याओं को उन तक पहुँचाना होता है। इसलिए उसे दुरूहता, बनावटीपन, कृत्रिमता आदि से एकदम परहेज है। लेकिन इसके बाद भी उसका अपना व्याकरण होता है जिसमें स्थान, समय, घटना, स्थिति-परिस्थिति के अनुसार वह अपने को बदलने में किसी प्रकार की हिचक नहीं करता है। उसका रूप पक्ष ही उसे सामान्य-जन तक जोड़ने का सार्थक प्रयास करता है।

## 5.16 निष्कर्ष

भारतीय लोक नाट्य-परंपरा की प्राचीनता, विविधता, शक्ति और समृद्धि निर्विवाद है। लोक नाटक सामान्य जन (कलाकार) द्वारा, सामान्य जन के लिए, अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत, सामान्य जीवन की सहज, स्वाभाविक, अनौपचारिक, नृत्य, गीत और संगीतमय जीवंत एवं लोकरंजक अभिव्यक्ति का नाम है। स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी रंगमंच के निरंतर विकसित होते जाने से प्रयोगशील नाटककारों का ध्यान लोक नाट्य परंपराओं की ओर गया। उन्होंने अपनी रचनाओं में नयापन लाने, रचना का आकर्षण बढ़ाने और नाटक को दर्शक सापेक्ष सहजता प्रदान करने के लिए लोकमंचीय रूढ़ियों और शैलियों को अपनाया। 'हानूश', 'दुलारीबाई', 'बकरी', 'चरणदास चोर' आदि कई ऐसे नाटक हैं जिनमें लोक नाट्य की अनेक शैलियों - नौटंकी, माच, रासलीला,

तमाशा, ख्याल, स्वांग आदि का प्रयोग देखा जा सकता है। लोक कथाओं को नाट्यवस्तु के रूप में स्वीकार कर नाट्य रचना की एक विशिष्ट शैली गढ़ने का प्रयास भी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में किया गया है। अधुनातन नाट्य प्रवृत्तियों के अंतर्गत नुक्कड़ नाटक, कहानी का रंगमंच, उपन्यास का रंगमच, कविता का रंगमंच आदि को लिया गया है जिनके कारण नाट्यालेखन, निर्देशन, अभिनय, दृश्य-विधान, वेश-भूषा, रूप-सज्जा, रंग-संगीत, रंग-दीपन जैसी रंगमंचीय कलाओं में कई बदलाव देखने को मिलते हैं जो हिंदी रंगमंच के विकास की प्रक्रिया के सूचक हैं।

.....ꕥꕥꕥ.....

# उपसंहार

नाटक आम आदमी की संवेदना है। यह एक ऐसी विधा है जिसके ज़रिए बहुत कुछ कहा जाता है और जिसमें लेखक तथा अन्य जो भी भूमिका अदा करते हैं, वे अपना सीधा संबन्ध दर्शकों के साथ जोड़ते हैं। ये जो आदान-प्रदान है, वह किसी और विधा में नहीं मिलता है। नाटक के अलावा तीव्र अभिव्यक्ति का और दूसरा माध्यम नहीं है। इसमें एक प्रकार से सीधा संप्रेषण होता है जो कि टी.वी.,सिनेमा से तो संभव ही नहीं है। नाटक में तो हम बिल्कुल अलग तरह से जीवन का तादात्म्य अनुभव करते हैं। सहृदय सामाजिक प्रेक्षक को रस में डुबोने के लिए रंगमंच को प्रयोगशाला अवश्य बनना पड़ता है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटकों में प्रयोग उतना ही हो जितना नाटक के भीतर उसकी माँग है। प्रयोग के नाम पर किया गया प्रयोग कदापि सफ़ल नहीं हो सकता। रंगमंच सापेक्ष होने के कारण नाटक में जनसंप्रेषणीयता अधिक है जिससे इसका महत्व और दायित्व अन्य विधाओं की तुलना में विशिष्ट हो जाता है और बढ़ भी जाता है। इसलिए नाटक में प्रयोगधर्मिता को नाटक एवं नाटककार दोनों की ही शक्ति और सामर्थ्य की महत्वपूर्ण कसौटी माना जा सकता है। वास्तव में नाटक का अस्तित्व ही अपने प्रयोगात्मक धरातल पर है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटककारों ने विभिन्न नाट्य प्रयोगों के द्वारा नाटकत्व की नवीन खोज की और हिन्दी रंगमंच को कथ्य एवं अभिव्यक्ति के धरातल पर आम जनता के निकट लाते हुए उसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर की पहचान भी दी। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य प्रयोग और उसकी संभावनाओं पर विचार करते समय पूर्ववर्ती नाट्य परंपरा को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। नाटक ऐसी कला है जो परंपरा निष्ठ है, और जो राष्ट्र के शताब्दियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, राजनीतिक संस्कारों की वाहक है तथा विभिन्न युगों में नए-नए सामाजिक संदर्भों में अपने इसी पारंपरिक स्वरूप से शक्ति ग्रहण करती है।वस्तुतः प्रयोगधर्मी कलकार वह नहीं है जो अतीत की महत्वपुर्ण परंपराओं से अनभिज्ञ है, बल्कि वह है जो उन परम्पराओं के महत्व के साथ-साथ उनकी सीमाओं को भी जानता है। सृजनात्मक कलाकार या रंगकर्मी अतीत के कलात्मक और परंपरागत शैलियों की ऊर्जा से प्रभावित होकर नाटक को नया भावबोध, नया उन्मेष, नया मुहावरा और नई दिशा प्रदान करते हुए उनमें से जो कुछ भी सारवान होता है उसे समसामयिक रचना कार्य का अंग बना लेते हैं। हिन्दी नाट्य के लिए प्रयोग की आधार भूमि प्रदान

करनेवाली इन मंचीय परंपराओं को दो मुख्य शीर्षकों के अंतर्गत समेट सकते हैं- (1) पाश्चात्य नाट्य परंपरा (2) भारतीय नाट्य परंपरा । इन परंपराओं से नवीन संस्कार प्राप्त कर स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य का स्वरूप निर्मित हुआ है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच को बहुआयामी स्वरूप प्रदान करने में इप्टा, संगीत नाटक अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसी कई संस्थाओं का योगदान स्तुत्य है। भारतीय रंगमंच के लिए रा.ना.वि. की सबसे बडी देन, वहाँ से प्रशिक्षण प्राप्त विद्यार्थियों के रूप में रही जिन्होंने अपने मौलिक प्रयोगों के द्वारा रंगकर्म के विभिन्न आयामों को तलाशने का प्रयास किया। ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, रामगोपाल बजाज, मोहनमहर्षि, एम.के.रैना, बंसी कौल, उत्तरा बावरकर, बलराज पंडित, मनोहरसिंह, सुरेखा सीकरी, रतनथियम, नसीरूद्दीन शाह, ब.व.कारंत, रंजीत कपूर, पंकज कपूर, देवेंद्रराज अंकुर, ओमपुरी, प्रसन्ना, सीमा बिश्वास, हेमा सिंह, हिमानी शिवपुरी जैसी रंग-हस्तियाँ नाट्य विद्यालय की देन हैं।

बीसवीं शताब्दी का यह दौर भारतीय रंग-जीवन का एक महत्वपूर्ण पडाव रहा जहाँ से विभिन्न छोटी बडी नाट्य-संस्थाओं, नयी रंग-दृष्टि के निर्देशकों, कुशल अभिनेताओं, रंगशिल्पियों के साथ-साथ रंग समीक्षा के क्षेत्र में गंभीरता से कार्य करनेवाले लोगों के प्रमाणिक प्रयासों के कारण हिन्दी रंग-जगत को उसकी प्रतिष्ठा, उसके संपूर्ण स्वरूप में फिर एक बार प्राप्त हुई । कथ्य, शिल्प और रंग प्रस्तुतीकरण के क्षेत्र में इस दौरान कई महत्वपूर्ण प्रयोग हुए, जिनसे स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी रंगमंच का एक प्रौढ़ एवं प्रभावी रूप उभर आया।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य साहित्य ने विरासत में मिली रंगपरंपराओं - संस्कृत, लोक, पाश्चात्य नाट्य, भारतेंदु युग से लेकर प्रसादोत्तर युग तक की विभिन्न रंगपद्धतियों और शैलियों से प्रभाव ग्रहण कर नाटकों में जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति खींचने तथा विविध नाट्यप्रयोगों द्वारा एक सशक्त नाट्यरूप को तलाशने का प्रयास किया है। वस्तुतः हिंदी नाट्यसाहित्य में प्रयोगशीलता का वास्तविक उन्मेष स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही हुआ। इस युग में नाटककार ने कथानक और चरित्र-सृष्टि में प्राचीन मानदंडों के कठघरे से निकलकर युगीन जीवन को अपना कथ्य बनाया जिसकी संपूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए

उसे रचना के पुरातन मानदंड असमर्थ प्रतीत हुए। इसीलिए शिल्प के नये उपादानों की खोज में उसने कभी विसंगत नाट्यधारा का आश्रय लिया तो कभी प्राचीन परंपरा का पुनः अन्वेषण किया। इस नाट्यान्वेषण की तीन प्रमुख दिशाएँ हैं-

1) पुराण और इतिहास का(मिथक) समकालीन संदर्भों में उपयोग ।
2) पाश्चात्य विचारधरा तथा नाट्य परंपरा का, विशेषतः यथार्थवादी और अस्तित्ववादी एवं विसंगत रंगपरंपरा का समसामयिक भारतीय जीवन संदर्भों में सार्थक उपयोग।
3) लोकनाट्य की रूढ़ियों, परंपराओं और रंगदृष्टि का आधुनिक संदर्भों में प्रयोग।

समकालीन जीवन के तनावों, दबावों और जटिल मानवीय संबंधों को प्रस्तुत करने के लिए अनेक नाट्य रूपों की खोज स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने की है। काव्य नाटक और मिथकीय नाटक - इस सृजन प्रक्रिया के नवीन नाट्य रूप है। काव्य नाटक नाट्य साहित्य का वह रूप है जिसमें काव्यत्व और नाट्यत्व का एकीकरण है। काव्य नाटक ने हिंदी नाटक की भाषा, संवाद तथा संपूर्ण शिल्प को एक नयी गरिमा से आवेष्टित किया है। इसका सुंदर उदाहरण धर्मवीर भारती के 'अंधायुग', डॉ. विनय के 'एक प्रश्न मृत्यु', प्रभातकुमार भट्टाचार्य के 'काठमहल' और दिविक रमेश के 'खण्ड-खण्ड अग्नि' आदि कई नाटकों में देखा जा सकता है। मिथक अतीत से जुड़ने का उपक्रम एवं इतिहास को समझने का द्वार है। काव्यनाटक और मिथकीय नाटक में सीधे-सीधे समकालीन परिवेश का चित्रण प्रायः नहीं किया जाता है । वह किसी मिथकीय अथवा ऐतिहासिक वृत्त की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत करता है जो समकालीन संदर्भों में प्रासंगिक हो। 'पहला राजा', 'एक और द्रोणाचार्य', 'कथा एक कंस की', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' आदि नाटकों में समकालीन जीवन की अनेक समस्याओं और विसंगतियों को इतिहास-पुराण के आश्रय में अभिव्यक्त किया गया है।

अस्तित्ववाद मानव जीवन को उसकी यथार्थता में देखने का दर्शन है। यह मनुष्य के अस्तित्व में विश्वास करता है और परिवेश एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उसके संघर्ष और विकास का विवेचन करता है। यह किसी मनुष्य की सत्ता को ही अंतिम सत्य

मानता है। व्यक्ति के अकेलेपन, आत्मनिर्वासन तथा उसके वरण की स्वतंत्रता के संदर्भ में उसके द्वारा अर्थवत्ता की खोज आदि विभिन्न संदर्भों का चित्रण 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे', 'द्रौपदी', 'समय संदर्भ' जैसे नाटकों में किया गया है। इन नाटकों के कथ्य, नाट्यशिल्प और रंगमंचीय स्तर पर किये गये प्रयोगों के द्वारा नयी-नयी संभावनाएँ उजागर होती हैं। इनके प्रयोग अनेक समकालीन और नये नाटककारों के लिए प्रेरणा स्रोत बने हैं। इसीप्रकार असंगत नाटक की परंपरा जीवन और जगत में अंतर्निहित विसंगति और अतार्किकता के बोध से प्रारंभ हुई है। असंगत नाटककारों की मान्यता है कि आज का व्याक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनी ज़िंदगी की निरर्थकता को जबर्दस्ती ढ़ो रहा है। मशीनी विकास, जीवन में बढ़ते अर्थ के महत्व और विनाश के आतंक ने उसे निराशा, भय, कुण्ठा और संत्रास से भर दिया है। असंगत नाटक ने एक नया जीवन दर्शन अपनाया जिसका प्रभाव नाटक और रंगमंच के रूपबंध और वस्तु विन्यास पर पड़ा। असंगत नाटक के पात्र जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में थके-हारे, निराश और टूटे हुए होते हैं। अतः जीवन मूल्यों में इन्हें आस्था नहीं होती। इनकी भाषा हरकत की भाषा है। 'लोटन', 'तेंदुआ', 'रोशनी एक नदी है', 'अमृत पुत्र' आदि नाटकों द्वारा जीवन की विसंगतियों को दर्शाया गया है। जीवन के प्रति एक अलग और पूर्णतः नये दृष्टिकोण से हमारा परिचय कराने तथा नाटकीय भाषा के विभिन्न पहलुओं को खोजने की दृष्टि से इन नाटकों के प्रयोगों को सार्थक कहा जा सकता है।

भारतीय लोक नाट्य-परंपरा की प्राचीनता, विविधता, शक्ति और समृद्धि निर्विवाद है। लोक नाटक सामान्य जन (कलाकार) द्वारा, सामान्य जन के लिए, अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत, सामान्य जीवन की सहज, स्वाभाविक, अनौपचारिक, नृत्य, गीत और संगीतमय जीवंत एवं लोकरंजक अभिव्यक्ति का नाम है। स्वतंत्रता के पश्चात् हिंदी रंगमंच के निरंतर विकसित होते जाने से प्रयोगशील नाटककारों का ध्यान लोक नाट्य परंपराओं की ओर गया। उन्होंने अपनी रचनाओं में नयापन लाने, रचना का आकर्षण बढ़ाने और नाटक को दर्शक सापेक्ष सहजता प्रदान करने के लिए लोकमंचीय रूढ़ियों और शैलियों को अपनाया। 'हानूश', 'दुलारीबाइ', 'बकरी', 'चरणदास चोर' आदि कई ऐसे नाटक हैं जिनमें लोक नाट्य की अनेक शैलियों - नौटंकी, माच, रासलीला,

तमाशा, ख्याल, स्वांग आदि का प्रयोग देखा जा सकता है। लोक कथाओं को नाट्यवस्तु के रूप में स्वीकार कर नाट्य रचना की एक विशिष्ट शैली गढ़ने का प्रयास भी स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों में किया गया है। अधुनातन नाट्य प्रवृत्तियों के अंतर्गत नुक्कड़ नाटक, कहानी का रंगमंच, उपन्यास का रंगमच, कविता का रंगमंच आदि को लिया गया है जिनके कारण नाट्यालेखन, निर्देशन, अभिनय, दृश्य-विधान, वेश-भूषा, रूप-सज्जा, रंग-संगीत, रंग-दीपन जैसी रंगमंचीय कलाओं में कई बदलाव देखने को मिलते हैं जो हिंदी रंगमंच के विकास की प्रक्रिया के सूचक हैं।

इसप्रकार प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक का परिदृश्य वैविध्यमय और संभावनापूर्ण है। नाटककारों ने कथ्यगत, शिल्पगत और रंगमंचीय तीनों ही स्तर पर सार्थक प्रयोग किए हैं। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य साहित्य स्वतंत्रता एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद निरंतर नवीन आयामों और संदर्भों में ढ़लता गया है जो प्रयोग का इतिहास होते हुए भी परंपरा के परिष्कृत रूप से विमुख नहीं हुआ है और यही कारण है कि अधुनातन नाट्यधर्मी, लोक,संस्कृत, पाश्चात्य परंपराओं के बीच एक नवीन नाट्य रूप की खोज कर रहा है। यह एक ओर प्रयोग के महत्व एवं व्यापक अस्तित्व का उद्घोषक है तो दूसरी ओर परंपराओं के मूल्यों का वाचक भी है। इसकी सत्ता एवं अस्तित्व को नकारना असंभव प्रतीत होता है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य के ये सभी रूप परस्पर रचनात्मक आदान-प्रदान कर अपने रूप को अधिक उन्नत, अधिक प्रयोगधर्मी, अधिक संप्रेषणीय, अधिक आधुनिक, अधिक भारतीय और अधिक वैश्विक बना सकते हैं।

.....ꕥꕥꕥ.....

# संदर्भ ग्रंथ-सूची

# संदर्भ ग्रंथ-सूची

## नाटक


1. जगदीश्चंद्र माथुर — पहला राजा
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-1980
2. दयाप्रकाश सिन्हा — कथा एक कंस की
   राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण-1992
3. दिविका रमेश — खण्ड-खण्ड अग्नि
   वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली-1994
4. धर्मवीर भारती — अंधा युग
   किताब महल, नयी दिल्ली, संस्करण-2002
5. प्रभातकुमार भट्टाचार्य — काठ महल
   लोकभारती प्रकाशन्म, इलाहाबाद,1988
6. भुवनेश्वर प्रसाद — कारवाँ तथा अन्य एकांकी
   लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1994
7. भीष्म साहनी — हानूश
   राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण-1980
8. मोहन राकेश — आधे अधूरे
   राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण-1993
9. मोहन राकेश — लहरों के राजहंस
   राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण-1963
10. मणि मधुकर — रस गंधर्व
    राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण-1975
11. मणि मधुकर — दुलारीबाई
    लिपि प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1978
12. मुद्राराक्षस — तिलचट्टा
    संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण 1973

13. मुद्राराक्षस — योर्स फेथफुली
राजेश प्रकाशन, दिल्ली

14. मुद्राराक्षस — तेन्दुआ
राजेश प्रकाशन, दिल्ली,प्रथम संस्करण 1975

15. लक्ष्मीकान्त वर्मा — रोशनी एक नदी है
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1974

16. लक्ष्मीनारायण लाल — मादा कैक्टस
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली,
पहला संस्करण-1975

17. लक्ष्मीनारायण लाल — व्यक्तिगत
राजपाल एंड संज, दिल्ली, पहला संस्करण-1975

18. विजय तेंदुलकर — घासीराम कोतवाल(अनुवादक वसंतदेव)
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण -2007

19. विपिनकुमार अग्रवाल — लोटन
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्रथम संस्करण-1974

20. विपिनकुमार अग्रवाल — खोये हुए आदमी की खोज
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद,
प्रथम संस्करण 1980

21. विनय — एक प्रश्न मृत्यु
भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली,
प्रथम संस्करण- 1985

22. शंकर शेष — एक और द्रोणाचार्य
परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 2004

23. डॉ. सत्यव्रत सिन्हा — अमृत पुत्र
लोकभारति प्रकाशन, इलाहाबाद-1974

24. सर्वेश्वरदयालसक्सेना बकरी
लिपि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1999

25. सुरेंद्र वर्मा तीन नाटक
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1999

26. सुरेंद्र वर्मा आठवाँ सर्ग,
राधाकृष्ण प्रकाशन,नयी दिल्ली,
प्रथम संस्करण -1981

27. सुरेंद्र वर्मा सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली ि
करणतक राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली,
प्रथम संस्करण -1975

28. हमीदुल्ला उलझी आकृतियाँ
भारतीय ज्ञानपीठ,नयी दिल्ली, 1973

## आलोचनात्मक ग्रंथ

1. अमृतराय सहचिंतन
सर्जना प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1967

2. श्री अवधेशचंद्र गुप्त स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक में विचार तत्व
भावना प्रकाशन दिल्ली, 1984

3. अज्ञेय भवन्ती
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र.सं. 1972

4. अज्ञेय त्रिशंकु
सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर, 1973

5. डॉ इंद्रनाथ मदान आधुनिकता और हिंदी साहित्य,
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1973

6. डॉ इंद्रनाथ मदान (संपादक) हिंदी नाटक और रंगमंच : पहचान और परख
लिपि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1975

7. डॉ कमलिनी मेहता नाटक और यथार्थवाद
नागरी प्रचारिणी सभा, प्रथम संस्करण -संवत् 2025

8. श्रीकृष्ण दास — हमारी नाट्य - परंपरा
राजकमल प्रकाशन,दिल्ली, प्रथम संस्करण 1956

9. कृष्ण सिंहल — हदी गीति नाट्य
भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण-1964

10. डॉ कुसुम कुमार — हिंदी नाट्य चिंतन,
साहित्य भारती, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1977

11. डॉ गोपीनाथ तिवारी — भारतेंदु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशिलन
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1971

12. डॉ गिरिजासिंह — हिंदी नाटकों की शिल्पविधि का विकास
लोक भारतीप्रकाशन, इलाहाबाद, 1970

13. डॉ गिरीश रस्तोगी — मोहन राकेश और उनके नाटक
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2002

14. डॉ गिरीश रस्तोगी — बीसवीं शताब्दी का हिन्दी नाटक और रंगमंच
भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, संस्करण-2004

15. डॉ गिरीश रस्तोगी — हिन्दी नाटक सिद्धांत और विवेचन
ग्रंथम प्रकाशन, कानपुर-1967

16. डॉगिरीश रस्तोगी — समकालीन हिन्दी नाटककार
इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण -1982

17. डॉ गिरीश रस्तोगी — हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण- 2002

18. डॉ गिरीश रस्तोगी — समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना
हरियाना साहित्य अकादमी चण्डीगढ़ - 1990

19. डॉ गोविंद चातक — आधुनिक नाटक का मसीहा : मोहन राकेश,
इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण -1975

20. डॉ गोविंद चातक — नाटककार जगदीशचंद्र माथुर,
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण- 1973

21. डॉ गोविंद चातक — आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीयसंरचना
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1975

22. डॉ गोविंद चातक — रंगमंच : कला और दृष्टि
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 1998

23. डॉ गोविंद चातक — नाटक की साहित्यिक संरचना
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, 1994

24. डॉ चंदूलाल दुबे — हिंदी रंगमंच का इतिहास
जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण- 1984

25. जगन्नाथप्रसाद शर्मा — प्रसाद के नाटकों का शस्त्रीय अध्ययन
सरस्वती मंदिर , छठा संस्करण- संवत् 2023

26. जयदेव तनेजा — आज के हिन्दी रंग नाटक
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1980

27. जयदेव तनेजा — हिन्दी नाटक आज-कल
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2000

28. जयदेव तनेजा — समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच
तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1978

29. जयशंकर प्रसाद — काव्य कला और अन्य निबंध,
भारती भडार, संवत् 2015

30. डॉं दशरथ ओझा — हिंदी नाटक उद्‌भव और विकास
राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण 2003

31. डॉं दशरथ ओझा — हिंदी नाटक कोश
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली 1975

32. डॉं दशरथ ओझा — आज का हिंदी नाटक - प्रगति और प्रभाव
राजपाल एंड संस, दिल्ली,प्रथम संस्करण- 1974

33. डॉ दुर्गा दीक्षित — नाटक और नाट्य- शैलियाँ
साहित्य भवन, इलाहाबाद,प्रथम संस्करण- 1975

34. डॉ नगेंद्र — आधुनिक हिंदी नाटक,
नेशनलपब्लिशिंग हाउस,नयी दिल्ली- 1970

35. डॉ नगेंद्र — भारतीय नाट्य साहित्य (सं)
एस चाँद एंड कंपनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1968

36. डॉ नगेंद्र — मिथक और साहित्य
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,नयी दिल्ली,ए 1975

37. नरनारायण राय — आधुनिक हिंदी नाट्यालोचन की नयी भूमिका,
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली,प्रथम संस्करण- 1981

38. नरनारायण राय — नया नाटक उद्भव और विकास
कादंबरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2001

39. नरनारायण राय — आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक
भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1979

40. नरनारायण राय (सं) — असंगत नाटक और रंगमंच
वाणी प्रकाशन, दिल्ली,प्रथम संस्करण- 1981

41. नरनारायण राय — नटरंग विवेक
सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली,प्रथम संस्करण- 1981

42. नंददुलारे वाजपेयी — नया साहित्य : नए प्रश्न
रामजी वाजपेयी, विद्यामंदिर,वाराणसी, 1963

43. नेमिचंद्र जैन — रंग दर्शन,
राधकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, , 1993

44. पाण्डेय विनय भूषण — हिंदी के नये नाटकों में प्रयोगतत्त्व
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

45. डॉ प्रेमनारायण शुक्ल — भारतेंदु की नाट्य कला,
ग्रंथम, कानपुर, द्वितीय संस्करण, 1972

46. डॉ पुष्पा बंसल — मोहन राकेश का नाट्य-साहित्य
सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, पंचम संस्करण 1976

47. डॉ बच्चन सिंह — हिंदी नाटक
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967

48. बलवंत गार्गी — रंगमंच
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1968

49. डॉ भानुदेव शुक्ल — प्रसाद का नाट्य साहित्य,
मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ,प्रथम संस्करण- 1978

50. भारतरत्न भार्गव — रंग हबीब
राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली, 2006

51. डॉ मान्धाता ओझा — हिंदी समस्या नाटक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1968

52. रमेश गौतम (सं) — दिल्ली का हिन्दी नाटक और रंगमंच
अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली, 1968

53. डॉ रामगोपालसिंह चौहान — हिंदी नाटक सिद्धांत और समीक्षा
प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1956

54. डॉ रामसेवक सिंह — एब्सर्ड नाट्य परंपरा
अक्षर प्रकाशन,दिल्ली,प्रथम संस्करण- 1970

55. डॉ राजेश्वरी देवलिया — काव्य नाटकों का अभिव्यंजना शिल्प
साहित्य संगम ,इलाहाबाद,प्रथम संस्करण, 1997

56. लक्ष्मीकांत वर्मा — नयी कविता के प्रतिमान
भारतीप्रेस प्रकाशन,इलाहाबाद, संवत् 2014

57. डॉ लक्ष्मीनारायण लाल — आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच
साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1973

58. डॉ लक्ष्मीराय — आधुनिक हिंदी नाटक चरित्र-सृष्टि के आयाम
तक्षशिला प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1979

59. डॉ विजय बापट — प्रसादोत्तर नाटय साहित्य
मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी,भोपाल, 1971

60. विद्यानिवास मिश्र — परंपरा बन्धन नहीं,
राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1976

61. वीरेंद्र नारायण — रंगकर्म,
आलेख प्रकाशन, दिल्ली,प्रथम संस्करण- 1979

62. डॉ विनयकुमार — हिंदी के समस्या नाटक
नीलाभ प्रकाशन, प्रथम संस्करण- 1968

63. डॉ विश्वनाथमिश्र — हिंदी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव,
लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद, 1966

64. डॉ शांति मलिक — हिंदी नाटकों की शिल्पविधि का विकास,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,नयी दिल्ली, 1971

65. शिवदानसिंह चौहान — आलोचना के मान
स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 1958

66. शेल्डान चेनी — रंगमंच, अनु श्रीकृष्णदास,
हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ

67. डॉ श्याम परमार — लोकधर्मी नाट्य परंपरा
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, 1959

68. डॉ श्याम परमार — भारतीय लोक साहित्य
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.1954

69. डॉ श्रीपति शर्मा — हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1961

70. सत्यव्रती त्रिपाठी — आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोगधर्मिता
राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण1991

71. सेठ गोविंददास — नाट्यकला मीमांसा
सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्यप्रदेश द्वारा शासन
साहित्य परिषद् के लिए प्रकाशित, 1961

72. डॉ सोमनाथ गुप्त — हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास
हिंदी भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1958

73. सुरेश गौतम — अंधायुग एक सृजनात्मक उपलब्धि
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण- 1973

74. डॉ सुंदरलाल कथूरिया — समकालीन हिंदी नाटक
पंकज पुस्तक मंदिर - प्रथम संस्करण1992

75. डॉ सुशीला धीर — भारतेंदुयुगीन हिंदी नाटक,
मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी,भोपाल, 1971

76. डॉ सुषमा बेदी — हिन्दी नाट्य प्रयोग सन्दर्भ में
अराग प्रकाशन, दिल्ली, 1984

77. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी साहित्य सहचर
नैवेद्य निकेतन, वारणसी,प्रथम संस्करण 1968

78. डॉ ज्ञानसिंह मान आधुनिक साहित्य दिशा और दृष्टि,
दिनमान प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण- 1980

## संस्कृत ग्रंथ

शब्दकल्पद्रुम : राजा राधाकांत देव बहादुर
चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी,
तृतीय संस्करण-संवत् 2024

सिद्धांत कौमुदी : भट्टोजी दीक्षित

मनुस्मृति : डॉ रामचन्द्रवर्मा शास्त्री (टीकाकार)
विद्या विहार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000

## पत्र-पत्रिकाएँ

नटरंग अंक 1 से 50, संपादक- नेमिचंद्रजैन, आई-47, जंगपुरा एक्सटेशन, नयी दिल्ली

रंगप्रसंग अंक 1 से 39, संपादक- प्रयाग शुक्ल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली

सम्मेलन पत्रिका संपादक-विभूति मिश्र , अंक-3, सन् 2005

वागर्थ संपादक-प्रभाकर श्रोत्रिय, जून 1998

## अंग्रेज़ी पुस्तकें :

Allardice Nicoll The Theory of DramA, Deaba House,
Raymond Williams Key words
Fontana Press, London, 1976
John Hayward (Editor) Selected ProsePenguin books-1953
Allardyce Nicoll World Drama,Harcourt Brace, NewYork-1950
Allan S Downer (Editor) American DramaToronto Press, 1965
Martin Esslin The Theatre of Absurd,Butter & TannerLtd,
England-1955
Jean Paul Sartre Existentialism and Human Emotions
Philosophical Library, New York

## कोश ग्रंथ


बृहत् हिन्दी कोश — कालिका प्रसाद (सं)
ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी
सप्तम् परिवर्धित संस्करण-1992

वैज्ञानिक परिभाषा कोश — डॉ बदरीनाथ कपूर
शब्द लोक प्रकाशन, बनारस-1965

हिन्दी साहित्य कोश — धीरेंद्र वर्मा (संपादक)
प्रथम संस्करण-संवत् 2015

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर — रामचंद्र वर्मा (सं)
नागरी प्रचारणी सभा,काशी,प्रथम संस्करण1989

The Oxford English Dictionary : Oxford University press, Reprinted-1969


.....ꕥꕥꕥ.....